

# अकादेमी के अन्य हिन्दी-प्रकाशन

( मूल भाषाओं के नाम कोष्ठक में अंकित हैं )

१. भारतीय कविता (१६५३)	(भारत की १४ भाषाओं की कविताओं का लिप्यन्तर और अनुवाद)	५.००
२. केरल सिंह (मलयालम)	का० मा० पणिनकर	३.००
३. भगवान् बुद्ध (मराठी)	धर्मनिन्द कोसम्बी	५.००
४. कांदोद् (फ्रेंच)	वाल्तेयर	२.००
५. दो सेर धान (मलयालम)	तकपी शिवशंकर पिल्लै	२.००
६. मिट्टी का पुतला (उड़िया)	कालिन्दीचरण पाणिग्राही	२.००
७. आरण्यक (बंगला)	विभूतिभूषण बघोपाध्याय	४.००
८. गेंजी की कहानी (जापानी)	मुरासा की शिकाबू	४.५०
९. आरोग्य निकेतन (बंगला)	ताराशंकर बघोपाध्याय	६.००
१०. अमृत संतान (उड़िया)	गोपीनाथ महान्ती	१२.००
११. आदमखोर (पंजाबी)	नानकगिह	५.००
१२. वैदिक संस्कृति का विकास (मराठी)	सहमण शास्त्री जोशी	५.५०
१३. क्या यही सभ्यता है ? (बंगला)	भाइकेल मधुसूदन दत्त	१.५०
१४. नारायण राव (तेलुगु)	अडवि बापिराजू	६.००
१५. आज का भारतीय साहित्य (भारत की १६ भाषाओं के साहित्य का परिचय)		७.००
१६. जीवो (गुजराती)	पद्मातान पटेल	४.५०
१७. भग्नमूर्ति (मराठी)	अनिल	१.००
१८. एकोत्तर शती (बंगला)	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	८.००
१९. चिलिका (उड़िया)	राधानाथ राय	१.५०
२०. मिरातुल श्रुतस (उर्दू)	नजीर अहमद	५.००
२१. छे बीघा जमीन (उड़िया)	फकीर मोहन सेनापति	३.००
२२. मोरी ब्रिटिया (असमिया)	रजनीकान्त बरदलै	२.००
२३. मट्टुघारे (मलयालम)	तकपी शिवशंकर पिल्लै	३.५०

# का सामाजिक इतिहास

मूल तेलुगु लेखक  
सुरवरम् प्रताप रेड्डी

अनुवादक  
भार० वैकट राव,



साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

**Andhra Ka Samajik Itihasa** Translation in Hindi of the Telugu  
'Andhrula Sanghika Charitramu' by Suravaram Pratap Reddi,  
*Sahitya Akademi, New Delhi (1959). Price : Rs 6.00*

प्रकाशक :

© साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

एकाधिकारी वितरक :

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, दिल्ली

मुद्रक :

श्री गोपीनाथ सेठ,  
नवीन प्रेस, दिल्ली

मूल्य :

छं रुपये

## क्रम

मूमिका	१
द्वितीय संस्करण	१७
हमारे दावे-वरदादे	२१
पूर्व-चानुस्य युग	२५
कार्त्तवीर्य युग	४५
रेड्डी राजाओं का युग	१०८
विजयनगर साम्राज्य-काल	२१०
विजयनगर राज	२६७
सन् १६६० से १७५७ तक	३७२
सन् १७५७ से १८५७ तक	३६६
हिन्दुस्तानी तलवार	४१३



## भूमिका

“हिन्दू जाति प्राचीन काल से आध्यात्मिक विचार-मागर में ही गीते सगाती रही है। उसने सासारिक विषयो में कभी कोई सरोकार नहीं रखा। इसीलिए हिन्दुस्तान में इतिहास को लेखबद्ध करने की प्रथा ही नहीं रही।” पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हम पर इस प्रकार के साधन प्रायः ही नगाये जाते रहे हैं। बिल्कुल बाद में उन्हींके अनुमन्धानों से हमे अनगिनत ऐतिहासिक ग्रन्थों की उपलब्धि हुई। अनेक पुस्तकों का पता तो उन विद्वानों को आज तक भी नहीं लग सका है। मुस्लिम विजेताओं ने यहाँ के मन्दिरों, विद्यापीठों और पुस्तकालयों को नष्ट-धष्ट करके यहाँ की पुस्तकें भी आग के हवाले कर दी थीं। इस प्रकार हमारे इतिहास को अपार हानि पहुँची है।

पाश्चात्य लेखकों ने आज तक जितने भी इतिहास लिखे हैं, वे राजाओं और सम्राटों की कहानियाँ-मात्र हैं। अष्टम हेनरी की सात पत्नियाँ थीं, तीस वर्षीय युद्ध अमुक-अमुक तिथियों में लड़ा गया, हम की साम्राज्ञी कैथरिन के इनने उपपति थे, हिन्दुस्तान के इतिहास में सन १७४८ ईसवी महत्त्वपूर्ण है, इत्यादि-इत्यादि। अपने इतिहासों में वे प्रायः ऐसी ही बातें लिखेंगे और इनमें कोई भूल उन्हें स्वीकार्य नहीं होगी। पर प्रश्न तो यह है कि इन बातों में हमें क्या लाभ? राजाओं-महाराजाओं के युद्धों, पदग्रन्थों और उत्पत्तियों ने तो समाज की हानि ही की है, कोई लाभ नहीं। इस तथ्य को पाश्चात्य पंडितों ने अभी-अभी पहचाना है। अब वे सामाजिक इतिहास को अधिक महत्त्व देने लगे हैं।

इतिहास के लिखने की सही पद्धति भी यही है।

राजाओं और सम्राटों के इतिहास का हमारे साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। पर सामाजिक इतिहास पूर्णतया हम ही से सम्बद्ध है। यह हमारे पूर्वजों का वह इतिहास है जो हमें बताता है कि हमारे दादे-परदादे कैसे लोग थे, हमारी नानियाँ-दादियाँ कैसे गहने पहनती थी, हमारे पुरखे कितने-कितने देवताओं को पूजते थे, उनकी मान्यताएँ क्या थी, कैसे खेल-कूद या नाच-गानों में उनका मनोरञ्जन होता था, राजा-महाराजा जब लूट-मार मचाते तो वे अपनी जान-माल की रक्षा कैसे करते थे, देश में अकाल पड़ने पर अपने प्राण कैसे बचाते थे, किन रोगों का क्या इलाज करते थे, किन कलाओं में उनकी अभिरुचि थी, किन देशों से उनके व्यापार-सम्बन्ध थे, आदि-आदि। अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में ये और ऐसी अनेक बातें जानने की उत्सुकता हमें होती है। जाने वाली पीढ़ियाँ हमारे बारे में भी ऐसी ही बातें जानना चाहेंगी।

माराण यह कि सामाजिक इतिहास ही हमारा मच्चा इतिहास है। इसमें हमारा भी स्थान है। अलाउद्दीन गिलजी, औरंगजेब या आसफ-जाह के इतिहास से हमारा यह इतिहास गौरव कैसे गिना जा सकता है? उनकी तरह उत्पात न मचाने के कारण हम तो शायद उनमें लाग दरजा भरे हैं।

सामाजिक इतिहास मानव-मात्र का इतिहास है। जनता का इतिहास है। हमारी अपनी कहानी है। यह तो हमें सामाजिक इतिहास ही बता मरता है कि अमुक भती में जन-साधारण का जीवन कैसा रहा? यह तो हमें सामाजिक इतिहास ही बता मरता है कि अमुक पीढ़ी के हमारे पुरखों के घर-बार, गान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, खेल-कूद, नाच-गान आदि क्या और कैसे थे, उन्होंने कैसे-कैसे गुण भोगे, क्या-क्या दुःख भोगे, हमारे लिए क्या-क्या अस्वास्थ्य-बुराईयाँ छोड़ गये आदि। और ये ही वे बातें हैं जो हमारे जीवन के निर्माण में सहायक होनी हैं।

अंगरेजों ने अपने देश का सामाजिक इतिहास आज से कोई दो सौ साल पहले ही लिख डाला था। तब से अब तक इस विषय पर बहुत-से व्यक्तियों ने कितनी ही सारी पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों में इस बात को प्रकट करने वाले ऐसे कितने ही चित्र भरे पड़े हैं कि पाँच सौ पन्ने के उनके पुराने कैमरे लोग ये, उनके उद्यम क्या ये, आदि। उन्होंने अपनी जानि के ही नहीं, ममार-मर की अन्य जानियों के इतिहास भी प्रकाशित किये हैं। भारत के भील आदि आदिम जातियों के बारे में, अफ्रीका के बाफिरो आदि के बारे में, प्रसन्न महामागर के कनिष्य द्वीपों के निवासी नर-भक्षी राजसो के बारे में, उत्तरी ध्रुव की छमाही रात और छमाही दिन के एक दिवनीय वर्ष-चक्र में जीवन बिताने वाले एस्किमो लोगों के बारे में और ऐसी ही जन-महल जानियों के बारे में जानकारी पाने के लिए हमें उसी 'आग्न भाषा शारदनीरदेंदु शारदा' की उपासना करनी होगी। अंगरेजी माहिन्थ में सर्वज्ञता है। उसमें सभी चीजें भरी पड़ी हैं। 'स्टोरी आफ आल नेशन्स' के नाम से नसार की समस्त मानव-जातियों का इतिहास अंगरेजी में ही लिखा गया है। अनेक सचित्र मपुटो में इस महान् ग्रन्थ को प्रकाशित हुए जमाना गुजर चुका है। लेकिन हमने और नहीं तो क्या बम-मे-बम उमीको तेलुगु भाषा में प्रकाशित किया ? क्या भारत की किसी और भाषा में उसका अनुवाद हुआ ?

हमारे स्कूलों में छात्रों को जो इतिहास पढ़ाये जाते हैं, उनमें अनेक कल्प भरे पड़े हैं। मानो दूध में ही विषमुष्टि का योग हो। अंगरेजों ने जो इतिहास लिखे, वे अपनी महत्ता और हमारी लज्जा दरमाने हुए लिये। पहले भी 'फरिश्ता' नाम के मुसलमान लेखक ने अपने इतिहास में झूठ की भरमार कर दी थी। बाबर ने भी हिन्दुत्व-विरोधी भावना में लिखा। उस्मानिया विश्वविद्यालय में छोटी बस्ताओं से बी० ए० तब के छात्र श्री हाशमी द्वारा लिखी हिन्दू-द्वेष में भरी हिन्दुस्तान की तारीखें पढ़ने आ रहे हैं। स्वधर्माभिमानों हिन्दू-लेखकों ने भी यही दग घपनाया और निश्चय मारा कि हमारे पूर्वज ममार में सर्वश्रेष्ठ थे। ये सभी



इतिहास पक्षपात से ओत-प्रोत हैं और इनमें से कोई भी हमारे आदर का अधिकारी नहीं। इधर कुछ राष्ट्रीय नेताओं ने उन इतिहासों की आलोचना करके देश का सच्चा इतिहास लिखने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया है। गुप्त-काल का इतिहास प्रकाशित भी हुआ है। यह एक आदर्श इतिहास है। इसी साल यानी सन् १९४६ ईसवी में प्रकाशित श्री मल्लपल्लि सोमशेखर शर्मा की मगरेडी पुस्तक 'रेड्डी राज्य-इतिहास' (हिस्ट्री ऑफ रेड्डी किंगडम्स) भी इसी कोटि का ग्रन्थ-रत्न है।

भारत के गोंड, भील, मुण्डा, सयाल, नागा आदि आदिवासियों के सम्बन्ध में भी कई पुस्तकें हैं। यस्टन नामक लेखक ने 'दक्षिण भारत के जात-पात और कबीले' (कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑफ साउथ इंडिया) के नाम से एक ग्रन्थ सात भागों में प्रकाशित किया। सिराजुल हसन ने हैदराबाद की जातियों पर एक बड़ी-सी पोथी छपवाई। एक बंगाली मन्त्रज्जन ने 'प्राचीन भारत के कबीले' (ट्राइब्स ऑफ एश्वेंट इंडिया) नाम की पुस्तक लिखी। इस प्रकार कुछ पुस्तकें प्रकाशित तो हुईं, किन्तु देश के समग्र सामाजिक इतिहास पर कुछ लिखने का कष्ट किसी ने भी नहीं किया।

तेलुगु भाषा में तो सामाजिक इतिहास है ही नहीं। लगता है, कुछ व्यक्ति लिखने का निश्चय कर चुके हैं। चिलुङ्ग वीरभद्रराव जी ने अपने ग्राम्य-इतिहास के 'बेलमा वीरल्ला चरिय' (बेलम वीरो का इतिहास) नामक अध्याय के आरम्भ में लिखा है -

"ग्राम्य जाति का सामाजिक इतिहास अलग से प्रकाशित हो रहा है। इसीलिए यहाँ इस विषय में (अर्थात् बेलमा जाति के विषय में) विस्तृत चर्चा नहीं की जा रही।"

यह सामाजिक इतिहास उन्होंने शायद लिखा ही नहीं। सम्भवतः निम्न का विचार उनका अवश्य था। इन सिद्धहस्त वीरभद्र जी की पुस्तक हमने नहीं देखी। इसी तरह कई और मन्त्रज्जन भी सामाजिक इतिहास लिखना चाहते थे। 'ग्राम्य इतिहास अनुसन्धान मण्डल' के मुख-

१२ में श्री नेलदूर वेंटरमण्य्या का एक अंगरेजी निबन्ध मन् १९३८ ई० छपा था। इस पुस्तक का चौथा अध्याय लिखते समय मुझे इस निबन्ध को देखने का अवसर मिला था। उन्होंने भी उन्ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, जिन्हें मैंने अपनी पुस्तक में अपनाया था। श्री मल्लपल्लि ने भी 'रेड्डी राज्य-इतिहास' के सामाजिक इतिहास वाले भाग में इसी पद्धति का अनुसरण किया है। श्री पेंदपाटि एरंनार्य ने 'मल्लण चरित्र काव्य' की भूमिका में लिखा है :

“कृष्णराय के बाद आन्ध्र जाति का पौरव-पराक्रम ज्यों-ज्यों क्षीण होता गया, त्यों-त्यों लोगों की सांस्कृतिक अभिरुचि भी कुण्ठित होती गई। उस समय कोई वंसे उत्कृष्ट काव्य का सृजन तो नहीं हुआ, पर जो भी हुआ, वह उस काल के सामाजिक जीवन तथा जनता की रुचियों का वास्तविक प्रतिबिम्ब है। इस दृष्टि से देखने पर यह बात हमारे लिए स्पष्ट हो जायगी कि रचना चाहे जिस किसी भी कवि की क्यों न हो, उसे सुरक्षित रखना हमारा पावन कर्त्तव्य है।”

हमारे पूर्वजों के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में बहुतों ने, विशेषतः 'श्रीढाभिराममु' के आधार पर निबन्ध लिखे हैं। किन्तु आन्ध्र जाति का समग्र इतिहास अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया। सन् १९२६ ई० में हैदराबाद के 'मुजाना' नामक मासिक पत्र में मैंने एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था, 'तेनालि रामकृष्ण के समय आन्ध्र जाति का सामाजिक जीवन'। उसमें मैंने केवल 'पादुरग माहात्म्यमु' में वर्णित विषयों की ही विवेचना समय तथा संदर्भ के आधार पर की थी और इस सम्बन्ध में अपने विचार लिखे थे। यही पद्धति मुझे ठीक जैसी। उसी लीक पर चलकर मैंने आन्ध्र के सामाजिक जीवन पर यदा-कदा और भी कई लेख लिखे। ये लेख 'कृष्णराय कालीन सामाजिक इतिहास', 'कदरीपति कालीन सामाजिक इतिहास', 'रेड्डी-युगीन सामाजिक इतिहास', 'आन्ध्र दत्तकुमार चरित्रमु द्वारा भूचित आन्ध्र देश का सामाजिक इतिहास' आदि शीर्षकों से छपे। प्रस्तुत पुस्तक उन्ही लेखों

का परिणाम है।

बारह वर्ष पहले ग्रान्ध महासभा के वार्षिक अधिवेशन में एक विवाद उठा था कि 'ग्रान्ध जाति का पृथक् सामाजिक इतिहास क्यों ? भारतीय हिन्दू संस्कृति से ग्रान्ध संस्कृति कोई भिन्न थोड़े ही है ?' इसी मिलसिले में सन् १९३७ में 'ग्रान्ध संस्कृति' शीर्षक मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें मैंने लिखा था :

“ग्रान्धस्वभावाभावा च नात्पस्य तपसः फलम् ।”

यह उक्ति तमिळ पंडित श्री अय्यय (रु)<sup>१</sup> दीक्षित की है। इन प्रख्यात तमिळ विद्वान् ने ग्राज से कोई तीन सौ वर्ष पहले ही ग्रान्धस्व की भिन्नता का अनुभव कर लिया था। 'संस्कृति' का अर्थ है 'नागरिकता' (सभ्यता), साहित्य, ललित कला, 'सभ्यता' (सदाचार) तथा दैनंदिन अभ्युन्नति के अन्व अनेक उत्तम गुणों के खेल में उत्पन्न विनिष्टता। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रान्ध जाति की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है। किसी ग्रान्ध, तमिल, बंगाली या पठान को देखते ही यह पता चल जाता है कि कौन क्या है ? गंगा क्यों होता है ? विनिष्ट घेघ्र-भूषा में ही तो ? तभी तो 'सर्वत्र भाषावागनुशासन' ने कहा है कि : स्वस्थान घेघ्रभाषाभिमतताम्संतो रसप्रबुध धियः। ग्रान्ध जाति में उनकी अपनी भाषा, उस भाषा की विनिष्टता, उसके अपने विचार, शिल्प, कला, लोक-गीत, लोक-गाथाएँ, मान्यताएँ, सामाजिक परम्पराएँ आदि ध्वनित कर ली जायें तो ग्रान्ध का ग्रान्धत्व कहाँ रह जाता है ? फिर तो वह कल ही जगन्नी जानियों की श्रेणी में जा खड़ी होगी। अन्य जानियों की उत्तम कलाएँ अपनाकर भी उन्हें अपने रंग में रँग लेना और गया रूप दे देना ही सभ्यता की निशानी है। विजयनगर के सम्राट् और मदुरा तथा तंजौर के नायर राजाओं ने हिन्दू-मुस्लिम शिल्प-कला के मेल में ग्रान्ध-शिल्प का विकास किया था। ग्रान्धों ने अपनी भाषा १. तमिळ में नामों के आगे आदरार्थक 'रु' प्रत्यय लगता है।

का मिठास घोलकर 'वर्णाटिक संगीत' के नाम से विख्यात संगीत-नला को पूरे दक्षिण भारत में फैला दिया। केरल के कथावल्ली नृत्य, गुजरात के गर्भ नृत्य<sup>१</sup>, उत्तर भारत की रामलीला और बल्यक नृत्य, असम के मणिपुरी नृत्य आदि विविध वैविध्यों से युक्त नृत्य-नलाओं ने जिस प्रकार भारत के विविध प्रदेशों में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है, उसी प्रकार आन्ध्र में भी कूचिपूडि भागवतों द्वारा परिरक्षित 'भागवत नृत्य' की बला अपना विविध स्थान रखती है। बरगल जिले में रामप्प 'गुडि' (मंदिर) के नृत्य-गिल्प जायसेनानी की हृति 'नृत्य-रत्नाकर' के मजीब उदाहरण हैं।

सभी हिन्दू-पर्व एक-जैसे नहीं होते। उत्तर वालों के लिए वसंत पंचमी और होली प्रत्येकाभिमान (ज्ञास) पर्व हैं, तो तमिलनाडु में 'पोगल्' का पर्व प्रधान है। वैसे ही आन्ध्र में भी 'उगादि' (चैत सुदी प्रणिपदा) और 'एम्वाकै' (जिठ पूनम) बड़े पर्व हैं।

भारत के विविध प्रदेशों में विविध खेल खेले जाते हैं। 'उप्पनै वट्टेलाट' (नमक चोर) और चिल्लगोडे (गिल्मी-डडा) तेलगों की रचि के खेल हैं। नाचनै सोम ने कहा है : "उप्पनै वट्टे खेलने टुए यादव नमक लायेंगे"<sup>२</sup> 'पुलिङ्गदमु' (शिर-बकरी) और दोम्मरि (नट) के खेल भी आन्ध्र के ही हैं।

ये ही वे कुछ विचार हैं, जो मैंने तब लिखे थे। मेरे उन विचारों में अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि वे धाज और भी अधिक दृढ़ हो गए हैं।

हिमालय से कन्याकुमारी तक हमें पग-पग पर विभिन्न भाषा-भाषियों में भिन्नता मिलेगी। मलयाली, तमिल, मराठी, मारवाटी, पंजाबी, दगानी, मक्की वेश-भूषा अलग है। भाषा सबकी भिन्न है। आहार-विहार सबके पृथक्-पृथक् हैं। मलयाली को चावल तथा नारियल

१. गरवा।

२. उप्पु—नमक।

के सिवाय और कुछ भी नहीं रचता । तमिळ के लिए भात के साथ इमली-मानी चाहिए । महाराष्ट्र की ज्वार प्रसिद्ध है । बंगाली को मछली-भात अधिक भाता है । काश्मीर का ब्राह्मण भी मांस के बिना तृप्त नहीं होता । इस तरह के अनेक कारणों में ग्रान्थ की भी अपनी एक अलग सम्यता है । इसमें इन्कार नहीं किया जा सकता ।

राजाओं-महाराजाओं के राज्य-विस्तार पर लिखना सरल है । किन्तु सारे समाज के इतिहास पर कलम उठाना कठिन काम है । इसके लिए आवश्यक सामग्री का अभाव है । सारस्वत (साहित्य), शासन (शिला-लेख), 'कैफियतें' (स्थानीय लेखाएँ), विदेही धानियों के सम्मरण, शिल्प, चित्रकारी, सिक्के, कहावतें, इतर वाङ्मय (अन्यभाषीय साहित्य) की सूचनाएँ दानपत्र, लोकोक्तियाँ, लोक-गाथाएँ, लोक-गीत, पुरातत्त्व सम्हालय, प्राचीन अवशेष आदि वस्तुएँ ही सामाजिक इतिहास को जानने के लिए काम की चीजें होती हैं ।

वाक्य-प्रबन्धों में से १० प्रतिशत तो सामाजिक इतिहास के लिए निर्धनक होते हैं । पुराण तथा मध्यकालीन साहित्य भी हमारे काम की वस्तु नहीं । ऐसे बितने ही महाकवि हैं जो 'धनु-चरित्र' और 'मनु चरित्र'-जैसी महान् कृतियाँ छोड़ गए हैं, पर ऐसी कृतियाँ इस काम में सहायक नहीं हो सकती ।

“केळी नटद्गेह केकिकेकारवीन्मेयबु चेवुल देनिपुलु धितुक ।”  
कविकर्णरसायनम् ।

अर्थात्

“केलि-नाच नाच रहे पातल मयूरों के  
उन्मेष प्राप्त मिष्ट केका-रव  
ढाल-ढाल जाते हैं कानों के कुहरों में  
मधुर-मधुर मधु के मारक घासक ।”

पर यह वर्षा-वर्णन हमारे किस काम का ? इसके विपरीत इसी वर्षा ऋतु के सम्बन्ध में :

“चरवाहे घ्वाले शिला-खण्ड शाय्या पर  
सोये ‘गोंगडि’ ओढ़े ‘बंदार’ बिछाकर ।”<sup>१</sup>

जैसे वर्णन हमारे लिए बड़े ही महत्व के हैं। इसी प्रकार :

“काविरंग<sup>२</sup> घवलांशुक के आभोग भेद कर  
रक्तिमांशुमय कांति नितंबों को ज्यों बाहर  
बह्म-मठल के पार आ रही हो छन-छनकर ।”

‘मनु चरित्र’ के इस वर्णन को तो हम ठीक से समझ भी नहीं पाते ।<sup>३</sup> किन्तु इसी विषय पर ‘शुक सप्तनि’ का यह वर्णन देखिए :

“अभी-अभी घुतकर धाई उजली साड़ी-सी भलमल  
किनारियों पर टोंके, आब से टलमल, नव मुक्ता बल  
पद-नख-संक्ति-प्रभा को झुक-झुक कर सलाम करते हैं ।”

मुन्दरी का चित्र माँलो के आगे स्पष्ट खिच जाता है और उस समय की युवतियों के वैभव का बखान करने लगता है।

कभी-कभी तो ऐसा होता है कि थोपे-का-थोपा पड़ जाइए, पर काम की बातें बड़ी कठिनाई से एकाध मिल गई तो मिल गई, और बस।

सामाजिक इतिहास की दृष्टि से देखिए तो अनेक ग्रन्थों के प्रणेता

## १. शुक सप्तनि ।

गोंगडि : चरवाहों का कंबल । एक धीरे सपेटकर सिर पर डाल लेते हैं, दूसरा टलनों तक लटकता रहता है ।

बंदार ? बंदा । अयसूखी पसियाँ घुनकर बिछाने पर बड़ी आराम-बेह होती हैं ।

## २. काविरंगु : अत्यंत ही हल्के लाल रंग का कपड़ा, जिसे आग्र्य महिलाएँ आज भी पहनती हैं ।

## ३. इसलिये कि वर्णन हिमात्यवासिनी वरूथिनी का है । उसका रक्तिम गीरा रंग तो ठीक, पर यह विशिष्ट आग्र्य पहनाया समझ में नहीं आता ।

वूचिमंचि तिम्मकवि की रचनाओं से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। 'वमु चरित्र' और 'मनु चरित्र' की अपेक्षा ताळळेंपाकें चित्रव्रा का द्विपद 'परमयोगीविलासमु' ही वही अधिक उपयोगी टहलता है। इसमें एक भी बड़ा समास नहीं मिलता। यद्यपि कविता में प्रौढ़ता नहीं है और दौली जटिल है, तथापि उसके अन्दर जो विवरण भिन्नता है, वह हमारे सामाजिक इतिहास के लिए बड़े ही महत्व का है।

“कल्पान्तदुर्वास्त कसुपान्तक स्वान्त दुर्वार वल्लिकी नोर्वंदश्चु।”

जबकिता ने 'विक्रमाकं चरित्र' में इस प्रकार अपने 'चवकनि-वदुप्यमु' (प्रकाश पाटिरम) का परिचय तो दिया है, पर इस पर 'प्रलयानि वर्षा' से हमारा कोई भी काम नहीं बनता। मेनिन कोरवि गोपराजु की 'दाविशतमालभजिका' हमारे सामाजिक इतिहास के लिए बहुत ही उपयोगी है।

इस प्रकार हमें अपने साहित्य का मथन करना होगा। 'दाविशतमालभजिका', 'शुक मत्तनि', 'पडिताराध्य', 'वरावपुराणमु', 'कीडाभिराममु' आदि में भाये हुए बहुत सारे शब्द हमारे शब्द-कोशों में नहीं मिलते। इसमें सामाजिक इतिहास लिखने में कठिनाई पड़ती है। ऐसा तो समझना ही नहीं चाहिए कि कृत्स्न शब्दों के अर्थ नहीं भी मिले तो क्या बिगड़ता है। प्राचीन कवियों ने इन प्रादेशिक शब्दों का प्रयोग ठीक ऐसे ही स्थलों पर किया है जहाँ उन्हें स्थानीय रहन-सहन और आचार-विचार की दरसानी अभीष्ट था। इसलिए ऐसे सभी शब्दों के अर्थ जानना आवश्यक है।

जिला-जैमों से केवल पर्व, दान, माप, तोन, धाय, सौमार्ण, आदि ही मालूम हो सकती हैं। स्थानिक वाक्यांशों में अधिकांश तो कल्पित कहानियाँ होती हैं, जो अल्पुक्ति में भरी होती हैं। कावलीय युग तथा विजयनगर मम्लातों के शासन-काल में जो विदेशी यात्री, व्यापारी या राजदूत यहाँ भाये थे, उनके मस्मरणों में बड़ी महायत्ना मिलती है। पर उन्होंने जो-कुछ भी निरग छोड़ा है, वह सब-श-सब ज्यों-का-र्यों

मर मान लिया जाने के योग्य नहीं है। जैने, एक यूरोपीय यात्री ने लिखा है कि "विजयनगर के महाराजा चूहों, बिलियो घोर छिपकलियों तक को खा जाने थे।" मना बतलाइये, इन कथन पर हम कैसे विश्वास कर सकते हैं ? यह तो सफेद झूठ है। इसी तरह क्रिस्ता के इतिहास में भी झूठ की भरमार है। 'गंगादास प्रताप दिलासम्' नामक संस्कृत-नाटक में लिखा है कि द्वितीय देवराय के मरते ही उड़ीसा के राजा और बहमनी मुल्तान ने मिलकर विजयनगर पर चढ़ाई की, पर मल्लिकार्जुन ने उन्हें मार नगाया। परन्तु क्रिस्ता ने इसका उल्लेख तक नहीं किया है।<sup>१</sup> बल्कि फरिस्ता ने तो इसके विपरीत यहाँ तक लिखा है कि देवराय ने हारकर मुल्ह कर ली और अपनी बेटी मुल्तान के साथ ब्याह दी। पर इन बात को अन्य किसी भी देशी-विदेशी इतिहासकार ने नहीं लिखा। न तो समकालीन कवियों ने कुछ लिखा, और न परबतियों ने। किसी भी 'कैफियत' (स्पानीय लेखा) के अन्दर यह बात नहीं मिलती। किसी कहानी या कहावन में भी इसकी सूचना नहीं है।

उन समय के चित्रों में कुछ नष्टायना मिल सकती थी, लेकिन वे भी मुसलमानों के हाथों में पड़कर नष्ट हो गए। इन बात के कई प्रमाण हैं कि क्या राजा, क्या रंक और क्या रानी, क्या मानी (बेग्या) विजयनगर में सभी अपनी दीवारों पर विदेशी यात्रियों और जंगली जानवरों के चित्र लगाए रखते थे। मगर वे राक्ष-भवन अब कहाँ हैं। विजयी मुल्तानों ने उन्हें मिट्टी में मिचवा डाला। हमारी तीन चौथाई चित्रकारी भी नामोश हो चुकी है। बरंगन की बेग्याओं के घरों में भी चित्रगानाएँ होती थी। अब उन पुराने बरंगन का नाम-भर ही बच रहा है।

पुराने लोह-भीनों जो एकत्र करने की चेष्टा कदाचित् ही किसी ने की हो। 'तंदान ब्याघो'<sup>२</sup> का भी किसी ने कोई आदर नहीं किया। पण्डित यह हट्टा है कि उनमें यदि कुछ 'ताब्बिनाक' की कविता है तो

१. एन० बे० अय्यंगर, 'एन्सैट इंडिया' जिस्ट २, पृष्ठ ४०।

२. 'घल्हा'-जैसी गेय धीरगाथाएँ।



कुछ जंगम कथाकारों<sup>१</sup> की अपनी निजी तुकबंदियाँ और कल्पनाएँ भी हैं। बया ग्रन्थों ने और बया बिज्ञो ने, जिसे जैसा सूझा, गा सुनाया।

पुराने सिकके तो किसी ने बटोरे ही नहीं। इस दिशा में सरकार ने कुछ अवश्य किया है, जिससे कम-से-कम, कुछ का तो हम देख सकें। बल्कि कुछ को पहचाना भी जा सका।

कुछ दिन हुए, मैंने 'कृष्णरायकालीन सामाजिक इतिहास' दीपक एक लेख लिखा था। उसके लिए मैंने 'ग्राम्यतः माल्यदे' को साधुगत्त अच्छी तरह पढ़ा था। सरकारीन ग्रन्थ कवियों की कृतियाँ भी पूरी तरह देख डाली थी। उन्हें पढ़ते समय जो बातें मुझे सूझती जाती, उन्हें नोट करता जाता था। फिर सालेटोर की अंगरेजी पुस्तक 'विजयनगर राज्य का सामाजिक इतिहास' के दोनों भाग पढ़े। इस अंगरेजी पुस्तक में मेरे नोट की बातों की पुष्टि हुई। बल्कि मेरे सफलन में कुछ अधिक ही विषयों का समावेश था। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सालेटोर तेलुगू भाषा से अनभिज्ञ थे।

"उदयाचल के ऊपर निर्झरत 'संगड'<sup>२</sup> को  
उतर रहा शशि धर्मवान, मालेण्ड चढ़ रहा,  
मानो शोण वर्मा मृगमण्डित मल्लभूमि में  
काल भल्ल चरमाय स्कंध पर गदा धर रहा  
दूजे कंधे से उतार, प्राची सध्यातप  
से अजण्ड ब्रह्माण्ड रत्निमा में निलर रहा।"<sup>३</sup>

प्राची सध्या (प्रातःकाल) के इस वर्णन के आधार पर मैंने निगा कि उन दिनों अखाडों का प्रचलन था, अखाडों में लाल मिट्टी भर दी जाती थी, उनमें 'मंगतोल' धादि व्यायाम-साधन रमे होने थे और उनमें पहलवान 'मगडि' लड़ा करते थे। विदेशी यात्रियों ने लिखा ही है

१. लोक-गीतों के रचने या गाने वालों।

२. संगड—एक विशेष प्रकार की कुश्ती।

३. 'मनु चरित्रम्', ३-५८।

कि विजयनगर के महाराजा कृष्णदेवराय स्वयं भी नित्य तेल की मालिश कराने और पहलवानों से कुस्ती लड़ा करने थे। प्रातःकाल के उक्त वर्णन की हमारी यह ध्याख्या विदेशियों के विवरण में मेल खाती है। इसी प्रकार हमें विविध कवि-कृतियों से अपने काम की बातें निकाल लेनी होंगी।

जिन वाक्यों में सामाजिक इतिहास की सामग्री प्राप्त हो सकती है, उनमें प्रायः प्राञ्चलिक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। बद्रितोषनि की 'शुक् सप्तनि' के कोई भी शब्द हमारे कोशों में नहीं हैं। (मैंने 'मूर्यरायाग्र-निघण्टु' नहीं देखा, इसलिए मेरा यह मन्तव्य उम पर लागू नहीं होगा।) 'शुक् सप्तनि' के उक्त शब्दों के लिए मुझे कटपा जनस्तपुरमु के निवासियों में पूछ-ताछ करनी पड़ी। इसी प्रकार 'चन्द्रोत्तर जनकमु' के व्यावहारिक (जनपद) शब्दों को मेलनूरवासी ही समझ सकते हैं। 'भाषीय दड-कमु' के शब्द बनूँस वालों के लिए सरल होंगे। 'द्वात्रिंशत्सालभजिका' का सम्बन्ध तेलगाना से है। 'श्रीदाभिराममु' के शब्दों के लिए कृष्णा जिले के लोग सहायक हो सकते हैं। पाल्कुरिकि सोमनाथ तथा नन्नेचोडु कवि द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दों के अर्थ बता पाना तो किसी के भी बराबर का रोग नहीं।

तात्पर्य यह है कि प्रांतीय प्राबन्धकों द्वारा प्रयुक्त ऐसे पदों (प्राञ्चलिक शब्दों) की एक सूची तैयार करके, 'भारती'-जैसे मासिक पत्रों या 'भान्प्र मारस्वन परिषत्तु'-जैसी संस्थाओं की धोर में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करके, यह घोषणा की जानी चाहिए कि जिन्हें जो शब्द मालूम हों, वे उनके अर्थ लिख भेजें। इससे बाल के गर्भ में समाविष्ट कितने ही सुन्दर भाव-भाषित शब्दों का उद्धार हो जायगा। कोशकारों ने तो मानो कमम खा रक्खी है कि वे पुस्तकों के बाहर के शब्द छुएँगे ही नहीं। इस नीति के कारण उनका धर्म पर्याप्त फलप्रद सिद्ध नहीं हो पाता। 'मूर्यरायाग्रनिघण्टु' पर लगभग दो पीढ़ियों से काम हो रहा है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके कोशकारों की व्यावहारिक (जनपदीय)

शब्द-मान से ही कोई बिड़-सी हो। इस कारण हमें यह कहना ही पड़ता है कि उनके प्रयासों से भी हमें यथेष्ट लाभ नहीं हो पायगा। चाहे जो भी शब्द-कोश क्यों न हो, जब तक उसमें चानू जनपदीय शब्दों का समावेश न होया, तब तक वह कोश अपूर्ण ही रहेगा।

हमारे सामाजिक इतिहास के लिए काम की तेलुगु पुस्तकें ये हैं :

१. पाल्कुरिक सोमनाथ . 'वसवपुराणमु', 'पडिताराध्यचरित्रमु'।
२. श्रीनाथ (गुल्लभराय) 'श्रीडाभिराधमु'। ३ श्रीनाथ (या कोई और ?) . 'पल्लाटि वीरचरित्रमु'। ४. वीररवि गोपराजु 'द्वानिगतसाल-भजिज्जमु'। ५ कृष्णदेवराय . 'आमुक्तमाल्यद'। ६ ताळ्ळपाकें तिर-वेंगळनाथ : 'द्विपद परमयोगोविलासमु'। ७ मारगु तम्पय्य 'वैजयन्ती-विलासमु'। ८ वादरीपति . 'शुरु सतनि'। ९ बेंरटनायकवि 'पञ्च-सत्रमु'। १०. शतको में वेमनों, चन्द्रशेखर, मुक्कुटेश्वर, रामनिग, शर-भाक, वेणुगोपाल, वृषाधिप, मिहादिनारनिह और वेंकटेश गुड्डलचन्नो आदि शतक। ११. 'भागीयदटकमु'। १२ 'एनुगुल वीरम्बामि वासीयात्रो'। १३. 'वादुरगविजयमु', 'श्रीवाळहस्तिमाहात्म्यमु', श्रीनाथुषी 'चादुडुलु' आदि पुस्तकों की भूमिकाओं में भी कुछ-कुछ सहायता मिल सकती है।

शब्द रत्नाकर निघटुकार श्री बहुजनपल्लि सीतारामाचार्य ने कवियों की मर्यादा का निर्गम करते हुए उन्हें छ श्रेणियों में विभक्त किया है। उक्त कृतियों में से 'पडिताराध्यचरित्रमु', 'वसवपुराणमु', 'वैजयन्ती-विलासमु' और 'शुरु सतनि' को उन्होंने १वीं श्रेणी में रखा है तथा 'द्वानिगतसालभजिज्जमु' और 'आमुक्तमाल्यद' को चौथी श्रेणी में रखा है।

कुछ पुस्तकें उनके समय में प्रकाशित नहीं हुई थीं। हुई होंगी तो उन्हें कम-से-कम १वाँ श्रेणी अवश्य मिली होती। 'वविजनरजनमु', 'वविगुंरसायनमु', 'जैमिनीभारतमु', 'रामान्युदयमु', 'विजयार्चचरित्र', 'विष्णुपुराणमु', 'मनु चरित्र', 'वसु चरित्र' आदि पुस्तकें सामाजिक इति-

हास के लिए अनुपयोगी है। इन सबको उन्होंने तीसरी थैली में रखा है।

‘नैषधमु’, ‘राघवपांडवीयमु’,<sup>१</sup> ‘हरिश्चन्द्रोपाख्यानमु’,<sup>२</sup> ‘नलोपाख्यानमु’ तथा इन-जैमी और भी अनेक पुस्तकें ऐसी हैं जिन्हें पढ़ने के लिए अमृत-ताजन की एकाध डिविया, अमृतघारा की एकाध गींशी, बहुत मारे शब्द-कोश आदि लेकर बैठने पर भी वेदम<sup>३</sup> को पाम बिठा रखना जरूरी होता है। हमारे आचार्य श्री ने इन पुस्तकों को दूसरी या तीसरी थैली में रखा है।

सामाजिक जीवन पर यदा-कदा लिखे गए मेरे लेखों को पढ़कर कुछ मित्रों ने सन् १९२९ ईसवी में, ‘ग्राम्थ मारम्भन परिपत्तु’ की स्थापना के अवसर पर, आप्रह किया था कि मैं सामाजिक इतिहास को पुस्तक रूप में लिख डालूँ। उस समय मैंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि न तो मुझमें ऐसी योग्यता है और न इतना परिश्रम करने की शक्ति ही। परन्तु जब श्री लोचनन्दि शंकरनारायणराव, श्री देवुत्तपल्लि रामानुजराव तथा श्री पुलिजाल हनुमन्तराव-जैसे मित्रों के निरन्तर आप्रह को मैं टाल न सका तो अन्त में मुझे हार माननी ही पड़ी। आवश्यक मामलों के अभाव के कारण मैं इस पुस्तक से सन्तुष्ट नहीं हूँ।

—सुरवरमु प्रतापरेड्डी

१-२. ये दोनों काव्य ऐसे हैं जिनके आदि से अन्त तक के सभी पद्य दो-दो अर्थ धारण करते हैं।

३. अर्थात् श्री वेदम् चैकटराय शास्त्री, जिन्होंने हर्ष काव्य के अधोनायकृत अनुवाद ‘ग्राम्थ नैषधमु’ की टीका लिखी है और इस कारण जो तेलुगु के मत्तिनाथ सूरि कहे जाते हैं।



## द्वितीय संस्करण

पत्र-सम्पादकों और विद्वानों ने इस पुस्तक की जैसी प्रशंसा की, उसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। इस विषय में मैं अपने को घब्राने नहीं मानता हूँ। विशेषतः 'आन्ध्र प्रभा'-सम्पादक श्री माल बंकेटेश्वरराव जी का तो मैं आत्यन्त ही ऋणी हूँ। इस पुस्तक के माध्यम से उनके साथ मेरा यह दूसरा परिचय है। पुस्तक उन्हें पसन्द आई। उन्होंने अप्रलेख लिखा। 'आन्ध्र प्रभा' में 'हमारे दादे-परदादे' शीर्षक को देखते ही मुझे इस पुस्तक का ध्यान आया। सहसा मन में विचार उठा कि कहीं यह मेरी ही पुस्तक की समालोचना तो नहीं। अनुमान ठीक निकला। उनके इस विज्ञापन से पुस्तक का प्रचार बढ़ा। फिर उन्होंने मुझे सूचना दी कि अंगरेजी पद्धति अपनाकर प्रत्येक विषय पर आदि में अन्त तक अलग-अलग पुस्तकें लिखना अधिक अच्छा होगा। परन्तु तब तक इसके तीन अध्याय उस्मानिया विश्वविद्यालय की एफ० ए० परीक्षा तथा 'आन्ध्र सारस्वत परिपत्तु' की प्रवेश परीक्षा के पाठ्यक्रमों में स्थान पा चुके थे। इसलिए उस समय कोई परिवर्तन सम्भव न हुआ।

अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी इस पुस्तक पर समालोचनाएँ छपी हैं। मुना है, स्वयं देखा नहीं। 'आन्ध्र प्रभा' के सम्पादक महोदय के निर्व्याज प्रेम ने तो मुझे कृतज्ञता के बन्धन में बाँध लिया है। उनकी विद्वत्तापूर्ण समालोचना को पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दिया जा रहा है।<sup>१</sup>

१. हिन्दी-संस्करण में इस परिशिष्ट को पुस्तक के प्रारम्भ में ही दिया जा रहा है, ताकि पाठकों को पुस्तक का एक संक्षिप्त परिचय पहले ही मिल जाय।

संगीत-शास्त्र-पारंगत, तेलुगु के अग्रणी लेखक तथा मेरे मित्र श्री राज्जपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा ने पुस्तक के बाईस विषयों पर एक विम्वृत पत्र बड़े प्रेम पूर्वक लिखा। उनवीं सभी भूचनावों पर मैंने अपनी भूलें मान ली हैं और वह पत्र भी पुस्तक के अन्त में ज्यो-का-र्यो दे दिया है।

श्री वेदूरि प्रभाकर शास्त्री महान् विद्वान्, अनुसन्धाता तथा आलोचक हैं। उन्होंने मुझे एक पोस्टकार्ड लिख भेजा था—

“आपकी पुस्तक ‘ग्रान्थ’ लें साधिकें चरित्रों को अत्यन्त रोचक पाया। आप इसकी रचना के लिए सर्वथा समर्थ हैं। सरसरी तौर पर एक बार साक्ष्य पढ़कर यह पत्र लिख रहा हूँ। पुस्तक को पढ़ने-मात्र से यह समझ गया कि आप एक प्रामाणिक (ईमानदार), सत्यनिष्ठ तथा पवित्र-हृदय व्यक्ति हैं। मेरी सलाह है कि इसके विषयों को इससे भी चार-पाँच गुना अधिक बढ़ाकर इसका द्वितीय संस्करण निकालें और उसमें मैं आपकी सहायता करूँ।”

शास्त्री जी को मैंने तुरन्त ही पत्रोत्तर दिया। पर जान पड़ता है मेरा पत्र उन्हें मिला ही नहीं। फिर उनका कोई पत्र नहीं आया। उनके आशीर्वाद के लिए मेरे प्रणाम। इस तीन आलोचनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।

इस बार पुस्तक में कुछ परिवर्तन किये हैं। ‘पूर्वी-बालुवय युग’ नाम का एक नया अध्याय जोड़ दिया है। प्रथम संस्करण में ‘चौपड’ पर अधिक ध्यान नहीं कर पाया था। इस बार उसे समग्र रूप में समझकर लिखा है। पहले संस्करण में कुछ शब्दों का अर्थ न जानने के कारण या तो ठीक से लिखा ही नहीं था या थोड़ी-बहुत चर्चा करके पहलू बदलने अथवा गिरे में ही छोड़ देने की चेष्टा की थी। इस बार उन सबको समझ-भूमकर लिख दिया है। ऐसे विषयों में मैं ओम्मेक्टुट, वनुमारि, बीटि मेन, रणमुनुहुपु, पुन्नुलन्नोवि, मुडामु, तलमुळ्ळु आदि के

१. श्री वेदूरि प्रभाकर शास्त्री का (तिरुपति से दि० २८.१०.४६ का)

यह पत्र ही मेरे नाम उनका प्रथम और अन्तिम पत्र है। —लेखक

विषय देखने योग्य है। पुस्तक के अन्त में विशेष शब्दों की एक सूची भी अकारादि क्रम से दे दी है।

प्रथम संस्करण में 'शब्द रत्नाकरम्' तथा 'आन्ध्र वाचस्पत्यम्' इन दो कोशों की सहायता से जो शब्दायें निकल सके थे, उन्हींको अपनी सूझ-बूझ के अनुसार देकर सन्तोष कर लिया था। इस बार 'सूर्यरायाधनुषिष्ठम्' भी देखने को मिला। इस कोश के अब तक के छठे भाग 'न' अक्षर तक पहुँच सके हैं। शेष अभी अप्रकाशित हैं। सम्भवत एक पीढ़ी और लगे। जो नये शब्द इसमें मिले, उनके अर्थ प्रायः वही हैं जो मैंने अनुमान से पहले ही लगा रखे थे। लगभग दसक शब्दों के अर्थ इसमें मिले। इस कोश में भी कुछ शब्दों के अर्थ 'पक्षी विशेष' 'क्रीडा विशेष' आदि देकर ही सन्तोष कर लिया गया है। 'प' में 'ह' वहाँ तक के शब्दों का अर्थ-निर्णय मैंने स्वयं किया है। इस बार कुछ नई पुस्तकें भी देखने को मिलीं। 'राजवाहनविजयम्', 'गौरनैकुतुम्', बेंगलूर-रुत 'पञ्चतन्त्रम्', 'कुमारसम्भवम्', 'बेलुगोटिवशावलि' आदि से भी सामाजिक इतिहास निखालने में सहायता मिली है। इस प्रकार कुछ नये विषय भी पुस्तक में जोड़े जा सकते हैं।

सत्तर-अस्सी वर्ष के बूढ़ों को अपने बचपन की जो बातें याद होंगी उनकी जानकारी हमें नहीं हो सकती। थोड़ी-बहुन जो जानकारी हमें है भी, वह हमारे बच्चों को न होगी। दो-तीन सौ वर्ष पूर्व के अपने ही पूर्वजों के आचार-विचार हम समझ नहीं पाते। इस पुस्तक में भी कई बातों पर हमें निश्चय पड़ा कि हम समझ नहीं पाए। हमारी साहित्य-मंस्याओं के मधालक पुस्तक-प्रदर्शनी, कला-प्रदर्शनी, प्राचीन वस्तु-प्रदर्शनी आदि के आयोजन प्रायः करने रहते हैं। ये सब तो ठीक है, पर इनके साथ पूर्वजों की परम्परागत वस्तुओं का संग्रह और प्रदर्शन भी होना चाहिए। यह अत्यन्त आवश्यक है। व्यास पीढ़े (रिहन्), तान-यन की पोथियाँ, लोहे की लेखनियाँ (स्टाइल्स), बोंडकोय्य (गिकंज्रा), कोंडेमु, पोगडदंड, प्राचीन चित्र, सिद्धि आदि के चित्रपट,



पुराने मिक्के, पुरानी पोशाकें, कटोर-घड़ियाँ (गडियगुटुक), कविलेकडितम्, गिल्ली-डंडे, चौपट-पामे, मुगंवाजी के हथियार, पुरानी नधें आदि स्त्रियों के गहने जो बड़ी तेजी से मिटने जा रहे हैं, बाराबदो चोगे, कबाएँ, घड़ियाँ या जाँघिये, कुसाहें, अस्त्र-शस्त्र, बवच, स्याही की बुधियाँ, मरकडे की कलमें, महापुराणों के हस्ताक्षर, हस्तलिखित पुस्तकें, चोरो के साधन, रंग और रंगरेजी की मामूली, यानक-बालिकाओं के तेल-गूद के सामान, पैंसों के तोड़े या जाली की चेलियाँ, बयरवद, घोड़ों की तगियाँ, लोवडे-तरहे इत्यादि, चमड़े और लकड़ी के गुड़ों तथा गुड़ियों के नमूने, यक्ष-गान के चित्र, दृश्य-चित्र, बाँच की कुपियाँ, विविध अचलों की प्राचीन दस्तकारियाँ, मगीत परिवार (वाद्य) आदि सभी प्रकार की दुर्लभ दुर्धिल वस्तुओं का संग्रह करके उनका प्रदर्शन किया जाना चाहिए और उन्हें अजायबघरों के अन्दर रखा जाना चाहिए। ऊपर जिन वस्तुओं का गिनाया गया है, उनमें से आधी से अधिक ऐसी हैं जो आजकाल के लोगों के लिए अपरिचय से अद्भुत हो चुकी हैं। इनमें अधिकतर ऐसी हैं जो केवल हमारे तेलुगु देश के अन्दर ही प्रचलित थीं। यदि हम इन्हें योज-हूँदर एकत्र नहीं करते तो आने वाली पीढ़ियों की हमारी सन्तानें अपने सामाजिक इतिहास को समझने में सर्वथा अशक्त हो उठेंगी।

अब हम इस सामाजिक इतिहास के पूर्व-भाग अर्थात् दालिवाहन-युग से राजराजनरेन्द्र के शासन-काल (सन् ६०० ईस्वी) तक के इतिहास को प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

अक्टूबर १९५०

सुवरमु प्रतापरेड्डी

## अनुबन्ध

### ‘हमारे दादे-परदादे’<sup>१</sup>

अब तक के हमारे इतिहास में क्या रहा है ? यही कि किस राजा ने कब राज्य किया ! कहां किया ! कैसे किया ! उसने कितने युद्ध किये ! किस-किसकी हराया ! किममें हारा ! कब किससे ब्याह किया ! उसकी कितनी पत्नियाँ और कितनी उपपत्नियाँ थीं ! बहु-पत्नी-प्रथा के साधक-बाधकों से वह कैसे निपटा ? और न जाने क्या-क्या ?

‘ना विष्णुः पृथिवीपतिः ।’ जब तक जनता में यह विश्वास बना रहा, तब तक राजाओं और उनके दरबारों की कहानियाँ, रानियों और रनिवासों की गाथाओं का ही बोल-बाला रहा । यही देश का इतिहास था और ऐसा इतिहास किसी को अच्छरता भी नहीं था ।

अब ऐसे अन्ध-विश्वास का युग नहीं रहा कि ‘राजा देवाश मंभूत’ होता है । यहाँ तक कि विगन विश्व-युद्ध के बाद से जापानियों का यह परम्परागत भूद ज्ञान भी खोखला पड़ गया है कि उनके सम्राट् हिरो-हितो परग्रह-स्वरूप हैं ।

राजाओं के दिन लद गए । अब प्रजा ही राजा है । इसलिए देश के इतिहास का रूप भी अब बदल जाना चाहिए । अब हमें यह बताने

१. ‘छात्र प्रभा’ ( मद्रास ) का मंगलवार दिनांक २२ नवम्बर १९४६ ई० का अग्रलेख, जो मूल पुस्तक में प्रथम परिशिष्ट के रूप में दिया गया है । हिन्दी-संस्करण में प्रारम्भ में ही इसलिए दिया जा रहा है कि इससे पाठकों को पुस्तक का संक्षिप्त परिचय पुस्तक के प्रारम्भ में ही मिल जायगा ।

थे। खोग पान खाते थे और 'धानदान' रखते थे। एस्वाकें पूनो के पर्व पर किसान बंनो का उत्सव मनाते थे। पटवारी अपनी 'बहि' (बही) में लेन-देन का सेखा रखते थे। चोर मसान की रास से दवा का काम लेते थे।

श्री प्रतापरेड्डी के सामाजिक इतिहास ('साधिक चरित्र') में हमारे पूर्वजों के जीवन तथा रहन-सहन के सम्बन्ध में ऐसी अपार सामग्री भरी पड़ी है।

यह इतिहास श्री रेड्डी के आजीवन अनुसंधानों का सार है। सामाजिक इतिहास के लिए उपयोगी पुस्तकों के बावजूद शिला-लेखों का उपयोग नाम-मात्र का ही होने के बावजूद प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त आबलिक तथा स्थानीय शब्दों के साधारण बोधगम्य अर्थों के स्थान पर काफ़ी में 'पक्षी विशेष', 'भक्ष्य विशेष'-मात्र लिखे होने और इस प्रकार बोधगम्य शब्दार्थों के निरर्थक होने के बावजूद भारी त्रुटियों की जाट करने हुए आन्ध्र जाति का सामाजिक इतिहास प्रतिभापूर्वक चित्रित करने वाले श्री सुरवरमु प्रतापरेड्डी की मेवाएँ सर्वथा प्रशंसनीय हैं।

आन्ध्र जाति के पिछले इतिहास की जानकारी तो यह ग्रन्थ-रत्न देना ही है, उसके अतिरिक्त उन साधनों का विवरण भी प्रस्तुत करता है, जिनके कारण जाति की उन्नति हुई। साथ ही उन बाधाओं का भी, जिनके कारण उसकी अवनाति हुई। यह 'ग्रन्थराज' उन सभी का विवरण मदभर्तुमार प्रस्तुत करता है। साथ ही आन्ध्र जाति के लिए भावी कर्तव्य-मथ का निर्देश भी करता है।

रेड्डी जी ने स्वयं कहा है कि इस पुस्तक से मैं स्वयं भी कोई सन्तुष्ट नहीं हूँ, लेकिन फिर भी रेड्डी जी की इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है कि इसका स्वागत कैसा होगा। यह तो निश्चित-मा है कि यह पुस्तक समस्त आन्ध्र जाति की अमिता नृप्ति प्रदान करेगी।

: १ :

## पूर्व-चालुक्य युग

ग्रान्ध साहित्य के इतिहास का आरम्भ नम्रय भट्ट से होता है। नम्रय भट्ट पूर्व-चालुक्य महाराजा राजराजनरेन्द्र के राज-पुरोहित थे। राजराजनरेन्द्र ने राजमहेन्द्रवरम् (राजमहेन्द्रो) को अपनी राजधानी बनाकर सन् १०२२ से १०६३ तक बेंगिदेश (ग्रान्ध) पर शासन किया था। पूर्व-चालुक्यों का पूरा इतिहास हमें नहीं मिलता। इसलिए नम्रय-भट्ट से लेकर काव्तीयों के प्राक्त्य तक अर्थात् सन् १००० से १२०० ई० तक ग्रान्ध देश में प्रचलित आचार-व्यवहार की जानकारी जहाँ तक प्राप्त हो सकी है, प्रस्तुत की जा रही है।

ग्रान्ध देश में भी बौद्ध धर्म कभी खूब फूला-फला था। लेकिन राज-राजनरेन्द्र से कोई चार सौ वर्ष पूर्व ही वह यहाँ से मिट चुका था। चालुक्य स्वयं शैव थे। इस कारण पूरे राज्य में शैव धर्म का बोल-बाला था। ब्राह्मणों की शक्ति काफी बढ़ी-बढ़ी थी। आदिकवि नम्रय भट्ट ने पहले भी तेलुगू में पदों और पद्यों की रचना होती थी और लोग काव्य-चर्चा में रस लेते थे। तथापि नम्रय भट्ट के पहले की कोई भी कविता अब उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध अगर कुछ है तो कुछेक शिला-लेख। नम्रय भट्ट कहते हैं कि चालुक्य-नरेण को 'पार्वती पति पदाब्ज ध्यान-पूजा महोत्सव' में प्रीति थी। चालुक्य क्षत्रिय नहीं थे। पर उन दिनों सभी राजा सूर्य या चन्द्र से अपनी वंश-परम्परा जोड़कर क्षत्रिय बन

जाया करते थे। उसी प्रकार चालुक्य-वंश भी क्षत्रिय बन गया था। राजराजनरेन्द्र ने कविवर नम्रय भट्ट से 'भान्ध महाभारत' के प्रारम्भ में ही यह कहला दिया था कि महाभारत के पुरु-कुरु आदि तरेण चालुक्यों के पूर्वज थे।

“हिमकर सोट्टिपूव भरतेशकुल, प्रभुपौदु भूपतुल।

कामयुनें वंशकस्तनगा महिनीम्पिनें यस्मदीय वंशमु।”

परन्तु राजराजनरेन्द्र के पूर्वजों ने स्वयं कहा है कि वे उस मूल पुरुष चालुक्य की सन्तानें हैं, जो ब्रह्मा की प्रार्थनाश्रुति (धुल्लू) से पैदा हुआ था। इन्हीं चालुक्यों की एक और शाखा ने अपनी कथा किसी और ही ढंग से वर्णित कराई है। पर ये ही क्यों, उस समय के सभी राजाओं ने किसी-न-किसी प्रकार अपने को चन्द्रवंशी या सूर्यवंशी लिखवा लिया था। उस युग में राजाओं ने ही शिवालया, धर्मशालाओं, भ्रमरों आदि का निर्माण कराया था। मकान्ति अथवा ग्रहण के पर्वों पर वे ब्राह्मणों को भूमि तथा ग्राम दान में दिया करते थे। ब्राह्मणों को दिये गए इन बिरतों को 'अग्रहार' कहने लगे।

नम्रय भट्ट के बाद ही ब्राह्मणों की वैदिकी और नियोगी नाम की दो शाखाएँ बनीं। पूजा-पाठ में निर्वाह करने वाले वैदिकी कहलाये तथा नौकरी या अन्य उद्यमों से धार्जीविका चलाने वाले नियोगी। ब्राह्मणों के अन्दर यह भेद नम्रय भट्ट के समय या उनसे पहले दिखाई नहीं देता। नम्रय भट्ट से सौ साल पहले अर्म्मराजु विष्णुवर्धन नाम का एक राजा हो चुका है। पहले उसीने राजमहेन्द्रवरमु में अपनी राजधानी बनाई थी। उसने पहले चालुक्यों की राजधानी बैंगीपुर में थी। इसी कारण पूर्वो ममुद्र-तट के प्रदेशों (मरकार जिलों) की परिस्थितियों का कुछ पता चल पाया है।

जिन राजाओं ने अपने को भूठ-भूठ क्षत्रिय नहीं कहा था औरों से नहीं कहलवाया, उन्हें पौराणिकों ने मोघे सूद नहीं तो 'वतुपं कुलज' 'गगापुत्र' आदि अवश्य कहा है। इस काल में तेलुगू देश में जो द्विजेतर

प्रबल थे, वे 'सच्छूद्र' कहलाये। "सत्य आदि गुणों से भटित शूद्र सच्छूद्र होंगे।" वेदव्यास (कृष्ण द्वैपायन) के 'संस्कृत महाभारत' में 'सच्छूद्रों' का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। फिर भी नग्नय भट्ट ने, शायद विशेष रूप से आग्र्य देश के लिए ही, इस नई जाति की उद्भावना की।

आग्र्य जाति की महत्ता के उत्सोख संस्कृत महाभारत में भी बारम्बार मिलते हैं। बिना किसी विशेष कारण के ही, नग्नय भट्ट ने 'आग्र्य महाभारतम्' में न केवल यह कि संस्कृत मूल के कुछ श्लोक छोड़ दिए हैं, बल्कि कुछ नये श्लोक जोड़े भी हैं। जो भी विशेषता उन्हें उचित प्रतीत हुई, उसे उन्होंने अपने 'महाभारत' में स्थान दे दिया।<sup>१</sup>

नन्नेचोडु के काल ( लगभग सन् ११५० ई० ) तक ही देश में शैव-मत के साथ-साथ 'कील मायं'<sup>२</sup> आदि वामाचारों का प्रवेश हो चुका था। नन्नेचोडु ने उन वाम विधानों की थोड़ी-सी चर्चा 'कुमार मभवम्' में की है। वह इस प्रकार है - कुछ लोग मधुपान-गोष्ठी में प्रविष्ट हो, मंडलाचन करके ( थोड़ा-पूजा में निवृत्त हो ), मूलज, वृक्षज, गुड, मधु, पिष्ट, कुमुम, विचारों आदि से युक्त सुगन्धामयों को कनक-माण-मय अनेक करक-चपकादिकों में भरकर प्रसन्नचित्त हो गौरी, महादेव, भैरव,, योगिनियों, नवनाथों तथा आदिसिद्धों की पूजा करके, भोग चढ़ाकर, आप भी पीते हुए उन आमयों की इस प्रकार प्रशंसा किया करते हैं :

"अमरपान यदि करें, अमृत है वही घनतन,  
मधुपों के दल पिये उसे यदि, वही रसायन,  
आगम-विधि से भूगुरीघ यदि पिये, सोम है,

१. 'आग्र्य महाभारत', अरण्य पर्व, ४-१२६।

२. आदि पर्व के १-१३८, २-६१, ६३ आदि भूत संस्कृत महाभारत में नहीं हैं।

३. मत्स्येन्द्रनाथ का पंथ।

कौत्तिक-कुल के चक्र-याग में 'वस्तु' होम है ।"<sup>१</sup>

"और फिर वे अनेकविध मासोपदशको का आम्वादन करते हुए मनोहृद्य मद्यो का सेवन किया करते हैं ।"<sup>२</sup>

संस्कृत महाभारत में दक्षिण भारत के मन्वन्ध में कोई विशेष चर्चा नहीं है । फिर भी नन्वय भट्ट ने अर्जुन की तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में बेंगी देश ( ग्रान्थ ) तथा गोदावरी नदी का वर्णन किया है :

दक्षिण-गंगा की विपुल लयातिपुत्रा गोदावरि के,  
जगदादि-धाम के जगदीश्वर श्री भीमेश्वर के,  
अनवरत यशोमंडित पंडित पूजित श्रीगिरि के,  
सधृद्ध मना हो इन तीनों के व्रजन करके,  
सोचा बेंगी वैभव-विभु-अर्जुन ने : धरती पर  
शिष्टाग्रहार-भूयिष्ठ-धरणिमुर-उत्तम-अध्वर  
के शुभ विधान से महापुण्य-समृद्ध, अनघ-ध्वज  
ये तीर्थ किये जीवन कृतार्थ हो गया, पुण्यमय ।<sup>३</sup>

नन्वय भट्ट के काल में तेलुगु देश में तीन सुप्रसिद्ध तीर्थ थे गोदावरी नदी, भीमेश्वर महादेव तथा श्री शैल ( श्री पर्वत, कृष्णा नदी के तट पर पूर्वी-घाट पहाड़ी के बीच ) । 'बेंगीदेश' में 'अग्रहार' भी प्रचुर परिणाम में दिये गए थे ।

नन्वय भट्ट के समय की तेलुगु-भाषा के मन्वन्ध में पत्र-पत्रिकाओं में काफी चर्चा हो चुकी है । अप्रामाणिक होने के कारण यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा न करके उल्लेख-मात्र किये दे रहे हैं । नन्वेचोडु ने 'जानु तेनुगु' ( जन-तेनुगु या जन-भाषा ) के मन्वन्ध में लिखा है कि भाषा सादी हो और भाव सरल हो । इसीको उन्होंने 'वस्तुवित्त ( १ )'

१. वाममार्गों 'कौत्तिक' चक्रयाग की शराय की 'वस्तु' ('वस्तुव्') कहा करते थे ।

२. 'कुमारसम्भवम्,' ६--१२७ से १३२ तक ।

३. 'ग्रान्थ महाभारतम्,' आदि पर्व ८--१३६ ।

कहा है। वन्द्य भाषा में 'ओपनुडि' का शब्द पढ़ने से ही प्रचलित था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी उसीको अपनाया है। ( इस प्रसंग में मद्रास-विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'कुमारसम्भवम्' में श्री बोरार्ड रामचन्द्राय जी की भूमिका दर्शनीय है। ) पाल्कुरिकि सोमुट्टु ने भी 'वृषाधिप शनक' नाम की अपनी कृति में इस 'जानु मेनुगु' की प्रशंसा करने हुए एक पद्य में उनकी शैली को दर्शाया है। उसीमें उन्होंने मसूत और ग्रन्थ भाषा की मिश्रित में बनी शैली 'मणिप्रवाल' में भी दो पद्य लिखे हैं। 'मणिप्रवाल' शैली अब तेलुगु में लुप्त हो चुकी है। बोरार्ड रामचन्द्राय ने महानगर-मन्थनी अपनी लेखमाला में लिखा है कि तमिळ भाषा में अभी तक 'मणिप्रवाल' शैली का प्रचार है।

नन्नेचोट्टु ने कहा है कि कविता की दो प्रणालियाँ हैं। एक 'देशी कविता' और दूसरी 'मार्ग कविता'। कविता में ही नहीं संगीत तथा नृत्य-कला में भी ऐसे भेद उपस्थित होने की सूचनाएँ श्रीनाथ के समय तक मिलती हैं। 'मार्ग विधान' मसूत-मन्त्रदाय है। 'वाल्मीकि रामायण' में ही बाद वालों ने लज-कुश बन्धुओं के सम्बन्ध में कहा है कि : 'आगायताम्यार्ग विधानसम्पदा'। यह कहा जा सकता है कि दक्षिण देश में मसूत-मन्त्रदाय से भिन्न भाषा, संगीत तथा नृत्य-कलाओं को 'देशी मार्ग' कहने अथवा देशी स्वरूप देने की परम्परा नवी शती ईसवी में प्रारम्भ हुई थी।

नन्नेचोट्टु ने कहा है कि चालुक्व-नरेशों ने ही ग्रन्थ देश में देशी कविता-मन्त्रदाय की स्थापना की।<sup>१</sup> उन्होंने कहा है कि उस समय कई

१. तमिळ-संस्कृत की मिश्रित में बनी भाषा-शैली। वास्तव में 'मणिप्रवाल' शैली मत्तयालम ( मत्तयालम-संस्कृत ) की है। अन्य भाषाओं में न तो कभी इसका उतना अधिक प्रचार हुआ और न उनसे प्रचुर साहित्य की सृष्टि हो गई।

२. 'कुमारसम्भवम्', १-२३।



देशी सत्कवि विद्यमान थे ।<sup>१</sup> 'कुमारसम्भवम्' को ही हमारा प्रथम प्रबन्ध कहा जा सकता है । नन्नय ने अष्टादश वर्णनों, नव रसों तथा छत्तीस अलंकारों को उत्तम काव्य का लक्षण कहा है ।<sup>२</sup> जनता में तोरी,<sup>३</sup> गौडगीतम्,<sup>४</sup> आदि तब भी प्रचलित थे । विद्यार्थियों को 'ओम् नमः शिवाय' के पाठ से विद्यारम्भ कराया जाता था ।<sup>५</sup> वेदों-शास्त्रों का पठन-पाठन उस समय विशेष रूप से होता था । नन्नय भट्ट के सहपाठी और महाभारत की रचना में सहायक बंधु वानस-वशीय नारायण भट्ट 'संस्कृत कर्णाट प्राकृत पैशाचिकाद्य' भाषाओं के 'प्रकाण्ड पण्डित कवि-शेखर, अष्टादशावधान चक्रवर्ती और वाङ्मय धुरन्धर' थे । राजराजनरेन्द्र के आस्थान में "अपार शब्द-शास्त्र-पारंगत व्याकरण, भारत-रामायणादि, अनेक पुराण प्रवीण पौराणिक, मृदुमधुर-रसभाव-आमुर नवार्थ-वचन-रचना-विशारद महाकवि, विविध तर्क विगाहित-समस्त-शास्त्रसागर-पराग प्रतिभावाद्, तार्किक आदि विद्वज्जन विराजते थे ।"<sup>६</sup>

उन दिनों वेदों तथा तर्क, न्याय, गीर्वासा आदि शास्त्रों की शिक्षा के लिए जहाँ-तहाँ विद्या-केन्द्र स्थापित थे । उन विद्या-केन्द्रों को राजाओं के अतिरिक्त धनी-मानी व्यापारियों तथा उद्योगियों (राज-सेवा में लगे लोगों) ने भी प्रचुर भूमि दान में दी थी । हैदराबाद में वर्तमान बाड़ी रैतवे जकशान के निकट उस समय 'नागवापी' नामक एक सुप्रसिद्ध स्थान था । आजकल उसे 'नोगाई' कहते हैं । पुरातत्त्व विभाग ने वहाँ के कुछ शिलालेखों की प्रतिलिपियाँ प्रकाशित की हैं । उनसे विदित होता है कि वहाँ पर सन् ११०० ई० के आस-पास एक बहुत बड़ा-सा विश्वविद्यालय था,

१. 'कुमारसम्भवम्', १-२४ ।

२. वही, १-४५ ।

३. वही, ४-८६ ।

४. वही, ९-४५ ।

५. वही, ३-३४ ।

६. 'ग्रान्थ महाभारत', आदि पर्व १-८ ।

जिसमें शैव आगम तर्क-शास्त्र, न्याय-शास्त्र तथा अन्य जितने ही शास्त्रों के अतिरिक्त वेदों की शिक्षा भी दी जाती थी। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के रहने-सहने का विशेष प्रबन्ध था। अध्यापकों के निर्वाह के लिए ही नहीं, विद्यार्थियों के भोजनार्थ भी कुछ भूमि अलग रखी गई थी। नागवापी में एक पुस्तकालय भी था।

विश्वविद्यालय के विषय में ऐसे अनेक अद्भुत तथ्यों का ज्ञान उन शिला-लेखों में प्राप्त होता है। विद्वानों ने अति प्रचार के कारण तक्षशिला, नालंदा आदि विश्वविद्यालयों के विषय में तो बहुत सारी जानकारी खोज निकाली है, किन्तु 'नागार्ई' का किसी ने नाम तक नहीं लिया। मुसलमानों के आक्रमणों के कारण उत्तर भारत के प्रसिद्ध विद्यापीठ और उनके ग्रन्थालय बहुत पहले ही विध्वस्त हो चुके थे। पर दक्षिण पथ पर सन् १३२३ ई० तक ऐसी विपत्तियाँ नहीं आई थी।

वैदिक आचारों से भिन्न बहुत सारे द्राविड (द्रविड) आचारों ने भी दक्षिण भारत की जनता में अपनी जड़े जमा ली थी। इन परस्पर भिन्न आचारों के आधार पर हमें 'आर्य' तथा द्राविड नामक दो विभाग मानने पड़ने हैं। इसी प्रकार मस्कृत का अत्यधिक प्रभाव स्वीकार करने पर भी द्राविड भाषाओं को भिन्न भाषा,<sup>१</sup> ही मानना होगा। आन्ध्रों में विवाह-मस्कार चार दिन तक चला करता था। 'उत्तर विवाह' के अनन्तर 'दिन अनुष्ठान' बताकर 'बन्धुजन'<sup>२</sup> अपने-अपने घर लौट जाने थे।<sup>३</sup> मेमेरी बहन ब्याहने की प्रथा वास्तव में आन्ध्र की ही है। "अर्जुन अपनी मेमेरी बहन धवलाक्षी (सुभद्रा) को लीवा ले गया।"<sup>४</sup> (इस पुस्तक में महाभारत में केवल यही उदाहरण लिये गए हैं, जो 'संस्कृत-

१. अर्थात् आर्यतर भाषा।

२. बराती तथा अन्य सगे-सम्बन्धी।

३. 'आन्ध्र महाभारत', उद्योग पर्व १-२। ये बातें मूल संस्कृत में नहीं हैं। ले०

४. 'आन्ध्र महाभारत', आदि पर्व ८-२०७।

महाभारत' में अनुपस्थित और 'आन्ध्र महाभारत' में उपस्थित है।) पैरो के मट्टेलु (घन्ने) तेलुगु देश की स्त्रियों के विशिष्ट अलंकार है। यह 'वैदिक पद्धति' नहीं है। "ललितबुल्लु मट्टिमूल चर्प्पाडपारनवर्केवाडि नलनल्ल-वन्नि।" (ललित मट्टेलु कनवारती हसिनी की तरह चली होले-होले)।<sup>१</sup> नम्रय भट्ट तथा तिवजन के समय पुरष भी यह मट्टेलु पहना करते थे। आज भी कुछ घरों में पुरुषों को मट्टेलु पहने देखा जा सकता है। कीचक जिस समय द्रोपदी से मिलने नर्तनागार में जा रहा था, उस समय 'मट्टेलुओं' के परस्पर टकराकर शब्द करने के कारण वह बारम्बार अपने पंजों को फेंका तेना था।<sup>२</sup> घर के घर के बड़े-बूढ़ों का पहले ही जाकर ब्या को देख-परख आना, बात पक्की करना और निश्चितार्थ (मगनी या फल-दान) में 'मुद्रारोहण' (तिलक) करना अर्थात् सिर पर सीले बखेरना आदि उस समय के आन्ध्राचार में सम्मिलित थे।<sup>३</sup>

विवाह के उपरान्त दोनों पक्ष परम्पर रग खेलने थे।<sup>४</sup> यह चलन आज भी है। नन्नेचोडु ने भी इस 'वसत खेलने' का उल्लेख किया है। "विचकारियों में तान, लाल-लाल झुट्टे बान, कुंकुमारुणाकीर्ण जल-धार पर धार, रंग में नहा के शोभायमान, यी.....।" "या" "वरचवन पंक शुभोद दिये।" या "अयनीर" अबीर उड़े फिरते।<sup>५</sup> मिवाही समाज, शेषक समाज तथा निचली जातियों में तमाक का गिवाज मौजूद था। एक सैनिक की पत्नी शिकायत करती है - "पिया ने तमाक देकर मुझको मनाथ किया।"<sup>६</sup>

पश्चिम-चानुक्य-नरेश सोमेश्वरदेव (मृ ११३०) ने अपनी संहृत

१. 'आन्ध्र महाभारत', विराट् पर्व २-६४।
२. वही, विराट् पर्व २-२५०।
३. 'मुद्रारोहण' का अर्थ धंगूठी पहनाना नहीं है।
४. 'कुमारसम्बन्ध', ७-१३६।
५. वही, ६-५६, ६०, ६७।
६. वही, ११-५५।

पुस्तक 'अभिलपितार्थचिन्तामणि' में वैदिकेतर दाशिंगात्य वैवाहिक प्रथाओं का सुन्दर वर्णन किया है। मोमेश्वरदेव कर्णाटिकासी थे। फिर भी उन्होंने जो बातें बताई हैं, वे आन्ध्र जालि में प्रचलित थीं। इसलिए उनकी पुस्तक हमारे भामाजिज्ञ इतिहास के लिए बड़े काम की वस्तु है। उनमें लिखा है : "विवाह का मंडप हरे पत्तों और फूलों के तोरणों से सजाया जाना चाहिए। विवाह-वेदी के ऊपर चावन ('पोलु') बिछेरा जाना चाहिए। घर-बघू के हाथों में जीरा-चावल रखा जाना चाहिए। विवाह-मंस्कार के समाप्त होते ही घर-बघू उस जीरा-चावल को एक-दूसरे के सिर पर छिड़कें। विवाह का समारोह चार दिन तक चलना चाहिए। चौथे दिन रथों अथवा हाथियों पर घर-बघू का जलूस निकलना चाहिए। (इस जलूस को तेलुगु में 'मेरवलि' कहते हैं।) शेष सब विधियाँ वैदिक ही हों।" आज भी आन्ध्र की भिन्न-भिन्न जातियों में ऐसी जितनी ही परस्पर भिन्न प्रथाएँ प्रचलित हैं, जो वैदिक विधान से पृथक् हैं। ये द्राविडाचार हैं। ताळिवोट्टु या ताळिवोट्टु नाटिकम्मलु या ताटक्कुलु या ताटाकुलु (मुहाग-मून, जो पहने ताल-पत्र का होना रहा होगा), भी द्राविडाचार ही हैं।

उन दिनों व्यापार बैलगाड़ियों या भैरों के ऊपर हुप्पा करता था। पशुओं की पीठ पर लाठी इस प्रकार डाली जाती थी कि वह दोनों ओर लटकती रहे। इसे 'पेरिका' कहते थे।<sup>१</sup> जिनके अधिक पशु होते, वे पहचान के लिए अपने पशुओं पर मूहर या निशानी दाग दिया करते थे।<sup>२</sup> जादू-टोनों पर कम-से-कम कुछ लोग तो ज़रूर विश्वास करते थे।<sup>३</sup>

१. अभिलपितार्थचिन्तामणि, प्रकरण ३, अध्याय १३, श्लोक १४८३ से १४९२ तक।

२. 'कुमारसंभवमु', २-७३।

३. 'कुमारसंभवमु', ४-११।

४. 'कुमारसंभवमु', ४-६१।

इन्द्रजाल का प्रचार भी सूब था ।<sup>१</sup> आँवो में चमत्कारी अजन आजकर दफीनो (गड़े धन) का पता लगाया जाता था । खप्पर के ऊपर मनभूत काजल पोतकर देखने पर, कुछ लोगों को मनचाही बातें दिखाई देती थी । “खप्पर के ऊपर महादेव के मंत्रित काजल : लेप उसे थामा गिरिराज सुता ने कर में ।”<sup>२</sup> आज भी ग्रान्ध में लोग आँखदार खप्पर के ऊपर विशेष प्रकार से तैयार किया हुआ काजल मन्ते हैं तथा स्थूल-शुद्धि के बाद धूप-दीप जलाकर, नारियल फोड़कर, कुछ विशेष मन्त्रों का पाठ करने हुए ‘अजन डालते’ हैं । मोहे को मोना बनाने का ‘रसवाद’ (कीमियागरी) भी बोई आज का नहीं है । वह भी बहुत प्राचीन है । नागार्जुन ने इस कला में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की थी । नन्नेचोटु के समय में भी वहुनो ने इस विद्या को आधुने की चेष्टा की ।<sup>३</sup> विपदा पड़ने पर इष्टदेव की मनोतियाँ मानने और मिश्रतें पूरी होने पर मिश्रतें चढ़ाने की प्रथा भी थी ।<sup>४</sup>

भरत के शास्य में भिन्न एक विशेष नृत्य-कला भी ग्रान्ध में प्रचलित थी । ‘ग्रान्ध महाभारत’ में तिवक्घ ने उत्तरा के विषय में लिखा है कि उमने ‘दडलामक् विधिहु डली तथा बेबरगु भगबेरगुम् भी’ सीखा था । यह प्रसंग मूल मसूहत में नहीं है । जहाँ-जहाँ सुनते हैं कि मित्रियाँ पुग्घो को बदा में बरने के लिए ‘मन फेर’ दबाइयो का प्रयोग करती हैं । यह ज्ञान अंते अब है, वंमे तब भी थी । ‘ग्रान्ध महाभारत’ में द्रौपदी सत्य-भामा में कहती है “इसमे लाभ तो है नहीं, उल्टे प्राणहानि भी हो सकती है ।”<sup>५</sup> नन्नेचोटु के समय अपराधी को विचित्र-विचित्र हिरण्य दण्ड दिये जाते थे :

१. ‘कुमारसंभवमु’, ६-७७ ।
२. ‘कुमारसंभवमु’, ६-६६ ।
३. ‘कुमारसंभवमु’, ६-१४६ ।
४. ‘कुमारसंभवमु’, ८-८४ ।
५. ‘ग्रान्ध महाभारत’, अरण्य पर्व, ५-२६६ ।

“यह खत है, ... हे सर्वव्याप, मत डेर करो,  
शिवदूषक है, जीन काटकर नमक भरो,  
पिघला सोसा झंग-झंग पर डालो जी,  
पिघला लोहा कंडनाल में डालो जी,  
इम दुरात्मा को चमड़ी उधेड़ डालो,  
झाँसों के कोपे गड़्डों से कटवा लो, ...”<sup>१</sup>

या, छात्रों पर छाप भिलावां, उसको छोड़ दिया।”<sup>२</sup>

बानिकाएँ “चित्रक गुड्डे, गजश्न के गुड्डे, काँच के गिलौने, काठ के गिलौने (आदि मेकर) घरोंदे बनानी थी, ... चाना पकाकर गुड्डो-गुड्डियों के ब्याह रचानी थी।”<sup>३</sup> धमड़े के पुतलों का उल्लेख ‘महाभारत’ में भी है।<sup>४</sup>

उन दिनों के जन-मनोरंजन के साधनों तथा वितोदो में से बहूतरे आज भी प्रचलित हैं। ‘अकमल विनोद,’ मुरंगों की लड़ाई, तीनरो की लड़ाई, भैमों-भेड़ों की लड़ाई, कबूतरबाजी, बाजों की लड़ाई, गीत-बाद्य-नृत्य और नाच, कथाएँ (मय वीरगाथाएँ), पहेंलों-बुझौल, गजरज, साँप नचाना, गोंडी-माधवी-यैष्टी-मुरा-सवन आदि अनेक मनोरंजनों के विषय में ‘अभिनवितायंचिन्तामणि’ में विस्तृत वर्णन मिलने हैं।

मिल्य-जला की उपनि विवेककर दक्षिण भारत में हुई है। मय के नाम से सम्बद्ध जो वास्तु-शास्त्र प्रसिद्ध है, उसका सम्बन्ध ‘मय’ आदि आयुधों से है। राज-प्रनादों की वास्तु-रचना के सम्बन्ध में भी कुछ ध्यौरा ‘अभिनवितायंचिन्तामणि’ में मिलता है। घरों में सम्भे लगाने की पद्धति दक्षिण की ठपड़ी विनिष्टता ही हो सकती है। चतुर्भाग, त्रिभाग, द्विभाग, एकाग्र भाग आदि कई प्रकार के शाल (शालाएँ, भवन)

१. ‘कुमारसंभवम्’, २-८४।

२. ‘कुमारसंभवम्’, ४-१६।

३. ‘कुमारसंभवम्’, ३-३६।

४. ‘महानारत, विराट् पर्व’, ३-१६४।

बनाये जाते थे। चतुर्दशभुक्त, चतुर्भाल को 'सर्वतोभद्र' कहा गया है। दसी प्रकार नन्द्यावर्तम्, वर्धमानम्, स्वस्तिकम्, रुचिकम्, आदि भी भवनो के ही प्रकार-भेद होते थे। गृह-निर्माण के आरम्भ और अन्त में की जाने वाली वास्तु-पूजा की विधियों के भी विस्तृत वर्णन मिलने हैं। श्री रामचन्द्र जी ने बनवास-काल में जब पर्यंकुटी निर्मित की तो उन्होंने वास्तु-पूजा करके 'गृहाधिदेवता' को एक हिमन की बलि चढ़ाई थी। अब यह प्रथा केवल ब्राह्मणोत्तरो में ही पाई जाती है।<sup>१</sup>

अभियोगों और विवादों पर विचार करने के लिए पचायतों की व्यवस्था थी। पचायत मल्हा भारत की अति प्राचीन संस्था है। यही सच्चा स्वराज्य है। मसार-भर की राजनीति में पचायत-जैसी कोई दूसरी पद्धति पैदा ही नहीं हुई। अंगरेजी अदालतों के आने के बाद ही बानूनी पैतरेवाजियाँ, तब-वित्तों के कुतर्क, दसील-दस्ताख, झूठी गवाहियाँ, झूठी बसमें आदि अनेक खुराफातें पैदा हुई हैं। दसी बान को दिल्ली के आखरी बादशाह बहादुरशाह जफर ने अपने एक शेर में यों ही कहा था।

"रहते थे इस मुल्क में पीरोवली शम्सोकमर।

जब घुसी कीजें नसारा हर बली जाता रहा।"

(इस देश में पीर, बन्ही, सूत्र, चाँद, सब रहते थे, पर अंगरेजी कीजों के घुसने ही सभी बली भाग गये हुए।)

पचायतों के प्रश्न पर अभी आगे के अध्यायों में भी चर्चा की जायगी। पश्चिम-बालुक्क-नरेश ने अपने राज की पचायती गभाओं को ध्यान में रखते हुए जो कुछ 'अभिलपितार्थचिन्तामणि' में लिखा है, उसका सारांश यह है

पचायत के सदस्य ऐसे व्यक्ति हों जो वेद शास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञ, सत्य-वादी, धर्मपरायण, दानु-मित्र-समदृष्टि एवं धीर-वीर हों, लोभी-नालची न हों, जनता में मान्य रहने हों, व्यवहार-कुशल हों और विप्र हों। ऐसे

१. 'अभिलपितार्थचिन्तामणि,' प्रकरण १, अध्याय ३।

हो व्यक्तियों को राजा पक्ष निमुक्त करे। स्वयं वे, या उनकी सहायता से राजा, भगड़ों का निपटारा करे। पचावन में ऐसे पाँच या मान सदस्य रहें। कुलीन, गीनवान, धनवान, वयोवृद्ध तथा अमत्तर वंश्य भी पचावत के सदस्य हो सकते हैं। अव्यञ्ज ऐसा ब्राह्मण होना चाहिए, जो अर्थशास्त्र-विगारद, तोर-जानी, प्राड्विवाक्, इगितत्र तथा ऊहापोह-विजानी (मनोविजानी) हो। अव्यञ्ज ही प्राड्विवाक् (जब) कहनायेंगे। राजा की अनुपस्थिति में विचारपति बही होंगे। ब्राह्मण के अभाव में किसी अन्य कुलीन की नियुक्ति हो सकती है। द्विजों में से किसी को भी अव्यञ्ज बनाया जा सकता है, पर शूद्र को कदापि नहीं।"

अभियोग दो प्रकार के होंगे ये। ऋणदान, निक्षेप, अस्वाभिक-विजय, अमानन में तमानन (ग्रवन), वेतन का अपहरण, सेन-वेतन, खरीद-बिक्री, स्वामी-मेदव-विवाद, हृदबन्दी के भगड़े, वाक्पारण्य (अर्थात् कड़े वचन, अपमान, गानी-गनौज आदि), दंडपारण्य (अर्थात् नारीरिक संश्रमणार्थ), चोरी, नारी-अपहरण (अग्रवा), दायभाग, जुए, आदि से सम्बद्ध सभी प्रकार के भगड़े, विवाद, आरोप, अभियोग, अपराध आदि पचावतों में निपटाये जाते थे। बादी पक्षों के धाने खड़ा हो जाना। पक्ष उससे कहते, "क्या कट है, बेघटक बनाओ।" बादी की बात सुनकर वे प्रतिवादी (मुद्दानेह) को बोलवाने। यदि वह बीमारी या ऐसे ही किसी अन्य उचित कारण से सभा में उपस्थित न हो सकता तो आपत्ति की कोई बात न थी। कुलीन पराई मित्रों, सुवर्णियों, प्रभूतिवालों तथा राजस्वलाभों को सभा में बुलाने की मनाही थी। बादी और प्रतिवादी की बातें सुनकर उनके वक्तव्य लिख लिए जाते थे। तब सदस्य उनमें गवाही तय कर लेते थे। विचार स्मृति-आम्त्रों के अनुसार होता था। गवाही न हो तो 'दिव्यम्' अर्थात् अग्नि-परोक्षा-जैसी कड़ी परोक्षा देनी पड़ती थी। हथियारों प्राण-दंड मिलता था। उनसे कम मर्त्यो जुर्मों के लिए 'द्वेदन-दंड' दिया जाता था, अर्थात् नाक, कान, जीभ, हाथ, पैर या उंगलियाँ कटवा नी जाती थी। साधारण अपराध के लिए 'केश-दंड'



ही दिया जाता था, अर्थात् अपराधी को बेंत मारकर या चेतावनी देकर ही छोड़ दिया जाता था। अर्ध-हरण अर्थात् चोरी या गवन पर २०० से १७०० 'पण' तक का जुर्माना किया जाता था। यही न्याय का ढंग था।<sup>१</sup>

पश्चिम-चालुक्यों का सम्बन्ध कर्णाटक से था। लेकिन बाद के बावलीयो ने चालुक्यों का ही अनुकरण किया था। इसलिए पश्चिमी चालुक्यों के 'कर-विधान' पर सोमेश्वर ने जो-कुछ लिखा है, उसमें अनुमान किया जा सकता है कि तेलुगु देश के अन्दर भी ऐसा ही कुछ अवश्य होता था।

'पशुहिरण्य' (पशुधन अथवा पशु और संतने) पर ५०वाँ भाग, अनाज पर ८वाँ, ६वाँ या १२वाँ भाग, घो, सुपारी, रसगंध, औषधियों तथा फल-फूल, घास-पात, बर्तन-वासन आदि पर छठा भाग कर के रूप में लिये जाने का विधान था। श्रोत्रिय ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता था। पशुओं के चरने के लिए कुछ गोचर भूमि खुली परती छोड़ देने का भी नियम था।

दक्षिण देश में ग्रान्धों और कर्णाटकों में ललित कला को प्रधानता प्राप्त थी। कुछेक दक्षिणी भाव-भंगिमाएँ और बाजे-गाजे उत्तर से भिन्न थे। 'ताप्तमुद्रानिषेध' में उच्च कुल वालों के लिए नाचने-गाने की मनाही थी। "नृत्यगीतादिक द्विजन्मो का धर्म नहीं।" मूर्तियाँ गढ़ने और चित्र बनाने की कला भी शूद्रों के हाथों में थी।<sup>२</sup> काकतीयों तथा विजयनगर के शासन-काल में साधारण जन भी घर की दीवारों पर चित्रकारी करवाने से। इस कारण चित्र-लेखन-विद्या के विषय में 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में जो-कुछ लिखा है, उसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस पुस्तक में 'ग्रान्ध-कर्म' के नाम पर पूरे १०० पृष्ठ भरे पड़े हैं। चित्र-

१. 'अभिलषितार्थचिन्तामणि', प्रकरण १, अध्याय २। ('पण' सोने का एक सिक्का होता था।)

२. 'अभिलषितार्थचिन्तामणि', प्रकरण भूमिका।

कला पर प्राचीन साहित्य बहुत कम है। विष्णुवर्मोत्तर पुराण में (जो सम्भवन. सन् ८०० में १००० ई० तक के बाल का है) इसकी कुछ भविष्यार चर्चा है। इसी को म्येन्ना श्रामिग नाम की कला-ममीक्षिका ने अंगरेजी में अनूदिन किया है। परन्तु चित्र-कला-शास्त्र (आलेख्य कर्म) उससे कई गुनी अधिक उत्तम रचना है। बल्कि यों कहना चाहिए कि चित्र-कला पर हमसे अच्छी रचना हमारे यहाँ नहीं है। बहुत लोगों का विचार है कि बदायिन् इस 'चित्र-कला-शास्त्र' के प्रणेता मोमेस्वर ही हैं। पुस्तक के इस भाग का तेलुगु-अनुवाद अवश्य होना चाहिए। चित्र के लिए उपयुक्त रंग तैयार करने की विधि भी हमसे बनाई गई है। लिखा है कि पहले तो दीवार को पक्के चूने से पोतकर चिकनी कर लेनी चाहिए। भूम के चमड़े को टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें कुछ दिन तक पानी में भिगोये रखना चाहिए। गल जाने पर उसकी तलछट निकालकर उसे मक्खन की तरह घांट लेना चाहिए और उसका लेप चूने में पुनी दीवार पर चढ़ा देना चाहिए। नीलगिरि के शस्त्रकूर्ण को पीसकर उसके धोल में विविध रंग बनाये जाने चाहिए। बाँम की बारीक सीलियो में तबि की टोपी लगाकर उसके अन्दर बिठाये गए गिलहरी के बालों की वस्तिका तूली का काम दे सकती है।<sup>१</sup> 'सित लोहित, वैरिक्, पीत, हरित, नीलादि रंग' और उन्हें बनाने की विधियाँ भी इस पुस्तक में बता दी गई हैं। देवताओं, मनुष्यों, पशुओं आदि के 'प्रमाणों' (तापो) का भी विस्तृत वर्णन हममें है।

नन्नेचोटु के समय चित्र-कला पर सम्भवनः और भी लक्षण-ग्रन्थ मोहूद वेः "चित्र साधन जुटा, पट तान सजा, उसको चमका, 'त्रिपट' कर भाप से कसकर, ऋज्वागत में रेखाएँ साधकर, पत्रिकाओं, बिन्दुओं, निम्नोन्नतापांग मानोन्मानों को सँवारकर विधिपूर्वक चित्र उरेहा।"<sup>२</sup>

१. 'अभितयितार्थचिन्तामणि', प्रकरण ३, अध्याय १।

२. 'कुमारसम्भवम्' ५-११८।

घरों के द्वारों के दोनों ओर चित्र उतारे उरेहे जाते थे।<sup>१</sup> श्रीनाथ ने 'शृंगार नैपथ्य' के सातवें आश्वास में दरवाजों के ऊपर बगने वाले चित्रों का वर्णन किया है। पाल्कुरिकि, गोरन आदि ने भी अपनी कृतियों में इस विषय की चर्चा की है।

## युद्ध-तंत्र

चालुक्य-युग में भी उसी युद्ध-तन्त्र का चलन था, जो बाद के काकतीय काल में भी चालू रहा। मीमाता पर किलों की रक्षा के लिए 'पालेगार' (रिसालदार पहरेदार) रखे जाते थे। इन 'पालेगारों' को अपने पास एक नियत सख्या में सेना भी रखनी पड़ती थी। घबसर पड़ने पर 'पालेगार' मेनाएँ राजा की सेनाओं की कुमक का नाम करती थी। इस सेवा के लिए 'पालेगारों' को 'जीतपुट्टल्ल'<sup>२</sup> दिये जाते थे। मूल संहृत महाभारत में इन वेतन-ग्रामों का बही उल्लेख नहीं है। फिर भी तिवरुण सोमयाजी ने 'ग्रान्थ महाभारत' में उन्हें स्थान दिया है।<sup>३</sup>

देव-दानव-युद्ध के नाम पर नन्नेचोडु ने धन्यतः अपने ही समय के युद्ध-विधान का विस्तार विवरण दे दिया है। एकदस तथा द्वादस, दानो आश्वाम इस विवरण में भरे पड़े हैं। उस विवरण से निम्न-निम्नित बातें प्रकाश में आती हैं।

"कुमारम्बामी देवताओं की मेना के मेनानी बने। उन्हें तिलक लगाया गया। उन्होंने तुरन्त ही कूच का डरा बजवा दिया। सारी सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध हो उठी। हरावन टुकड़ी आगे-आगे खाना हुई। मेना के खर्च के लिए खजाना भी साथ-साथ चला। घुड़सवार आगे-आगे चल रहे थे। धार (बाजा) तथा दार बज रहे थे। हाथियों का भुड

१. 'कुमारसम्भवम्' ८-१३५।

२. 'वेतनग्राम' या 'जीवितम् ग्राम' (निर्याहार्य प्रदत्त ग्राम) दोनों अर्थ हो सकते हैं। सं० हि० सं०।

३. 'ग्रान्थ महाभारत', विराट पर्व ३-११६।

माय चल रहा था। राजाओं, मंत्रियों तथा मुनियों के निवास भी साथ चल रहे थे। बुद्ध मेना निवास की रक्षा के काम पर तैनात थी।<sup>१</sup> (हिन्दू राजाओं के निवास और मुसलमान सुल्तानों के हarem की स्त्रियों का दंड-यात्रा में साथ चलना भारतीय इतिहास में एक साधारण बात है।) ध्वज फहरे। दु दुभिया बजी। बीरगण डफ, डोल, मृदंग तथा सिंघे बजाने लगे। सेनाओं के आगे पीछे तथा बराबर में बड़े-बूढ़ों से आशीर्वाद पाये हुए सेनानी चम रहे थे। सैनिकगण 'कुत्तल', 'ईंटे', छुरी, भाले, तीर, बटार, गदा आदि आयुधों से सुसज्जित थे। उनमें से कुछ तो 'वीर-सन्धासी' बन गए थे और कुछ ने यह समझकर 'सर्वस्व दान' कर दिया था कि अब जीवित लौट आने का क्या भरोसा? इस प्रकार सज-धजकर अम्बदल, गजदल, रयडल और पैदलों की चतुरंग सेना शत्रुओं पर टूट पड़ी। मार-काट मच गई। अंधेरा होने ही दोनों ओर से लड़ाई रोक दी जाती थी। (यह हिन्दुओं का युद्ध-धर्म है। मुसलमानों ने इस नीति का पालन नहीं किया। वे प्रायः अंधेरी रातों में अचानक हिन्दू सेनाओं पर टूट पड़ने, घोर मार-काट मचाने और इस तरह युद्ध में जीत जाने थे।) रात के समय जब युद्ध बन्द रहता, तो दोनों ही पक्षों के लोग रण-भूमि में हताहत पड़े अपने सैनिकों को खोज लाते, मृतकों की अत्येष्टि करते और घायलों की मरहम-पट्टी तथा दवा-दारू की व्यवस्था करते। सवेरा होने ही फिर युद्धारम्भ हो जाता। इस प्रकार जब शत्रु-महार हो गया, तो मेना जय-जयकारों के साथ लौट पड़ी।

यह है 'कुमारसम्भवम्' के युद्ध-वर्णन का संक्षेप। 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि' में भी राजाओं की दंड-यात्रा के विषय में विस्तार के साथ लिखा गया है।<sup>२</sup> "कूच के लिए शरत् अथवा वसंत ऋतु उत्तम हैं। कूच के समय शत्रुनाशजुन का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। पत्रा देखकर घड़ी-मुहूर्त आदि निश्चित करने चाहिए। 'चतुर्विधोपायो का प्रयोग'

१. 'कुमारसम्भवम्,' ११-५।

२. प्रकरण १, अध्याय २, पृष्ठ ११७ से १७२ तक।

करना चाहिए। रणभूमि में सैनिकों का उत्साह बढ़ाकर शत्रु का नाश करना चाहिए।" आदि युद्ध-नैतिक-वचन इस पुस्तक में विस्तार के साथ वर्णित हैं। चालुव्यों की युद्ध-पद्धति से काकतीयों की युद्ध-पद्धति का भी कुछ पता चल सकता है।

पश्चिम-चालुव्यों ने युद्ध में घोड़ों के महत्व की पहचाना था। सोमेश्वर ने लिखा है: "यवन देश तथा कावोज देश (अफगानिस्तान) के घोड़े हों और उनमें काम लेना जानने वाले सुशिक्षित सैनिक भी हों तो रिसाले की शक्ति बड़ी-बड़ी होगी है। शत्रु दूर भी हो तो रिसाला उस पर विजय प्राप्त करके लौट सकता है। घोड़ों से यश की प्राप्ति होती है। जिसके पास सशस्त्र-दल हो, उसका राज्य स्थायी होती है।

'यस्यावधाः तस्य भूस्विरा।'

'अभिलषितार्थचिन्तामणि' में उस मुख-भोग पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है, जो उन दिनों राजा-महाराजा और धनी-मानी भोग करते थे। यहाँ पर हम इस पुस्तक में वर्णित मुख-भोगों से सम्बद्ध तथ्यों का सारांश-भर ही दे रहे हैं:

"स्नान-गृह जगमगाने स्तम्भों, स्फटिक के चमचमाले चबूतरों, काँच के कुट्टिमों (फर्नचन्दियाँ), मूर्तियों तथा चित्रों में शोभित हो। हर तीसरे दिन 'अभ्यंग स्नान' करना चाहिए। द्वितीया, दशमी तथा एकादशी की तिथियाँ दर्शनीय हैं। 'गंदगी', 'आज्रिकाय' (आयफल?), पुन्नाग, चपक आदि को 'यक्ष्मपीडित तिल-तेल' में पकाकर मिर-स्नान के लिए उपयोग करना चाहिए। नेत्र की चित्रनाई दूर करने के लिए शरीर पर बेसन का उबटन मचाना चाहिए। उबटन के बेसन में 'कोष्टमु', 'तङ्गोलमु', 'मुस्त', 'माचिपत्रि', 'तगरम', 'सासी', 'वायिट', कमलगट्टे आदि जड़ी-बूटियाँ छाँह में सुघाकर घोर फिर नीबू, तुलसी तथा 'आर्जवम्' की

१. 'अभिलषितार्थचिन्तामणि', प्रकरण, १, अध्याय २, पृष्ठ ६६।

२. स्नान के समय मिर को भी घोंपें तो वह 'शिर-स्नान' कहलाता है, मिर भिगोया न जाय तो 'कंठ-स्नान'।

पत्तियों के साथ पीसकर, इसाबची, जायकन, सरसो, निल, धनियाँ, 'तगिरिम', (चकवेंड<sup>१</sup>) लवण, नोप्र, 'थौगंधमु', अगुरु आदि के साथ मिद्ध कर लेना चाहिए ।"

उनका तामूल अर्धान् पान का बोडा नी अमाधारण ही होता था । "मुपारी को कपूर के रस में भिगोकर उसमें थोखंड चन्दन और कस्तूरी मिलाकर मुत्वा लेना चाहिए । उसमें और भी द्रव्य साथ ही डालकर, 'गोधा' जाय तो ठीक है । मोती को उपलो की भट्टी में उतारकर उसकी भस्म के चूने को पान के साथ खाना चाहिए । हरा कपूर, कस्तूरी, धनमार आदि पान के साथ ही खाये जायें । तक्कोल, जामफल आदि को बूट-पीसकर उनकी गोलिएँ बनाकर रखनी चाहिए । ये गोलिएँ भी पान के साथ ही खाई जायें ।"

उस युग में राजाओं के 'बम्न-भंडार' अलग होने थे । इस पर एक पृथक् अधिकारी नियुक्त रहना था । देग-देशान्तरी में बम्न भेजवाए जाते थे । पोहनपुर, चीरपल्नी, अवंती, नागपट्टणमु, पाट्यदेश, अल्लिकावरमु, मिहल, गोवाकमु (गोवा), मुरापुरमु (उत्तर सरकार का मुरपुर), गुजण, मूनस्थान (मुनतान ?), तोडीदेश (मद्रास के दक्षिण में स्थित तुडीर), पचपट्टण, महाधीन (चीन), कलिंग, वग (वग, बंगाल) आदि में रंग-विरंगे कपड़े घाने थे । मजिष्ठ, लाव, कौमुभ, सिद्रूर, हरिद्रा, नील आदि से नानाविध रंग तैयार किये जाने थे । चीर (साड़ी), 'घट्टकमु', मेल्ता, दुपद्नु, (दुपट्टा या चादर), अंगी (अगिका :, अगरमे), उप्पीप (पगड़ी), टोपी, (टोपिका) आदि विविध परिधानों का प्रचलन था । तब तक 'अंगी' शब्द तो बार्फी प्रचलित हो चुका था, पर 'टोपी' शब्द पहली बार यहाँ पर सुनने में आता है । "बमन ऋतु में सूती कपड़े, गर्मियों में बारीक उज्जने कपड़े और वर्षा ऋतु में ऊनी कपड़े पहनने चाहिए ।"

१. दक्षिण के पठारों में जाड़ी का जोर नहीं होता । सर्दियों वर्षा-ऋतु में ही पड़ती है ।

२. इसे लगाने से जमड़े की जुजलाहट मिटती है ।

राजाओं को सदा अपनी अंगी-टोपी पहने रखनी चाहिए ।”

‘अभिलषितार्थचिन्तामणि’ में अन्नभोग, आसनभोग तथा आस्थानभोग इत्यादि के जो विस्तृत विवरण दिये गए हैं, उनसे उस समय के राजाओं के मुख-भोग का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है ।

इस अध्याय के प्रधान साधन ग्रन्थ

१. नन्नेचोडु ‘कुमारसम्भवम्’ ।

२. ‘ग्रान्थ महाभारत’ (तेलुगु भारतम्), विराट पर्व के अन्त तक ।

३. बालुबय सोमेश्वर ‘अभिलषितार्थचिन्तामणि’, प्रथम सप्तक,  
(मैसूर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित)

## काकतीय युग

वरगल के काकतीय चक्रवर्तियों ने अनुमानत सन् १०५० से १३५० ई० तक शासन किया। आन्ध्र के आदि कवि नन्नय भट्ट सन् १०५० ई० के लगभग हुए। वह पूर्वी चालुक्यों के आस्थान-कवि थे। इस प्रकार चालुक्यों तथा काकतीयों का शासन-काल लगभग एक ही रहा है।

नन्नय भट्ट ने पूर्वं आन्ध्र के सम्बन्ध में हमें जो थोड़ी-बहुत बातें मालूम हो सकी हैं, वे नहीं के बराबर हैं। नन्नयकालीन परिस्थितियों से भी हम लोग भली भाँति परिचित नहीं हैं। जो थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है, वह काकतीयों के ही सम्बन्ध में होती है।

काकतीय साम्राज्य की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करने के साधन हैं—शिलालेख, रचनाएँ, सिल्य-सामग्री, विदेशी यात्रियों के संस्मरण, सिक्के, दन्तकथाएँ और लोकोक्तियाँ। इनमें से हमें जो कुछ भी और जितना कुछ भी मिल जाय वह हमारे लिए बाम का होगा। इन्हीं के आधार पर हमें आन्ध्र जाति के आरम्भिक इतिहास के समय जनमाधारण की राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियों का थोड़ा-बहुत पता चलता है। आन्ध्र के अति प्राचीन ग्रन्थ 'प्रतापरद्रधिरित्रम्' में लिखा है कि काकतीय वंश के राजा तालि-वाहन सम्बत् के आरम्भ से ही शासन करने रहे, परन्तु यह सरासर गलत



है, क्योंकि आन्ध्र देश के इतिहास के अन्दर स्थान प्राप्त करने वाला पहला वावर्तीय राजा है प्रोगाराजु । इसीलिए इस अध्याय में सन् १०५० से १३२३ ई० तक अर्थात् बरगल के पतन तक के आन्ध्र के उस सामाजिक जीवन की चर्चा की जाती है, जिसका विवरण अभी तक उपलब्ध हो सका है ।

### धर्म

हमारे लिए धर्म प्रधान जीवन-विधान है । इसलिए उसी के सम्बन्ध में सबसे पहले विचार करेंगे । उस समय आन्ध्र देश के अन्दर बौद्ध धर्म का लगभग अन्त हो चुका था, किन्तु जैनियों का जोर था । लगता है कि श्री गकराचार्य का प्रभाव आन्ध्र देश पर नहीं पड़ा । यहाँ उनके समकक्ष कुमारिल भट्ट ही का बोलबाला था । कुमारिल के दर्शन-तत्त्व का प्रयत्न प्रचारक प्रभाकर तो उत्कल-निवासी था, पर स्वयं कुमारिल ठेठ आन्ध्र में और गजाम जिले में जयममल नामक ग्राम में पैदा हुए थे । कुमारिल भी जैनियों के परम शत्रु थे, किन्तु वह जैनियों को यहाँ से मिटा नहीं सके थे आन्ध्र और बर्माटक के अन्दर जैनियों को सहस्र-सहस्र करने वाले 'वीर शैव' ही थे । वीर शैवों ने शास्त्रार्थ का अधिक गहारा नहीं लिया । जात-पात में रहित सर्वजन-समाजता के जैनी सिद्धान्त को तो शैवों ने अपनाया, किन्तु जब तक और जहाँ-जहाँ वाद-विवाद और शास्त्रार्थ में जैनियों को झुग न सके तब तक और जहाँ-तहाँ उन अहिंसावादियों पर हिंसा का प्रयोग करने में शैव लोग तनिक भी पीछे नहीं हटे । यही वीर शैव हैं, जिन्होंने राजाओं को अपने धर्म में करके उन्हें वीर शैव धर्म की दीक्षा देकर, उनके मन्त्री और सेनावी बनकर, अन्य राज्यों को अपने अधीन करके, बचा-बहानियों से, कपोल-वत्पनाओं से, बटार-तनत्राओं तथा अन्य अनैक उपायों से उस 'पर-धर्म' को जड़मूल से उखाड़ फेंका था और निष्कटक होकर यहाँ पर वीर-विहार रिया था । जैन मूर्तियों को उखाड़ फेंककर उन्होंने उसी जगह पर विष्णु-महादेव

की स्थापना की। हाँ, जैनियों की थोड़ी-बहुत नग्न मूर्तियों को शैवों ने यदि अपने वीरभद्र की मूर्ति में परिवर्तित कर लिया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। हम लोग आज भी जहाँ-तहाँ मन्दिरों के बाहरी भागों में जैन मूर्तियाँ पाते हैं। हैदराबाद के अन्दर गद्दवान के निकट पूडूर नामक ग्राम में मन्दिर के बाहर कुछ ऐसी जैन मूर्तियाँ हैं, जिन्हें गाँववाले 'बाहरी देवता' के नाम से याद करते हैं। वहीं पर एक शिनायेख भी है, जो 'जैन दामन' कहलाता है और जो आठवीं शताब्दी पुराना है। इसी प्रकार करीम नगर जिले के 'बेमूलवाड़ा' में भी जैन मन्दिर 'शिवालय' में परिवर्तित हुआ। मन्दिर में पहले से प्रतिष्ठित अमली जैन मूर्तियाँ बंधारी दरवान बनकर मन्दिर के दरवाजे पर लगी हैं। आन्ध्र के अन्दर ऐसे हृष्य अनेक स्थानों पर देखने में आते हैं। हिन्दू जब जैन मूर्तियों को जहाँ-तहाँ ऐसी शक्ती में पाते हैं तो उनकी नग्नता को छिपाने के विचार में उन पर मिट्टी पोत देने हैं, अथवा चियड़ा या मून लपेट देते हैं, जोगीपट का कस्बा किसी समय पूरांतपा जैन (जोगियों की) बस्ती थी। वहाँ पर आज भी जैन धर्म के अनुयायी मौजूद हैं। यहाँ से कुछ दूर 'कोनन पार' जैनियों का सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान है, जहाँ दूर-दूर से लाखों यात्री हर साल आते हैं। हैदराबाद शहर में भी जैनियों के प्राचीन मन्दिर मौजूद हैं। बरगन और हनमन्तोडा में शहर के अन्दर और बाहर पहाड़ी चट्टान पर भी बहूनेरी जैन मूर्तियाँ मौजूद हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी समय मारे तेलगाने में जैन-धर्म का ही बोलबाला था।

राजकीयों के राज्य-काल में जैन, शैव और बौद्धों में अपने-अपने धर्म के प्रचार और उनकी प्रवचना की प्रतिष्ठा के लिए परस्पर होड़ लगी थी। इन तीनों सम्प्रदायों के बीच यहाँ एक समानता रही कि तीनों ही ज्ञान-प्राप्त को मिटाकर सब को समान मानने थे। यह कहा जा सकता है कि आन्ध्र के अन्दर ब्रह्मिष्ठ अर्थात् आन्ध्र के आदि-ब्रह्म श्री नम्रप नट्ट, बर्राप्रगडा और निड्डना मोनयाजी ही वर्णाश्रम धर्म के

गए थे। कहीं-कहीं सोमनाथ के लेखों में इसकी और स्पष्ट संकेत भी है।<sup>१</sup> इस प्रकार सन् १२०० ई० तक जैनधर्म क्षीण हो चुका था और उसकी जगह वीर-शैव धर्म स्थापित हो चुका था।

ठीक उसी समय ग्रान्ध देश के अन्दर वैष्णव धर्म भी वीरशैव में आविष्ट हो रहा था। 'वीर वैष्णव' के रूप में वह भी 'वीर-शैव' के सामने ताल ठोककर खड़ा हो गया। वैष्णव धर्म या शैव धर्म कोई नये सम्प्रदाय नहीं थे। तमिलनाडु के अन्दर वे चिरकाल से चले आ रहे थे। शैव-धर्म वैष्णव धर्म से भी अधिक प्राचीन है। ये दोनों सम्प्रदाय तमिलनाडु में ही ग्रान्ध देश में आये। दोनों ही सम्प्रदायों के प्रचारकों के बीच मूल स्पर्धा रही। दोनों ने अपनी-अपनी मर्यादा बढ़ाने के लिए शूद्रादि जनो में अध-भक्ति बिठाकर उन्हें अपना अनुयायी बना लिया। इस विचार में कि फिर कहीं वे अपनी गोंदी से निकल न भागें, शैवों ने अपने अनुयायियों के गले में महादेव का लिङ्ग बाँध मटकाया और वैष्णवों ने अपने चेलों के शरीर पर मुद्राएँ दाग-दाग दी। वे शङ्ख, चक्र आदि के मुहर भाग में तपाकर भुजाओं आदि पर दाग देने में और निपुण निपक लगा देने में। गोन बुढारेट्टी की रामायण को द्विपद में लिख डालना भी वास्तव में वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए शैवों का एक अनुकरण मात्र ही है। बाद में अपने छोटी-छोटी द्विपदों के कारण प्रसिद्ध निरवंगलनाथ ने निरी शिव-निन्दा के द्वारा विष्णु भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने "परम योगी विलासम्" के नाम से एक पूरा पुराण ही द्विपद में लिख डाला।

जैनियों के रगभूमि में तुल हो जाने के बाद इस धार्मिक उन्माद के गदा-मुद्द के लिए वीर शैव और वीर वैष्णव ही बचे रहे। इन दोनों ने

१. "जैनियों की ताड़ना करके" (पाल्कुरिकी)।

"जैन, बौद्ध, चार्वाक ये तीन दुष्पथ सम्प्रदाय हैं। इन तीनों को निर्मूलत करने तक तीनों शाम तुम्ह पर तीन पत्थर फेंका जाएगा।" (पाल्कुरिकी जसख पुराण, १८०)। "जैनों कहलाने माने सभी लोगों को मिट्टी में निलाकर" (पाल्कुरिकी ब० पु० १६२)।

आपस में जो गानी-गलौज है, उनका एक पूरा महाभारत तैयार हो सकता है। इन्होंने मन्दिरों के अन्दर मूर्तियों के रूप भी, जब-जब बन पड़ा, बदन डाले। सुप्रसिद्ध तिरुपति वैक्कटेश्वर मूर्ति के सम्बन्ध में कावतीय कालीन श्रीपति पंडित ने अपने 'श्रीकर भाष्य' में लिखा है कि वह वस्तुतः शैव धीरभद्र की मूर्ति थी, जिसे विष्णु की मूर्ति में परिवर्तित किया गया।<sup>१</sup> श्रीपति पंडित ने यह भी कहा है कि यह बनात् परिवर्तन श्री रामानुजाचार्य द्वारा हुआ है।

जिन प्रकार उन्होंने जैनियों के विरोध में पढ़ते कहा था कि भले ही प्राण जायें तो जायें पर जैन मन्दिरों के अन्दर पग न धरेंगे, उनी प्रकार अब वीर वैष्णवों तथा शैवों ने आपस में ही एक-दूसरे को घाड़ल, घाँसि कहकर गानी-गलौज शुरू कर दी। वे अपने-अपने इष्टदेव को बड़ा निंद करने के लिए "हमारा देव बड़ा, हमारा देव बड़ा" चिल्लाने बादविवाद करने रहें और अपने-अपने कथन की पुष्टि में कथामो तथा पुराणों की सृष्टि करने रहे। जैनो, शैवों तथा वैष्णवों का यह परस्पर द्वेष-भाव ही कावतीय राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण बना।

शैवों तथा वैष्णवों के बीच चाहे जो भी झगड़े रहे हों, इनमें सन्देह नहीं कि उन दोनों ने ही जान-भाँत का नाम-रूप मिटाने का प्रयास किया है। शैवों ने घोषित किया कि गने में लिंग धारण करने वाले सभी लोग एक ही जाति के हैं। वैष्णवों ने घोषणा की कि समाधायण (मुद्रा दगवा) करके तिलक त्रिपुंड लगाने वाले सभी लोग समान-वृषीन हैं।

'पल्लनाटि वीर चरित्र' के अनुसार बह्मनाडु का ब्राह्मण जाति ने नेकर चाड़ल जाति तक की स्त्रियों के साथ अनेकों विवाह करना, उनके

१. "ननु वैक्कटेश्वर-विठ्ठलेश्वरस्थाने विष्णोरोश्वर शब्दिधयणात्.....

वैक्कटेश्वरस्थाभास विष्णुत्वं, तदंगे नामभूषणादि धर्माणां द्योतनात् भूतविषहे शंसचक्रादि सांघना नामदर्शनात्..... किंच तत्पाप्ययोदेशे शिवसिग-दर्शनादीश्वर शब्दो ध्यवहियते ।"

मुख्य अधिकारी कन्ननीडु का ग्रहाननायुद्ध को पिता मानना, रणभूमि के अन्दर मालें, भादिर्ग (चमार, पासी) बेलमें (ठाकुर) लोहार, बढई, कुम्हार आदि का वैष्णव मतानुयायी बनकर एक पगत में बैठकर 'चटाई भोजन' पाना अर्थात् एक ही चटाई पर बैठकर भोजन करना, आदि सभी विषय विचार करने योग्य है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बेलमें सुधारवादी थे और रेड्डी कट्टर पक्षी। स्वयं पल्लनाटि-युद्ध का भी एक मुख्य कारण यह 'चटाई भोजन' था।

बेलमें लोगों की चर्चा आई है, इसलिए मसौप में उनके बारे में भी दो शब्द लिख दें। ये बेलमें कौन थे? इसका टीक-टीक पता अभी तब नहीं लगा है। वरगल में एडम् देवी के शासन तथा मुसलमानों की दह-यात्रा (चढाई) के दौरान में इन रेड्डियों और बेलमों के बीच यह स्पर्धा उत्पन्न हुई, जो नित्य घटती ही गई और अन्त में दोनों राज्यों के पतन और विनाश का कारण बनी। ऐसा लगता है कि एडम् देवी ने बेलमों को एक प्रकार की त्रिशिष्टता दे दी और रेड्डियों के साथ किसी दूसरे प्रकार का व्यवहार किया। कवि श्रीनाथ ने लिखा है कि बेलमें वीर वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे और कोंडनीडि रेड्डी राजा परम सौवाचार-गरा-यण थे तो फिर 'श्रीदाभिराममु' के इस वाक्य का क्या अभिप्राय होगा?

—“यहाँ पर खाल मौत-पुत्रों ने धरती को बाजी पर लगाकर घोर युद्ध किया?” पल्लनाटि युद्ध के अन्दर आपस में ही लड़ मरने वाले इन दोनों ही पक्षों के लोग एक-दूसरे के जाति-भाई ही थे फिर कवि ने उन्हें 'खाल-मौत-मन्नान' क्यों कहा? मेरे विचार में बेलमें ग्रान्ध देग के निवासी नहीं थे। रेड्डियों की भी यही दशा थी। ऐसा लगता है कि

१. “आदबल्लि-वासिनी नायिका की कुमंत्रणा  
कुवहुट-रण का व्यसन, चटाई का सहभोजन  
यही तीन हैं प्रथम हेतु, पल्लनाटि युद्ध में  
एकांगी संहार हुआ वीरों का जिनमें !”

—श्रीदाभिराममु

इनमें में एक जाति तो उत्तर की ओर में आई थी और दूसरी दक्षिण की ओर में । उत्तर के 'राष्ट्रकूट' के निवासी जो यहाँ आ बसे, वे रेड्डी कहलाये और मं० ११००, ई० के लगभग वेल्मान जानि के जो लोग दक्षिण के तमिल देश से आकर कान्चीय मेना में भरनी हुए, सम्भव है वही बाद में वेनमें कहलाने लगे हों ।<sup>१</sup> नये-नये ही आये होने के कारण वेनमो को रेड्डीयो ने अपने से हेठा माना और उनमें दुश्मनी मोल ली । पन्नाटि वीर चरित्र में हैहय दायादो ने युद्ध किया था । हो सकता है कि वे स्वामि रहे हों, और इमीनिए कवि ने उपर्युक्त वर्णन प्रस्तुत किया हो ।

वीर वैष्णवों की अपेक्षा वीर शैवों ने जात-पात का विध्वंस अधिक किया है । उन्हें इस मामले में ब्राह्मणों के विरुद्ध भी नडना पडा था । "कोपम् शेषेण पूरयेन्" के न्यायानुसार वे तर्क को त्यागकर 'त्वम् शुठः', 'त्वम् शुठः' कहकर धक्कर गाली-गलौज पर भी उतर आते थे । 'पाल्कुरिकी वसव-पुराण' के कुछ उद्धरण यों हैं :

"शूलपाणि-भक्तों को उठते हाथ उठें यदि  
कंठ-रन्ध्र-उपवीत मालें को,—दोष नहीं क्या ?"<sup>२</sup>

×

×

×

"असम-नयन को सेवा जो न करे वसुधा में  
अधज भी क्यों न हो भला, वह अधम मानें है !"<sup>३</sup>

"पूज्य भला क्या ये त्रिपुण्ड्रधारी कुत्ते हैं ?"<sup>४</sup>

"...आगम-भाराशत तथा दशपिन ब्राह्मण ये  
वास्तव में सादी ढोले गर्दभ-समान है !"<sup>५</sup>

१. यस्टन : "कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑफ साउथ इंडिया ।"

२. (पृष्ठ) 'पाल्कुरिकी वसव-पुराणम्,' पृष्ठ १६ ।

३. (,,) " " " " २०७ ।

४. (,,) " " " " २२७ ।

५. (,,) " " " " २२५ ।

उन्होंने इतने ही पर बस नहीं किया। ब्राह्मणों को उन्होंने कर्म-चाण्डाल, व्रतभ्रष्ट, दुर्जाति, पशुकर्मों आदि अनेक दुर्वचनों से घुरा-भना कहा है।

जात-पात का यह भेद-भाव वैसे तो हिन्दू धर्म में चिरकाल से चला आ रहा था। लेकिन इन वीर शैवों तथा वीर वैष्णवों के कारण काकतीय शासन के पतन के पश्चात् वह और भी स्थिर होकर अनेक नई जातियों के जन्म का कारण बना। शैवों में लिंगायत, बलिजें, जंगा, तबळ इत्यादि नई जातियाँ पैदा हुईं। इसी तरह वैष्णवों में भी नम्ब, सात्तार, दासरी आदि कई नई जातियाँ बन गईं। शैवों ने धर्म के नाम पर नवयुवतियों को 'बसविन' बना दिया। बसविनें आजीवन अविवाहित रहकर व्यभिचार-श्रुति करती थीं। वैष्णवों ने भी समाश्रयण करके देवदासियों का जत्था तैयार किया। काकतीयों के बाद अधिकतर शैव वैष्णव हो गए। इन धर्म बदलने वालों में मुख्य रूप से रेड्डी ही थे।

काकतीय वंश में प्रोल राजु तक सारा राजपरिवार जैनी था। प्रोल राजु का बेटा शैव बना। इस राजवंश का काकतीय नाम काकती देवी के नाम पर था, पर यह 'काकती' कौनसी देवी है, इसका पता उस समय के लोगों को भी नहीं था—बलुवाचैर के शिला लेख में लिखा हुआ है, "काकत्या पराशक्ते. कृपया कूटमाण्ड-बल्लिका काचित्। पुत्रमसूत तदे तत्कुलमनघम् काकति संज्ञमभूत्।" काकतीय लोग क्षत्रिय नहीं थे, यह बात स्वयं विद्यानाथ ने लिखी है,<sup>१</sup>

शैव हो जाने के बाद काकतीयों ने जैनियों को खूब मत्ताया। 'सोमदेव राजीयम्' में लिखा है कि गणपतिदेव ने "अनुमबाई के बौद्धों तथा जैनियों को बुलवाकर उन्हें प्रसिद्ध विद्वान् निक्कनें के साथ शास्त्रार्थ करने पर मजबूर किया।" निक्कनें नेल्नर के राजा मनुमैमिड का दर-वारी कवि था। इसी 'सोमदेवराजीयम्' में लिखा है कि वरगल के

१. 'अत्यकन्दुकुतप्रशस्तिमसृजत्'—प्रतापरुद्रीयम्।

गदा गगुपति देव को अपना साथी बनाने के लिए नेन्नूर के राजा नुमोनद की ओर ने निक्कन को दरंगल भेजा गया था। इसी अवसर पर उनने जैनो और बौद्धो को परास्त किया था। गगुपतिदेव ने जब निक्कना की वाक्पटुता से प्रभावित होकर जैनियों के मिर उड़ा दिए और बौद्धों को बरबाद कर दिया।<sup>१</sup> इन सब बातों से इस विचार की पुष्टि होती है कि मात्र महान्नास्त के प्रणेता कवित्रय का आधिपत्य केवल भाषा तक ही सीमित नहीं था, वे केवल पुराणों के ही रचयिता नहीं थे, बल्कि मध्यकालीन ज्ञान-गान तत्त्व के समर्थक तथा प्रचारक भी थे।

काकतीय शासन-काल में बौद्धों तथा जैनो के सम्प्रदायों के अनि-रिक्त और भी अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। श्रद्धातवादी, ब्रह्मवादी, पंचरात्रवादी, एकारमवादी, अभेदवादी, धून्यवादी, जातिवादी, कमवादी, नास्त्विक, चार्वाक-संन्या, प्रकृतिवादी, शब्दब्रह्मवादी, पुण्यत्रयवादी, लोका-यतवादी<sup>२</sup> इत्यादि मतावलम्बी भी उन दिनों मौजूद थे।<sup>३</sup>

काकतीय काल में शैवों ने अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए 'गोनकी मठों' की स्थापना की। मठाधीशों ने कुछ महान् विद्वान् भी हूषा करने थे। वे अपने मठों के अन्दर विद्यादान तथा अध्यापन का काम किया करते थे। गोनकी मठों में शैव सम्प्रदाय की शिक्षा तथा शास्त्रों का अध्ययन मस्कृत भाषा में ही हूषा करता था। गोनकी मठ एक प्रकार से शैव-सम्प्रदाय के 'गुरुकुल' होते थे।

गोनकी मठों के संचालन के लिए राजा-महाराजा तथा धनी-मानी आमदान तथा भूदान दिया करते थे और दान-पत्र निम्न देने थे। यदि गोनकी मठों का चर्च नहीं रहा, केवल जंगम मठ अथवा जगम-वादी मात्र ही रह गए। हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत महबूदनगर

१. 'पंडिताराध्यचरित्र', प्रथम भाग, पृष्ठ ५०६-७।

२. 'सिद्धेश्वरचरित्र'।

३. 'पंडिताराध्यचरित्र', प्रथम भाग, पृष्ठ ५११।



जिले के गंगापुर में दो सूने मन्दिरों के खंडहर हैं। गाँव वाले उन्हें 'गोलनवक—गुल्नु' कहते हैं। 'गोलन' के माने ग्वाने के हैं और 'अक्का' वहन को कहते हैं। शब्द 'गोलकी' और ग्वालावाची शब्द 'गोल्ला' में शाब्दिक समानता पाये जाने के कारण गाँव में एक किंवदन्ती भी चल पड़ी कि किसी सुन्दरी ग्वानिन पर शिवजी मोहित हुए, उसके साथ सुखभोग किया तथा अन्त में उस ग्वानिन को यह वरदान देकर अन्तर्धान हो गए कि प्रतिदिन सबेरे अपनी मुट्ठी के अन्दर वह जो कुछ बन्द कर ले, वह सोना हो जायगा। कहते हैं कि ग्वानिन ने उसी सोने से ये मन्दिर बनवाये थे। सच तो यह है कि उसी स्थान या उसके आसपास उस समय गोलकी मठ रहे होंगे। यह भी लगता है कि गोलकी मठों के अन्दर कुछ भी शिव धर्म में दीक्षित ब्राह्मण ही हुमा करते थे।

"इन्हीं (ब्राह्मणों) के परामर्श के कारण प्रतापमन्द के काल में भान्ध देश के अधिकांश शिवालयों से पुराने 'तम्मन्नु' पुजारियों को हटाकर उनकी जगह पर ब्राह्मणों को 'अर्चक' नियुक्त किया गया।"<sup>१</sup>

"पहले सभी शिवालयों के पुजारी तम्मल्लु या तम्मल्ल जाति के लोग ही हुमा करते थे, जो 'जिम्य' कहलाते थे।<sup>२</sup> आज भी कुछ शिवालयों के पुजारी तम्मल्ल ही चले आ रहे हैं। शिव देवलों से तम्मल्लों के हटायें जाने पर ही शायद किसी भवन में यह प्रयोग किया है।

"शिर्षालम्-समुद्रुय के दिन से

शिव को भजने जाता कोई

ऐसा न हुआ, जिसने अर्चक

तम्मल्ल का कभी विरोध किया।"<sup>३</sup>

कावतीय युग के राजा गणपतिदेव ने एक गोलकी मठ के पीछे

१. वे० प्रभाकर शास्त्री, 'बसव-पुराण पौठिक' (भूमिका), पृष्ठ ७६।

२. वही, पृष्ठ ११४।

३. 'बसव-पुराण' (पाल्कुरिक) पृष्ठ ७३।

गुरु विश्वेश्वर शिवाचार्य के हाथों दीक्षा ग्रहण करके कृष्णा नदी के तट पर मंदड नाम के ग्राम में गोलकीमठ, विश्वेश्वर विद्यामंडप की स्थापना की थी।<sup>१</sup>

“मंदडुग्राम के उपभोक्ता बनकर और दक्षिण राठ से आये हुए कालामुखियों के साथ बेलगाँवपूडि के मठों में विद्यालय स्थापित करके ग्राम्य देश के अन्दर विज्ञान फैलाकर विश्वेश्वराचार्य जैसे विद्वद्गण इन काकतीयों के समय में ही यहाँ पर जम चुके थे। कुमार स्वामी ने भी लिखा है कि काकतीय गणपति देव ने गणपेश्वर मन्दिर का निर्माण करके वहाँ पर अनेक विद्वानों को आश्रय दिया था। इन्हीं के सम्बन्ध में ‘प्रतापरदीयम’ में विद्यानाथ ने कहा है—“राजन्तेते गणपेश्वर सूरयः”।<sup>२</sup>

काकतीयों के शासन काल में ही सम्भवत शैव वैष्णव सम्प्रदायों के समन्वय के विचार से हरि-हर भगवान की मूर्तियों की पूजा होने लगी थी। कहते हैं कि नेल्लूर में ऐसी एक मूर्ति थी। तिरुप्पा सोमयाजी ने ग्राम्य महाभारत के अपने पहले पद्य में ही इस ‘हरि-हर’ मूर्ति का वर्णन किया है। “लक्ष्मी रूपी गौरी के लिए मनमोहक रूप धारण करके हरिहर भगवान की भद्र मूर्ति बनकर।” उसी प्रकार गुप्ति प्रान्त के निवामी नाचनें सोमनें ने भी अपनी “उत्तर हरिवंश” नामक कृति “हरि-हर” नाम को ही समर्पित की है।

नाचनें सोमनें के समय (लगभग सं० १३०० ई०) में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के बीच द्वेष-भाव खूब रहा होगा। तभी तो उन्होंने लिखा है :

परस्पर वादविवाद भोह-भद  
पो-पी मरते हरिपद हर-पद  
यह शुभ वह शुभ के चक्कर में

१. वे० प्र० शास्त्री, ‘पोठिक’ (भूमिका), पृष्ठ ७५।

२. ‘पल्लटि थोरचरित्र’, द्वितीय भाग, अक्किराजु उमाकातम् जो की पोठिक (भूमिका)।

रह जाते कंताश शिविर में  
 जुड़े हुए श्रयियों-भुक्तियों में  
 माना हैं और हरिहर में  
 वही मुरारी, वही पुरारी  
 बने परस्पर के समकारी  
 यह विचार ही घोर मोह है,  
 दोनों के प्रति महा झूठ है ।<sup>१</sup>

हम कह सकते हैं कि मूर्ति-पूजा और अनेकानेक सम्प्रदायों ने ही हिन्दुओं में फूट डालकर उन्हें कमजोर कर दिया है। जन-भाषाकरण ने "महा शक्ति" के शक्ति-भेद को भिन्न-भिन्न रूप देकर छून के रंगों के लिए अलग-अलग देवियाँ बनाकर खड़ी कर ली, और भक्त-जनों को देवता बनाकर पूजा। वाकतीय नाम से जिन देवी-देवताओं की पूजा होती थी वे वे थे—

१—एकवीर—यह कोई शैव देवी ही हो सकती है। इस पद्य के आधार पर स्पष्ट है कि यह देवी (परशुराम की माता) "शैलुका" हैं। "एक वीर वाकतम्मः ही हैं ।"<sup>२</sup> माहूर नामक ग्राम में प्रतिष्ठित होने के कारण इन्हे माहूरम्म में भी कहा जाता है ।<sup>३</sup>

यह एक नाममूर्ति है ।<sup>४</sup> इसी देवी को आजकल तेलंगणा के रायन-मीमा के चन्दर 'गन्धम्म' देवी कहा है ।<sup>५</sup>

वरगल में 'गन्धम्म' नाम की एक प्रसिद्ध देवी का स्थान है। यह

१. उत्तर हरिवंशम्, अध्याय २, पद्य ६८ ।
२. श्रीशक्तिभिरामम् ।
३. श्रीशक्तिभिरामम् ।
४. "एकवीरम्मकु माहूरम्मकु अघाहींकारमध्यात्मकुन" (श्रीशक्तिभिरामम्) "श्रीशक्त्य कटोरमंजुषु देवी शम्भळीप्रातपुम् (श्रीशक्तिभिरामम्)
५. श्रीशक्तिभिरामम् ।

धनि प्राचीन भी लगता है। एल्लम्में बाजार के नाम से वरंगल में एक मुहल्ला है। पर यह नहीं मातूम कि वरंगल के अन्दर एल्लम्में के नाम से किसी नग्न देवता की मूर्ति आज भी है या नहीं। आनमपुर में जरूर ऐसी एक मूर्ति है। यह स्थान दक्षिण काशी और श्रीरंग (मंनेस्वर) पर्वत का पश्चिमी द्वार कहना है। 'नव ब्रह्मात्म्य' के अति प्राचीन मन्दिर भी यहाँ पर हैं। अष्टादश महान्तियों में से एक शक्ति 'जोगुल्लम्बे' इसी जगह पर है। "जोगी अम्बा" इस शब्द से ही प्रतीत है कि अमन जैन हो को बदाचिन् बनाय् शैव देवी बना दिया गया है। इसी आनमपुर में दो और मूर्तियाँ हैं जिनमें से एक का घड़ मात्र है, मिर नहीं है, और दूसरी एक स्थूल नग्न मूर्ति है जिसे स्थानीय जन एल्लम्में और रेगुका नाम से याद करते हैं। कहते हैं कि परशुराम ने पिता की आज्ञा में माता के मिर पर फरसा चना दिया था। कहते हैं कि मिर बटकर बनारो की चमरोटी में जा गिरा और घड़ मात्र वही रह गया। उनी म्यान पर प्राप्त एक हस्तनिर्मित चन्म में उल्लेख है कि यह देवी शक्ति शिवो की मुन्नान प्रदान करती हैं।

इसी एल्लम्में की कथा रेगुका की कथा के रूप में आज भी रायच-मीना के अन्दर और हैदराबाद के महबूबनगर जिले के अन्दर बघनीड नामक गाँवों (बनारों की एक) जानि वाले दो-दो दिन तक जबनिकें (या जबनिकें) नामक ढोंच बजाकर गा-गाकर मुनते हैं। बरनीयो के गामन-जाव में इसी बघनीड जानि की मित्राँ भी एल्लम्में की कथा पोग्-वीर-आदिन के साथ मुनाया करती थी। उनके बाजे की धुन होती थी—*डुम् डुम् डुम्, डुम् डुम् डुम्*।<sup>१</sup>

(२) मंनार देव—बदाचिन् यह भी 'एक बीर' की तरह पहले जैन देवता रहे से और पोंदे शैव देवता बन गये होंगे।<sup>२</sup> मंनार एक शैव का नाम है। इसीलिए इनका नाम मंनार देव पड़ा। शैव कविता में

१. बीड़ामिरामनु।

२. बीड़ामिरामनु।

मंलार देव को भैरव का जोड़ीदार बताया गया है ।<sup>१</sup>

(३) अन्य देवी-देवता ये हैं—भैरव, चामुण्डेश्वरी वीरभद्र, मानम्में कुमार स्वामी, पाडव, स्वयम्भूदेव (शिव), मुद्गार, मुसानम्मा ।<sup>२</sup>

(४) वीरगुह्य—ग्राम भी कई जगहों पर वीरगुह्य खड़े हैं । किसी स्थानीय व्यक्ति के वीरोचित कृत्यों के लिए स्मारक खड़ा करना उन दिनों का आचार था । उमाकान्तम ने कहा है कि पल्लनाटि वीर-गुह्य स० ११७३ के लगभग की पटना है । उन वीरों की पूजा पल्लनाटि में आज भी जारी है । जिस दिन यह गुह्य समाप्त हुआ उसी दिन में वीर पूजा का आचार चल पड़ा था ।

पल्लनाटि वीर-पुरय परम-देवत शिवलिंग भवननाटो (वरगन में भी) वर्तमान ।

कल्लिनि-ग्राम की पोतुलम्य, गुरिजाल ग्राम की गंगम्मा  
कुलदेवत ही नहीं, परम बायब भी ग्रामदेवियाँ ये  
उन अघोर-प्रेमी वीरों के लिए सदैव सहाय रहों,  
जो पल्लनाटि-समर-भागन में लड़ते हुए काम आये ।

कल्लिनी<sup>३</sup> पोतुलम्य तथा गुरिजाल गंगमाम्मा आदि ग्राम-देवी-देवताओं के मन्दिर भी वहाँ पर थे । और ये पल्लनाटि वीरों के कुल-देवता थे ।

(५) माचेली चण्ना—वास्तव में चण्ना केशव स्वामी से ही बना है, पल्लनाटि की कहानी में भी कहा गया है कि बालचन्द्र की माता ने सन्तान के लिए माचेली में चण्ना केशव स्वामी की सेवा की थी । उन दिनों ऐसे ही और भी अनेक देवी-देवता थे । देवताओं की कोई कमी नहीं थी ।

जात पात

धर्म के साथ तरसम्बन्धी जात-पात के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना उचित है ।

१. श्रीङ्गाभिराममु ।
२. श्रीङ्गाभिराममु ।
३. श्रीङ्गाभिराममु ।

अठारह की संख्या को न जाने क्यों काफी महत्व प्राप्त है। नागुल-पाटी के शिलालेख में उल्लेख है कि हिन्दुओं में अठारह जातियों मुख्य थीं।

लिखा है कि यह गाँव वहाँ की अठारह जातियों की सत्था समस्त प्रजानुरंग भोग—अन्न की मुक्त सेवा के लिए दान दिया गया है। इन जातियों के नाम इस प्रकार गिनाये गए हैं—बनिया, कलाल, गडरिया, घोषी, जुलाहा, नाई, कुम्हार। इन जातियों के सम्बन्ध में विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है। ये सभी जगह पाये जाते हैं। फिर भी बनियों के बारे में कुछ लिख देना अनुचित न होगा। बनिये के लिए तेलुगू में "कोमटी" का शब्द आया है जो कोई बहुत पुराना नहीं है। यह नाम निम्न प्रकार आया कहा नहीं जा सकता। कुछ लोगों का विचार है कि यह शब्द "गोमठ" से बना है। गोमटेश्वर जैन तीर्थंकर का रूपान्तर है। मानव-अंग-स्वरूप-शास्त्र (एथनॉलाजी) के अनुसार कहा जाता है कि इन कोमटियों में आर्यों के लक्षण पाये नहीं जाते। मानपल्ली रामकृष्ण कथि ने अपने 'भद्रभूपाल' नामक नीति शास्त्र के पहले पद्य में अपना निर्णय दिया है कि आग्नेय देश में कोमटी का शब्द सन् ११५० ई० से कुछ पहले पहली बार प्रयुक्त हुआ है। उसके बाद पल्लवादि युद्ध में यह शब्द गुप्ते में आता है। और श्री अक्षिराजु का मत है कि यह युद्ध सन् ११७२ ई० में हुआ था।

फिर पाल्कुरिकी सोमनाथ ने अपनी रचनाओं में इस शब्द का प्रचुर प्रयोग किया है। बेरी<sup>१</sup> बच्चु, नाणैकाडु<sup>२</sup> इन शब्दों को पूर्वमूरियो ने कोमटी का पर्यायवाची माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। महत्वपूर्ण पर्यायवाची शब्दों को हमारे प्राचीन निघण्टुकारों ने छोड़ ही दिया है। कोमटियों को गौर और चेटी (मेटी) भी कहा जाता था। चालुक्य और काचितियों के समय यह चेटी या मेटी शब्द बीर शंभ

१. आग्नेयनाथ संग्रहण, मानव-अंग

२. साम्बनिघण्टु, मानव-अंग।

सम्प्रदाय के अनुयायी बलिजें जाति के लिए साधारणतया एक सम्मान-पद था। आज भी उन्हें बनिजें-सेटी कहा जाता है। ऐसा लगता है कि कोमटियों ने जब शैव सम्प्रदाय को अपनाया तो साथ ही उन्हें वह पदवी भी मिल गई। युक्त सप्तति के रचयिता पार्लेकरि कदरीपति ने कोमटी के लिए गौर का शब्द प्रयोग किया है। यह कदरीपति सन् १६०० ई० के लगभग हो गए हैं।

वास्तव में यह कोमटी गौड-देश (बंगाल) के निवासी थे। छठी-सातवीं ईसवी शताब्दी में स्थानीय शासकों के अत्याचारों से ऊबकर ये लोग समुद्र-मार्ग से तेलुगू-देश में उतरे। गौड-देश से आने के कारण गौड या गौर कहमाने लगे। जब ये जमीन बने तब कोमटी कहलाये। कोमटियों की कुल-देवी का नाम है 'कन्यकाम्बा'। इस कान्यकाम्बा के सम्बन्ध में यह कथा प्रख्यात है कि राजा विष्णुवर्धन ने उसके साथ बलात्कार किया था। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह छठी-सातवीं शताब्दी के लगभग ही यहाँ आये होंगे।

इनके अलावा और भी कई-एक जातियों के नाम तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं। "भोई" के शब्द के सम्बन्ध में भी शका की कुछ गुंजाइश है। विजयनगर साम्राज्य के समय बेंडर-भोई नाम की एक जाति थी। विजयनगर-कालीन कवियों ने भोईयों को शिकारी, अत्याचारी के नामों से मगबोधित किया है। आज भी हैदराबाद के अन्दर करीमनगर और नलगोडा जिलों में यह भोई जाति विशेषतया पाई जाती है। कुछ लोगों का मत है कि 'भोई' शब्द 'भोय' अर्थात् 'भोज' शब्द से बना है। जब अंग्रेज सत्ता उत्तरे तब ये उनके यहाँ शायद घरेलू काम-काज के नौकर रखे गये। भोय (भोज) शब्द ही की अंग्रेजी में 'ड्वॉय' लिखा गया, जिसके माने अंग्रेजी में बहके के हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी में नौकर को आटे वह चन्ना हो या बुढ़ा 'ड्वॉय' ही कहा जाता है।

पल्लवाटि-युद्ध में बालचन्द्र के हाथों पिटकर भागे हुए लोगों में से कुछने यह कहकर अपनी जान बचाई थी कि—

“हम भोई हैं । देखो हमारे कंधों पर घट्टे पड़े हैं ।”

हाल-हान तक भी भोई लोग पालकी ढोया करते थे । इससे सिद्ध होता है कि सन् ११७२ में भी भोइयों का यही पेना था । इसके अतिरिक्त नलगोडा प्रान्त में अधिक संख्या में इनके बसने का भी यही कारण जान पड़ता है कि दक्षिण भारत का कुस्त्रेय ‘वारमपूठ’ इसी जगह पर था । मेनार्थांगो और उनकी रनबास की पालकियों को ढोने वाले यही भोई रहें होंगे ।

बर्णाटि विरात कहलाने वाले भोई काकतीयों के समय यहाँ नहीं थे । बर्णाटिकी होने के कारण विजयनगर राज्य के साथ वे आन्ध्र में आये होंगे । रायचूर के पास बेंडरो (भोई) की एक रियासत थी । सन् १८५७ के गुलन नाम वाले स्वतन्त्रता विप्लव के दौरान में वह रियासत मटिया-मेट कर दी गई । गदर के बाद जाँच करने को नियुक्त किये गए एक अंग्रेज अधिकारी मेडोज़ टेलर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—“बेंडर राजाओं को कुम्भों से पानी लेने और मन्दिरों में प्रवेश करने की मनाही थी । मवरण हिन्दू उन्हें अछूत मानते थे ।” पर पता नहीं कि कैसे एक ही पताख़दी के अन्दर हिन्दुओं की वह छूत-छात कहाँ भाग गयी ।

रंजा एक और जाति थी । पेना था नगाडा या उस जैसा ही कोई रंग-डबा बजाना । इस नगाडे को रंज कहा जाता था । पल्लनाटि वीर चरित की पालकुरिकी की रचनाओं में इसका प्रायः प्रयोग मिलता है ।

पिच्चकुट्सा एक और जाति है जो तम्बूरे बजा-बजाकर रेड्डी राजाओं की कहानियाँ गाया करते थे । ऐसा लगता है कि पालकुरिकी के समय यह नाम भिधावृत्ति पर निर्वाह करने वाले विकलांगों का था ।

“... हम लूने है, पंथा नहीं भन्न मक्ते ।

“...हम लेंगड़े हैं चल नहीं मक्ने । हम अन्ये है । ‘पिच्च-गुण्डन’ (विकृतांग) हैं ।”

“धर्मात्माओ, हमें दान दो ।”



इस तरह गा-गा अथवा पुकार-पुकार कर वे भीय माँगा करते थे।<sup>१</sup>

पवल, धवनि, मेदर वगैरह दूसरी अनेक जातियों वा सम्बन्ध पेशा अथवा वृत्ति से है। इसलिए उनकी चर्चा वृत्तियों के गाय विमी दूसरे अध्याय में होगी।

हिन्दुओं में उन दिनों धर्म-परिवर्तन की परिपाटी नहीं थी। गिरी भावना वास्तव में उन सभी पावनियों के कारण पैदा हो चली थी जो भारतीय समाज के अन्दर पाँचवी-छठी शताब्दी में चली आई हैं। मगर सच तो यह है कि शुद्ध करना, पर-धर्म को स्वीकार करना, और धर्म का प्रचार करना, इत्यादि कामों को ईमाई और मुसलमानों ने भी हिन्दुओं और बौद्धों में ही सीखा है। ईमा मसीह में १५० वर्ष पूर्व हेलियोडोरस नामक एक यूनानी ने मध्यप्रदेश के विदिशा रेलवे स्टेशन के समीप बेमनागर स्थान पर एक स्तूप लड़ा करके उस पर खुदवा दिया था कि उसने भागवत सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया है। मुसलमानों के सिन्धु प्रान्त को अधिकृत कर लेने के बाद जिन हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया था, उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में लौटा लेने के लिए ही ग्यारहवीं शताब्दी में 'देवल स्मृति' की रचना की गई थी। मुसलमानों द्वारा वरगल के ध्वज के बाद भी ग्रान्धों ने छुड़ि की प्रथा चलाई थी। खली मुहम्मद तुगलक द्वारा वरगल के उजाड़े जाने के बाद बहुत सारे हिन्दुओं को बनात् मुसलमान बनाया गया था। गाल-ग्राम लोगो को मुसलमान बनाकर दिल्ली में जाया गया। उनमें में बबियर बन्ध नामक का आई भी था। इस नव-मुस्लिम ग्रान्ध को तुगलक ने बम्पली राज्य का अधिपति नियुक्त किया था। परन्तु यह बम्पली पहुँचने ही "मुहम्मदीय" मन को त्यागकर फिर से हिन्दू हो गया था और दिल्ली के गिम्माफ बगावन कर बैठा था। यह बात सन् १३६५ ईसवी की है।

## समाज-सुधार

हिन्दू धर्म के सुधार की दृष्टि में ही शैव तथा वैष्णव धर्मों का पार हुआ था। परन्तु उन्होंने भलाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक की है। जैनियों में महान् तार्किक विद्वान् थे। उनकी रचनाओं में हम जान-पान के मिद्वान् का बड़े ही योग्यतापूर्वक तर्कों से सङ्गठन किया गया है। बौद्धों के साथ-साथ उन जैनियों ने ही आन्ध्र देश के अन्दर समाज-सुधार का आरम्भ किया। काकतीयों के शासन-काल में अनेक अनुलोम तथा प्रतिनोम विवाह हुए। रानी रत्नम्भ के ब्राह्मण मन्त्री इन्दुसूरि अग्रभूम्य में रानी की दूसरी धेटी रत्नम्भ के साथ विवाह किया। राज-परिवार के अन्दर ही जब जान-पान के बन्धन टूटने हैं, तब जनसाधारण में उनकी मर्यादा कहाँ तक बाकी रह सकती है? पञ्चाटि युद्ध के चट्टाई-भोज की चर्चा और ब्रह्मनायडू का अनेक जानियों की स्त्रियों के साथ विवाह करना हम पहले ही बता आये हैं। इसी प्रकार एक शब्द 'पालेम' है जो खाम दक्षिणी शब्द है। जिसका अर्थ है, प्रदेश अथवा प्रान्त। पालेम की रक्षा करने वाले पावेगार कहलाते थे। उनकी सेनाओं में माले मादिगें आदि (पामी, चमार) भरे होने थे। आज भी इन जातियों में बोलचाल, मीन-वाम, कटारवान के वंश-नाम मिलने हैं, जिनमें उनके पूर्वजों की मैनिव सेवाओं का पता चलता है।

शैव धर्म में चावलि, मगलि, माले, मादिगें आदि (धोवी, हजाम, चमार, पामी) सभी जानियों के लोग सम्मिलित थे। पालुसूरिकी सोमनाथ के 'शमश पुराण' में हमें इसके अनेक प्रमाण मिलने हैं। आजकल (दक्षिण में) अन्न-मन्त्रों के अन्दर भोजन केवल ब्राह्मणों को दिया जाता है, किन्तु काकतीय युग में कुछ अन्न-मन्त्रों में सभी जाति वालों को बराबर भोजन मिलता था। शैव-सम्प्रदाय के अनुमार मन्त्र में चाण्डाल को भी अन्न-वस्त्र-दान का प्रबन्ध था।<sup>१</sup>

चरंगल के राजा प्रतापसिंह के समकालीन एकाग्रनाथ ने अपने शब्द-

१. भक्तपुर शासन (शिलालेख) : (तेलंगाला शासन-ग्रन्थ)।

इस तरह गा-गा अथवा पुजार-मुकार कर वे भीख माँगा करते थे।<sup>१</sup>

पंचन, धवनि, भेदर बगैरह दूसरी अनेक जातियों का सम्बन्ध पेशा अथवा वृत्ति से है। इसलिए उनकी चर्चा वृत्तियों के भाग विमी दूसरे अध्याय में होगी।

हिन्दुओं में उन दिनों धर्म-परिवर्तन की परिपाटी नहीं थी। ऐसी भावना वास्तव में उन सभी पावनियों के कारण पैदा हो चली थी जो भारतीय समाज के अन्दर पाँचवी-छठी शताब्दी में चली आई हैं। मगर सब तो यह है कि शुद्ध करना, पर-धर्म को स्वीकार करना, और धर्म का प्रचार करना, इत्यादि कामों को ईमाई और मुसलमानों ने भी हिन्दुओं और बौद्धों से ही सीखा है। ईसा मसीह से १५० वर्ष पूर्व हेलेनोडोरस नामक एक यूनानी ने मध्यप्रदेश के विदिशा रेलवे स्टेशन के समीप बेसनागर स्थान पर एक स्तूप खड़ा करके उस पर खुदवा दिया था कि उसने भागवन सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया है। मुसलमानों के मिश्र प्रान्त को अधिभूत कर लेने के बाद जिन हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया था, उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में लौटा लेने के लिए ही ग्यारहवीं शताब्दी में 'देवल स्मृति' की रचना की गई थी। मुसलमानों द्वारा वरगन के ध्वज के बाद भी ग्रान्थों ने शुद्धि की प्रयासलाई थी। खली मुहम्मद तुगलक द्वारा वरगन के उठाये जाने के बाद बहुत सारे हिन्दुओं का यत्नात् मुसलमान बनाया गया था। राम-ग्राम सोमो को मुसलमान बनाकर दिल्ली ले जाया गया। उनमें से कविवर कन्नय नायक का भाई भी था। इस नव-मुस्लिम ग्रान्थ को तुगलक ने कम्पली राज्य का अधिपति नियुक्त किया था। परन्तु यह कम्पली पहुँचने ही "मुहम्मदीय" मन को त्यागरह फिर से हिन्दू हो गया था और दिल्ली के खिलाफ बगावत कर बैठा था। यह बात सन् १३६५ ईसवी की है।

## समाज-सुधार

हिन्दू धर्म के सुधार की दृष्टि से ही शैव तथा वैष्णव धर्मों का प्रचार हुआ था। परन्तु उन्होंने भलाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक की है। जैनियों में महात्मा तार्किक विद्वान् थे। उनकी रचनाओं में हम जान-पान के मिद्वान्त का बड़े ही योग्यतापूर्ण तर्कों से खण्डन किया गया है। बौद्धों के साथ-साथ उन जैनियों ने ही आन्ध्र देश के अन्दर समाज-सुधार का प्रारम्भ किया। काकतीयों के शासन-काल में अनेक अनुलोम तथा प्रतिनोम विवाह हुए। रानी रुद्रम्म के ब्राह्मण मन्त्री इन्दुनूरि अन्नप्प ने रानी की दूसरी बेटी रुद्रम्म के साथ विवाह किया। राज-परिवार के अन्दर ही जब जात-पात के बन्धन टूटते हैं, तब जनमाधारण में उनकी मर्यादा वहाँ तक बाकी रह सकती है? पन्नाटि युद्ध के चटार्द-भोज की चर्चा और ब्रह्मनायडु का अनेक जानियों की स्त्रियों के साथ विवाह करना हम पहले ही बना भाये हैं। इसी प्रकार एक शब्द 'पानेम' है जो मान दक्षिणी शब्द है, जिसका अर्थ है, प्रदेश अथवा प्रान्त। पानेम की रक्षा करने वाले पानेगार कहलाते थे। उनकी सेनाओं में मालें, मादिगें आदि (पामी, चमार) भरे होते थे। आज भी इन जानियों में टोन्वान, मीन्-वान, कटारवान के वंश-नाम मिलते हैं, जिनमें उनके पूर्वजों की ईर्ष्या-सेवाओं का पता चलता है।

शैव धर्म में चाकलि, मंगलि, मालें, मादिगें आदि (घोवां, हवान, चमार, पासी) सभी जानियों के लोग सम्मिलित हैं। पानुत्तुरिगें सोमनाथ के 'बसव पुराण' में हमें इनके अनेक प्रमाण मिलते हैं। आजकल (दक्षिण में) अन्न-मन्त्रों के अन्दर भोजन केवल ब्राह्मणों को दिया जाता है, किन्तु काकतीय युग में कुछ अन्न-मन्त्रों में इनके बन्धु-बानों को बराबर भोजन मिलता था। शैव-सम्प्रदाय के अनुसार इनके आण्डाल को भी अन्न-वस्त्र-दान का प्रदत्त था।<sup>१</sup>

वरगल के राजा प्रतापरुद्र के समकालीन विद्वान् हैं अन्ने रुद्र-

१. मत्स्यपुराण नाम (शिलालेख) : (तिरुवत्तुल्ल आनन्द-पन्थ)।

ग्रन्थ 'प्रतापगुप्त-चरित्र' में लिखा है—

“एक दिन सम्भूर नामक एक ग्राम में कृष्णमाचार्य नामक एक ब्राह्मण के छोटे भाई अनन्ताचार्य ने एक घोड़िन के साथ सम्भोग किया। घोड़ो ने दोनों ही को एक साथ मार डाला। अस्ती ब्राह्मणों की भी थी। ब्राह्मणों ने कहा—‘ब्राह्मण की लाश के साथ शूद्रा की भी लाश पड़ी है, इसलिए हम उस ब्राह्मण की लाश का भी दाह-भस्कार नहीं करेंगे; न ही उसे अपने कंधों पर उठावेंगे।’ यह देखकर कृष्णमाचार्य ने भगवान् यामुदेव की स्तुति की और लाश अपने-आप खिमकती हुई चिता पर पहुँच गई।”

वीर-वीर और वीर-वैष्णव दोनों ही एक ही तन्त्र समाज-सुधारक ही थे। किन्तु उन्होंने अभश्नशीलता तथा धार्मिक उन्माद का भी हिन्दू समाज के अन्दर प्रवेश कराया। जनता में अन्ध-विश्वास बढ गया। यह हुई धार्मिक समीक्षा। अब अन्य विषयों पर विचार करेंगे।

### युद्ध तन्त्र

हिन्दुओं के अन्दर धीरता-वीरता तो थी, किन्तु युद्धापयोगी शस्त्रास्त्रों का उन्होंने कोई आविष्कार नहीं किया। नवीन और बढ़िया मरारतमक हथियारों का उपयोग पहले उनके विरुद्ध मुगलबानों ने ही किया। फिर योराण वालों ने उनमें बड़े-बड़े हथियारों ने हमारे देश को हथिया लिया। ग्राम्य जाति के पास भाव और तनबतने बग मही दो ग्राम हथियार थे। राजकुल के-ने हथियार न होने के कारण ही उन दिनों बोट-विजे बनाने की आवश्यकता थी। ग्राम्य में सबसे पहले राजा गणपतिदेव ने बरगन के किले का तैयार करवाया। मद्रभदेवी ने उसे पूरा किया। पन्धर घांटे भीतगी किले को बडा चिता और बाहरी किले को भूमि कीट अर्थात् मिट्टी का किला कहा जाता था। मिट्टी का किला भी कोई मामूली किला न था। मन् १२६६ में अलाउद्दीन गिलजी ने मलिक काफूर को बरगन पर घाता बोलने के लिए नियुक्त किया। मलिक

वाफूर ने किले को घेरकर मिट्टी की दीवारों को गिराना चाहा । किन्तु किले की दीवारों में फौलादी बरछियाँ भोवने पर भी मिट्टी की एक पपड़ी तक नहीं झड़ती थी । गोनाबारी करने पर गोलियाँ उछल-उछलकर लौट पड़ती थी मानो बच्चों के खेलने की गोलियाँ हो ।<sup>१</sup> इस मिट्टी के किले की लम्बाई-चौड़ाई १२५४६ फुट बताई जाती है ।

किले को घेरने वाले मुसलमानों पर किले की दीवारों से लोहे आदि की गरम-गरम पिघलन उड़ेली जाती थी । मुसलमानों ने 'मञ्जनीको' का प्रयोग किया और हिन्दुओं ने 'अरद्दो' का । दोनों ही पत्थर फेंककर मारने के गुनेल के-मे साधन थे । खुसरो ने इनके बारे में लिखा है—“मुसलमानों के गोले तेजी से आसमान में उड़ा करते थे । और हिन्दुओं ने पत्थर एकदम कमजोर, मानो आह्लाणों ने अनेऊ से फेंक मारे हों ।”<sup>२</sup> यह मञ्जनीक पाश्चात्य देशों में आते थे और दोनों ही मँनाएँ उनका प्रयोग करती थी ।

वरंगल के युद्ध में ही पहला बार अग्नि-वर्षा का प्रयोग किया गया था यही बाद की तोपों और बन्दूकों का श्रौंगणेश था । फारसी के इतिहास-कार ने लिखा है—“आतिश मीरेहबंद अर्थात् आग बरसाते थे ।” उमी ने आगे लिखा है—“किताबाते हिन्दू के गोपद ? बरदश ।” अर्थात् हिन्दुओं की ओर से मैनिक घटनाओं को बौन लिखा करते थे ? “बरदश !” यह बर्द क्या है ? निश्चय ही ‘बर्द’ कोई तेनुगू मरद है । युद्ध-भूमि की बीरोचित कथाएँ आदि सुनाने वालों को ‘बर्दी’, भट्ट अर्थात् भाट कहा करने थे, शायद यही भाट या भट्ट ही बिगडकर बर्द हो गया ।

‘प्रतापरुष्टीयम्’ में आन्ध्र जाति के युद्धोपयोगी दस्त्रास्त्रों का वर्णन मिलता है । बट्टों के तो अर्थ भी नहीं भासूम कि वे बौन दस्त्र थे और अमल में ये भी या नहीं । शब्द-बोध से खोजकर कुछ के अर्थ भी

१. ‘अबावुल-फुलह’;—अमीर खुसरो ।

२. ‘तारीखे-फोरोबशाह’;—बर्नो ।

निकाले है, पर उनसे भी मनलव सिद्ध नहीं होता । क्योंकि निघट्टुवार ने श्रवण इतना ही लिखकर बस कर दिया है कि 'यह एक प्रकार का हथियार है ।' फिर भी नाम मुन लीजिए—

तोमर—दण्ड विशेष, डण्डे जैसा हथियार ।

काक्षेपका—खट्ग, तलवार ।

मुमुन्दय—दाह्य आयुध विशेष, यह भी बाठ का ही एक हथियार है ।

कामुंका—धनुष ।

गदा—मुद्गर ।

कुन्ता—बराबर फेंक मारने वाला एक हथियार ।

पहम—सोहे की छड़ या डण्डा ।

अच्छी तलवारें लोहा, पीतल, ताँबा और काँसा इन चार धातुओं को मिलाकर तैयार की जाती थी ।<sup>१</sup>

पल्लनाटि मुठ में जिन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ उनके नाम हैं—  
कुन्त, परमा, गदा, मृगल, मुद्गर या मुद्गर, भोक्दार नटार, चक्रनामर, धुरी, धनुष-बाण, शूनी इत्यादि ।<sup>२</sup>

शस्त्रों में घिर जाने पर किले की रक्षा किस प्रकार की जाती थी ?  
इसका कुछ वर्णन इस प्रकार है—

“कोट को सजाकर, बुरजों पर छत छाकर,  
नीकरो के लिए छप्पर दबाकर,  
कंगूरे चढ़ाकर, गोल-गोल छलियों में  
नोकदार लोखें बसकर,  
छाई खुदवा कर और उसमें सैरने लायक पानी भरकर,  
नगर के चारों ओर बाड़े लड़े करके,  
घोच-घोच में मंच बनाकर,

१. 'प्रतापद्वीप', चतुर्थ प्रकरण, ११वाँ श्लोक ।

२. 'पल्लनाटिबोर चरित्र', पृष्ठ १०१ ।

फाटकों पर बड़े-बड़े दरवाजे लगाकर,  
भाने, कौंसी तनवार, कुन्त, गुलेत, कत्तल,  
घनुप-बाण आदि जुटाकर; बीच बस्ती में,  
ढेर-ढेर मिट्टी के टीले बनाकर ।<sup>१</sup>

आग्र्य मंत्रिक बूच के समय क्या-क्या किया करने थे, युद्ध-भूमि में  
उन्हें कैसी-कैसी तकनीकें भेलनी पड़ती थीं, युद्ध-धर्म कैसे थे, आदि का  
वर्णन हमें 'पल्लनाटि-चरित्र' में मिलता है ।

बूच में पहले अपने किले की रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लिया जाता  
था । फिर आक्रमणों को बुलाकर, बूच के लिए मुहूर्त का निश्चय होता  
था । फिर बूच का उवा बजता था । सेना के साथ-साथ डेरे, तम्बू, छाट  
पलग, पालकी और रसद व सजाने की गाड़ियाँ भी चला करती थीं ।<sup>२</sup>

उन दिनों युद्ध के समय नगाड़े, डफ, सिंघे, मग्न, गहनाई, ढोल,  
रञ्ज, घण्टे इत्यादि सभी बाजे एक साथ बज उठते थे, वे-मुर-तान का  
एक महारोर-ना ध्वजा रहता था ।

ऊपर के शब्दों में मैं रञ्ज एक प्रकार का नगाडा होता था । गोल्नेन  
और पटकुटीर दो शब्द डेरे और तम्बू के लिए प्रयुक्त हुए हैं । इन दोनों  
में अन्तर था । पटकुटीर को डेरा तो कहा गया है, पर बाम्बव में वह  
तम्बू होता था । और गोल्नेन होता था डेरा, जिसके बीचो-बीच एक  
सम्ना होता था । बीच का सम्ना बैठ जाने पर सारा डेरा घडाम में  
बैठ जाता था ।<sup>३</sup> युद्ध के बीच जब एक पक्ष हारकर संधि करना चाहता  
तब वह सिंघे बजा देता था उसीको 'धर्मदाग' कहा गया है ।<sup>४</sup>  
पमासान युद्ध के बीच भी जो निपाही शत्रु के बार में बचना चाहता  
था वह कई प्रकार में अपने प्राणों की भिक्षा माँगता था । कुछ तो कहने

१. नाचन सोमन : 'उत्तर हरिवंशमु' ।

२. 'पल्लनाटि वीर चरित्रमु' ।

३. 'पल्लनाटि वीर चरित्रमु' ।

४. 'श्रीश्रीभिराममु' ।



थे कि हम सिपाही नहीं है, पालकी दोनों वाले बहार-मात्र हैं, हमें माफ करो। कुछ लास बनकर धरती पर चित पड़ जाते थे। कुछ पड़ी हुई लाशों को ओढ़कर छिप जाते थे, और कुछ घघमरे बनकर अपने बीबी-बच्चों को याद करते हुए बिलम्बने थे। यही नहीं, किन्तु कुछ लोग दीमक की बड़ी-बड़ी बाँवियों पर बैठकर तपस्वी बन जाने, कुछ घास के ढेरो के बीच छिपकर बैठ जाने, कुछ मुँह में उँगलियाँ देकर चूमा करते थे, कुछ बाल बिखेरकर नाचने और कुछ पीठ दिखाकर भाग खड़े होने थे।<sup>१</sup>

शस्त्रास्त्र उतार फेंकने के कारण ऐसे साँगों को दुश्मन मारते नहीं थे। जो पकड़े जाते थे सत्रु के सामने जमीन में मुँह लगाकर घास कुतरने, 'पाँच-दम' करने अर्थात् दोनों हाथ जोड़ देते या अगला बंदम पीछे हटाकर धरती पर पैर जोड़कर खड़े होने, पीठ दिखाने या पैर पीछे हटाने। इन सबका एक ही अभिप्राय है।

उस समय युद्ध में हाथियों, घोड़ों और बैलों का अधिक प्रयोग होता था। राजा पालकियों में सवार होकर युद्ध-भूमि में जाते थे। आन्ध्र की सेनाओं में अनुशीलन, क्रमशिक्षा (बचावद) बरदी, बड़िया घातक शस्त्रास्त्र कम थे। जिन सेनाओं ने केवल मर्यादा पर ही भरोसा किया है वे प्रायः हारी ही हैं। पल्लवादि युद्ध में बालचन्द्र की मार के घागे जो टिक न सके उनमें से कुछ ने कहा है कि.—

“दुश्मन तुम्हें देखते ही भाग खड़ा होता है,

तुम्हें कोई भय नहीं, इस प्रकार

नरगन्ध के ओरसाहन देने पर हम भाग्ये थे,

यदि प्राण बचे तो,

बाल-बच्चों के साथ घास-पात खाकर ही गुजारा कर लेंगे।”

क्या ऐसे बेमारों की टुकड़ियाँ या टोलियाँ बड़ी जीत प्राप्त कर सकती हैं? किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि निश्चित नेमा भी हो नहीं। थी, पर बहुत कम। यरगन में एक मुहल्ला ही मोटरीवादा १. 'पल्लवादि वीर चरित्रम्', पृष्ठ ११०।

कहा जाता था। यह ग्राम मंत्रियों की ही बस्ती (फौजी छावनी) थी। उनकी बरदी भी होती थी जिसे दरजी लोग सीकर तैयार करते थे। उस बरदी में तीन चीजें शामिल थीं—जाँघिया, भगी या धौगरखा और एक कमरबन्द ! कावतीय नरेश की नौ लाख की सेना थी। विद्यानाथ ने कहा है—“मन्त्र-लक्ष-यनुर्धराधिनाथे, पृथिवीं शंसति धीर हृद्र देवे !” मेना की ऐसी बड़ी मर्यादा अधिकतर सरहदों सरदारों या पालेगारों के पास होती थी। सरहद की रक्षा के लिए उन्हें अपने पास निश्चित मर्यादा में सेना रखनी पड़ती थी। ये सरहदी सरदार ही भानु राज्य के पतन के कारण बने। ये सरदार ताब में रहने थे कि बड़ केन्द्रीय शक्ति क्षीण होन होती है कि वे विद्रोह करके सफल हों बैठें। सामग्रिक दृष्टि से तो यह मानना ही पड़ेगा कि भानुओं का युद्ध-तन्त्र मुसलमानों के मुकाबिले में बहुत ही गंभीर-गुजरा था और मैदान में जमकर रहने का दम उसमें न था।

### कलाएँ

रत्नारामक शिल्प, विद्याध्ययन, चित्र-कला, शिल्प-कला और दस्तकारी को कलाओं में सम्मिलित मानकर उन पर यही विचार किया जायगा। कावतीय युग में भानु के अन्दर उत्तमोत्तम कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ। उससे पहले पूर्वी पश्चिमी, ब्राह्मणों ने अनेक नये शिवालय बनवाये और प्राचीन मन्दिरों को मरुवार के उनके लिए भूमि-दान किया। बरगल के कावतीय नरेश और उनके सामन्त और भी नये मन्दिर बनवाकर जगह-जगह अपने शिला-लेख छोड़ गए हैं। कावतीयों की राजधानी सेनगाने में थी, इसलिए मन्दिर-निर्माण-कला के अधिकतर नमूने वही मिलने हैं।

बरगल भानु-नगर के नाम में प्रसिद्ध था। किसी और शहर को यह मान प्राप्त नहीं था। इसमें प्रतीत होता है कि कावतीयों के अन्दर भानु-प्रतिमान सबसे अधिक था। बरगल के चिन्ने में सात फमीलें थी।

सबसे भीतरी सिला-कोट में राजा का निवास था। वह चक्रवर्ती बहलाता था। कोट के बाहरी भाग में नीची जातियों के लोग रहा करते थे। उस मुहल्ले में "मैला बाजार" के नाम से मसाह में एक बार हाट लगती थी। कोट के भीतर "सुद्ध बाजार" भरता था। उसमें गलियाँ भी थी। किले की पमीनों के परिधि, प्राकार, टेढ़ी राह, बड़ा दरवाजा इत्यादि अलग-अलग नाम थे। यह सब किले का ब्यौरा है। इस किले के अन्दर रथ, घोड़े, शकट (गाड़ी), हाथी और भूय मभार (सैनिक सफाबन्दी) की व्यवस्था थी।<sup>१</sup> राजमार्ग हाथी, घोड़े, गाड़ियों और अनेकों सैनिकों (भटकोटि) से लचकावच भरा रहता था। कुछ प्रशान्त गलियाँ भी थी। बिचले बाजार<sup>२</sup> में वेस्वाओं के घर भी थे। बीच शहर में 'स्वयम्भू' भगवान् का मन्दिर बना था। इसे मुसलमानों ने सहस्र-नहम कर डाला। उस मन्दिर के चारों ओर बड़े-बड़े खम्भों के साथ हस्त-द्वार बने हुए थे, अर्थात् उन खम्भों के सिरो पर सुन्दर हस्त खुदे हुए थे। उन खम्भों में से अब दो ही बचे हैं। शहर बहुत सुन्दर था। इसके अनेक प्रमाण मिलने हैं। सन् १३२१ में मुसलमानी फौजों के एक मिपहगालार अलफगान ने जब एक टीले पर चढ़कर शहर का जो दृश्य देखा, उसी के शब्दों में मुन लोजिग —

“जिस किसी तरफ देखो दो-दो मील की सम्पाई में पानी के फव्वारे खगे हुए हैं। बागों में आम, केले और कटहल के पेड़ हैं। फूल सभी हिन्दुधानी हैं। चम्पा, केवड़े और चमेसी के फूल लिले हैं। शहर मुहल्लों में बँटा हुआ है। मुहल्लों के अलग-अलग नाम हैं : जैसे अरहत-यादें (बहनों का मुहल्ला), योगधु बीधि (वेस्वाओं का मुहल्ला), बेली-पालेमु (पवड़ों का मुहल्ला), मोहरीवाँड (मनिकों का मुहल्ला) आदि।<sup>३</sup> मन्दिरों और राजभवनो के प्रतिरिक्त होटल-ढावे आदि भी हैं।”

१. 'प्रोड्राभिरामम्'।

२. “ ” ।

३. नूहेनिपेहर् (?) अमीर खुसरो।

जैन बनने के बाद काकतीय नरेश ने जैन-मन्दिर बनवाये । हनुम-कोटा की पहाड़ी चट्टान पर भी उन्होंने जैन तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियाँ बनवाई । उसी पहाड़ी पर पद्माक्षी का मन्दिर भी है । बाद में शैवों ने उस मन्दिर को हथियाकर अपनी पूजा-पद्धति चला दी । पहाड़ के नीचे धाने तालाब में आज भी जहाँ-तहाँ टूटी-फूटी और साबित मूर्तियों के ढेर देखे जा सकते हैं ।

फिर शैव हो जाने के बाद काकतीय राज-घराने ने हनुमकोटा (वरगल) में हजार खम्भों का मन्दिर बनवाया । इसके प्रतिरिक्त भी आन्ध्र देश-भर में अनेक सुन्दर शिल्पकला-पूर्ण मन्दिर जहाँ-तहाँ बनते गए । परन्तु मुसलमानों के हाथों उनके सहस्र-नहस हो जाने के कारण अब केवल विषाद, दुःख और उस शिल्प-कला के बचे-बुचे टूटे-फूटे खँडहर ही हमें नसीब हैं । वरगल से चालीस मील की दूरी पर 'रामप्पे-गुडि' नामक प्राचीन मन्दिर है । इसे वरगल के एक सामन्त रेड्डी सरदार रुद्र सेनानी ने सन् ११६२ में बनवाया था । मन्दिर की मूर्तियाँ, खम्भों की शिल्पकारी और विशेषकर मन्दिर के चारों दरवाजों पर ऊपर की ओर चारों कोनों में काले पत्थर की बनी हुई नर्तकियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं । उन नर्तकियों के शरीरों के गहने, उनकी मञ्जावट और उनकी त्रिमयी नाट्य-कला मानो शिल्पकारों को ही मोहित करती है । इसी कारण उन शिल्पियों ने उन सुन्दराणियों की मूर्तियों में जी भर प्रसाधन-क्रियाओं का समीकरण करके और उन्हें पूर्णतया नग्न रूप में खचित करके अतीव आनन्द का अनुभव किया । मन्दिर के खम्भों पर उत्तमोत्तम नृत्य-भण्डों के माथ मृदंगादि के वाद्यकारों की सूक्ष्म रेखाएँ अकिन् की हैं । उन्हीं दिनों जाय सेनानी नामक कवि ने संस्कृत में नृत्य-कला पर एक ग्रन्थ लिखा था । यह हस्तलिखित ग्रन्थ आज तंजावर के मंगलालय में मौजूद है, परन्तु कोई उसके प्रमानन की ओर ध्यान नहीं देता । कहते हैं कि जाय सेनानी के उक्त ग्रन्थ के उदाहरण उस मन्दिर की इन नर्तकियों के चित्र ही हो सकते हैं । क्या ही अच्छा हो यदि उस शास्त्र को और उन

मूर्तियों को व्याख्या के साथ प्रकाशित किया जाय ।

हैदराबाद के अन्तर्गत महबूबनगर जिले में बूदुपुर एक गाँव है । (सम्भवतः यह गाँव बुझारेडु की बसाया हुआ बुझापुर है ।) वहाँ पर कुछ जीर्ण मन्दिर हैं । उन पर भुमनमानों के हथौठों की चोट पड़ चुकी है । उनमें में एक को मस्जिद बना दिया गया है । उस मस्जिद में आज भी शिलालेख मौजूद है । उन मन्दिरों को बुझारेडु की बेटी और मल्हासगुण्डे सेनानी की पत्नी कुम्पम्में ने बनवाया था । कुम्पम्में तथा गुण्डम्में ने महबूब नगर जिले की ही नागर-बनूँल तहसील में वर्धमान (वर्तमान नाम बहामान) में कुछ सुन्दर शिवालय बनवाये थे । वहाँ में १५ मील की दूरी पर बुझारम् गाँव है । वह भी बुझारेडु ही के नाम पर बसाया गया था ।

नलगोडा (नल्लगोड) जिले में पिज़्जल्लेमरि ग्राम में नामि रेडु ने कई अत्यन्त ही भव्य मन्दिर बनवाये थे । वाक्तीयों के शिलालेख आलमपुर में भी मिलते हैं, परन्तु वहाँ पर नये मन्दिरों की नही बल्कि पुराने मन्दिरों की ही जायदादे दान में दी गई हैं । बनूँल के पास त्रिपुराग्नक में वाक्तीयों के शिलालेख मौजूद हैं । उनमें विमानों के निर्माण की चर्चा है । विमान का अभिप्राय सम्भवतः मन्दिरों के महाद्वारों पर बने हुए गोंपुरों में है । ऐसे निर्माण भी पाये जाते हैं, जिनमें कोई-कहीं बिलकूल ऊपरी भाग में हैं ।

### विद्या की व्यापकता

वाक्तीय काल में, पूर्ववर्ती युग की ही तरह, अनेक ग्रामों में बाला-शालाएँ अर्थात् बालेज थे । उन विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ वेदों, संस्कृत-वाक्य-ग्रन्थों, न्याय-मीमांसा आदि शास्त्रों की शिक्षा भी दी जाती थी । विद्यार्थियों को भोजन मुफ्त दिया जाता था । यात्र-काल के यात्री रेलवे जंक्शन के घास-घास नागवापी (वर्तमान नागाय) पर एक बड़ा-या विद्यापीठ था । गोलकीमठ भी सब-के-सब विद्या-वेन्द्र

हो थे । राजा, धनी और भक्तजन सब-से-सब विद्या-मंथ्याओं का पोषण करते थे ।

आज भी पूरे आन्ध्र प्रदेश में वरुणमाला को 'ओनमालु' कहा जाता है । आन्ध्र देश के अन्दर जैव मत के प्राबल्य का यह भी एक प्रमाण है । यह सिद्ध है कि शैवों के पञ्चशरी मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' से अक्षराभ्याम् आरम्भ हुआ करता था । उत्तर भारत और केरल में 'श्री गणेशाय नमः' के साथ विचारम्भ होना है । परन्तु आन्ध्र और कर्णाटक के अन्दर 'ॐ नमः शिवाय' के साथ 'सिद्धम् नमः' भी जोड़ दिया जाता है । पहले यहाँ जैन-धर्म का प्रचार था, इसी कारण कदाचित् जैनी 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' के मन्त्र के साथ विद्याभ्यास करवाने थे । कविवर क्षेमेन्द्र ने अपनी रचना 'कवि कण्ठाभरणम्' में वरुणमाला को विचित्र रूप में श्लोकबद्ध किया है । पहला श्लोक है—

ॐ स्वस्त्यङ्कम् स्तुमः सिद्धमन्तर्यामिनीप्सितम्,

उच्छूर्मपदम् देष्मा ऋ ऋ लु लु नि गूहनम् ।

अन्त में कहा है :

एताग्रिमः सरस्वत्यैयः क्रियामातृकाम् जपेत् ॥

ऊपर के श्लोक में 'स्तुमः सिद्धम्' शब्द विचार करने योग्य हैं । क्षेमेन्द्र कश्मीरी था । विशेषज्ञों का मत है कि कश्मीरी शैव-सम्प्रदाय और तमिल शैव-सम्प्रदाय में अन्तर है । प्राचीनकाल में भारत-भर में विचारम्भ मन्त्रार 'ॐ नमः शिवाय' अथवा 'ॐ स्वस्त्यङ्कम् स्तुमः सिद्धम्' अथवा केवल 'स्तुमः सिद्धम्' में होता होगा वही 'स्तुमः सिद्धम्' आन्ध्र देश में 'नमः सिद्धम्' हो गया है । ऊपर के विषय से तो यही सिद्ध होता है ।

इम पुस्तक के प्रथम संस्करण में मूचिन दम विषय को लेकर एक मन्त्रन ने किनी साहित्यिक सभा में भाषण देते हुए आपत्ति उठाई कि

१. कुछ पीढ़ियों पहले बिहार में भी 'ॐ नमः सिद्धम्' से अक्षराभ्याम् होता था और लड़िया पकड़ने को 'ओनामातो पड़ना' कहते थे ।

‘मिद्धम् नम.’ कहना व्याकरण के विरुद्ध है। मैंने तो लिखा ही था कि इस तरह कहना व्याकरण के नियमों के विरुद्ध है, और ‘नम सिद्धेभ्य’ होना चाहिए। मैंने यह भी लिखा था कि ‘सिद्धम् नम.’ जैनियों से प्रचलित हुआ है। ‘गाथा सप्तशती’ के दूसरे अध्याय का ६१ वाँ श्लोक यों है—

पर्यायतोमप्यजानंतो लोकास्तोकैः गौरवाम्यधिका ।

सुपर्णं कारतुला इव निरक्षरा अपि र्कथं वृणोते ॥

इस पर जयपुर निवासी साहित्याचार्य भट्ट श्री मधुरानाथ शास्त्री ने इस प्रकार व्याख्या की है :

“जनैः ‘ॐ नमः सिद्धम् सिद्धिरस्तु’ इत्यारम्भ्याम् पर्यायात्मप्यजानंतो लोकाः गौरवाम्यधिकाः परमादरणीया इति कृत्वा निरक्षरा अपि निर्विद्या अपि सुवर्णकारतुला इव र्कथं वृणोते सावरं नीयंत इत्यर्थः ।” इन साहित्याचार्य तक ने कहा है कि श्लोक ‘ॐ नमः सिद्धम्’ के साथ अध्यास किया करते थे। क्या आलोचक उस पर भी आक्षेप करेंगे। साहित्याचार्य उत्तर भारत के निवासी हैं। उनके युग में ‘मिद्धम् नम’ का निषलता उस प्रान्त के आचार-व्यवहार को मूर्खित करता है। इसी से हमने लिखा था कि ‘मिद्धम् नम’ का प्रचार भारत-भर में समान रूप में था। यह भी हो सकती है कि ‘शुक सप्तनि’ दक्षिण भारत की रचना होने के कारण साहित्याचार्यजी ने दक्षिण की प्रथा को दरमाने की दृष्टि से ही ऐसी व्याख्या की हो।

वही कुछ रूपान्तर हो या इसमें व्याकरण आदि का ह्रास भी पाया जाय तो चिन्ता की बात नहीं है। बने ही कोई शब्द अपाणिनीय हो, अपातजनीय हो, जब देश-भर में वह चलन शब्द ही चल पड़े तब पाणिनीय पातजनीय आदि सिद्धान्त उसे बदल नहीं सकते। ज्यों-ज्यों भाषा बदलती है वार्तिक और भाष्य भी बदलने पड़ते हैं। भाषा किसी के नियमों में बन्दापि बँधी नहीं रह सकती। इस माने हमें ‘मिद्धम् नम.’ को गही मानना पड़ता है। ऐसी वसा में हमारी गन्तानों का भी पाया पड़ा हो है !

काकतीय राज्य-काल में आन्ध्र के अन्दर कई महान् कवि और प्रकांड विद्वान् हो गए हैं। तिल्लना भोमयाजी, केतन, मारन, मंचेन, गोनवुड, पान्चुरिकी भोमनाथ, भद्र भूपान, राविपाटि तिप्पन्न, नाचन सोमुद्र, भाम्बर, मल्लिकार्जुन पडिताराध्य आदि सभी उमी युग के हैं। उमी प्रकार मम्बून में भी उच्चकोटि के विद्वान् मौजूद थे। कवियों के सम्बन्ध में अधिक लिखने लगे तो यह प्रकरण ही 'कवि चरित्र' बन जाय। अतः उसे यहीं तक समाप्त करने हैं।

### चित्रकारी

हमारे पूर्वजों में जो कला-क्षिति थी, वह अब हममें पाई नहीं जाती। माधारण लोटे पर भी यदि तोने आदि का चित्र न होगा तो वह मुञ्ज लोटा कहा जाता था। चित्रित आंचल के बिना माही या घोती का पहनना अमंगल माना जाता था। घर की दीवारों पर दोनों ओर रंग-विरंगे चित्र उड़े जाने थे। दरवाजों की चौखटों पर सुन्दर चित्रकारी होनी थी। बपड़ों पर बेल-बूटों तथा चित्रों की रंगारी होती थी। धनिक वर्ग के लोग चित्रकारी में सुन्दर चित्र बनवाने थे। काकतीय युग में चित्रकारी को जन-माधारण में अच्छा सम्मान प्राप्त था। आंगन में सबेरे छिड़काव के बाद घर की बहू-बेटियाँ रंगोली में सुन्दर चित्र बनाती थी। (दक्षिण भारत में यह प्रथा अब भी है।) राजा प्रतापम्न की प्रेमिका माचल देवी ने अपने मकान में एक चित्रशाला बना रली थी।

(पद्य) "आंगन में चन्दन का छिड़काव है। कदमोरी बेशर तथा उज्ज्वल रंगोली में उस पर चित्र ओके हैं। द्वारों पर कमल के तोरण बंधे हैं।"

"क्यों ? इसलिए कि "माचल देवी चित्रशाला में प्रवेश कर रही है ! पुण्याहवाचन का समय है।"

वही उन सुन्दर चित्रों का भी वर्णन दिया गया है। दासकावचन के

१. 'वीरभिराममु'।



निव-गावंती, कृष्ण-भोपिकाएँ, ग्रहन्वा-शाप-विमोचन, तारा-चन्द्र, मेनका-विश्वामित्र आदि चित्र 'मय्यर' में बनाये जाते थे। तमिल भाषा में "मैर" शब्दों को कहते हैं, "मय्यर" शब्दों का बना ग्रन्थ हो सकता है। एकाग्र-नाथ ने लिखा है कि वरगल नगर में चित्रकारों के १५०० घर थे। वेदशास्त्रों को यदि एक विशेष प्रकार के ही चित्र पसन्द हो तो यह कोई आवश्यक नहीं कि वही दूसरों को भी हो। लोग अपनी-अपनी रीति के अनुसार चित्र बनवाते थे।

"हे वैश्यराज्य, देखिये उस त्रिशूल वाली साठी के पास जो घूने का चबूतरा बना है उस पर शीत ग्रहनायुक्त आदि सैनिक वीरों के चित्र अंकित हैं।"<sup>१</sup>

'कर्ममन्त्र', 'मपीरस', 'हरिदन्', 'धातु-राग' इत्यादि रगों में तुलिका प्रयोग कूची द्वारा विष उतारे जाते थे। (बागी पृष्ठ १-१२३)।

### दस्तकारी

तेलुगु-प्रान्त प्राचीन काल से धारीक मलमल के लिए प्रसिद्ध है। मछलीवदर (मचिली-बंदर), जिसे अंग्रेजों ने ममूलीपट्टम का नाम दिया है, ममूला नाम की धारीक मलमल की बुनाई का केन्द्र था। अंग्रेजी भाषा में मलमल के लिए प्रयुक्त "ममलिन" शब्द इसीसे बना है। पान्कुरिवी की सोमनाथ का विवरण पढ़ने पर हमें चरित हो जाना पड़ता है कि उन दिनों यहाँ जितने प्रकार के कपड़े तैयार होते थे

"वैजावलि (यु), जयरंजि (यु), भंघु

पुञ्जं (यु), मलि पट्टु, भूतिलकम् (यु),

धो यन्नि (यु), महा चीनी चीनिमु (यु),

१. श्रीशक्तिराममु । ('पल्लविवीरचरित्रम्' में श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण भगवान् की कथाओं को सूचित करने वाले चित्रों के साथे जाने का प्रसंग है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रान्ध में चित्र-लेखन की कला और भी प्राचीन है। 'पल्लविवीर चरित्रम्,' पृ० १२)

भावज तिलकम् (बु), पच्च (नि) पट्टु,  
 रामशेखर (मुत्रु) रायवत्तन (मु),  
 थायुमेयमु, यज्जवाळं बु यंड  
 यडमु, यायुतु, सरिपिट्टु (त्रु), हंस  
 पडीयु, वीणावलि पन्तड इट्टो,  
 थारणात्तो (यु) जोकुवायु, किदोगर  
 गोरिगनयमुत्रु, क्षीरोदकम् (बु),  
 पट्टु (त्रु) रत्नम् (बु), पट्टु (त्रु) संकु  
 पट्टु (त्रु), मरक्क-पट्टु, पोंबट्टु,  
 नेरपट्टु, वेत्तिपट्टु, नेत्रं (बु) पट्टु,  
 (मरि) तवरान्नम् (बु), मांदोळरवि (यु) ।<sup>११</sup>

पट्टु का अर्थ है 'रेशम' । उन दिनों कई प्रकार के रेशमी कपड़ों का प्रचार था । और भी बीसियों नाम कपड़ों के गिनाये गए हैं ।

त्रिपुरातक मन्दिर में भगवान् के सामने का ध्वज-स्तम्भ पच-धातु का बना हुआ था । सोहा, पीतल, ताँबा, चाँसा और हेम (सोना), ये पाँच धातुएँ उसमें मिलाई गई थी । ब्रह्मनाथहू ने उसकी अर्चना की थी ।<sup>२</sup> लाख में गुड़ियों बनाने का काम बहुतायत से होता था । नाचना सोमहू ने इन पुतलों का वर्णन करते हुए कहा है,—“स्वर्णं वर्णं के पुतले फूले पलास के समान प्रतीत होते थे ।”<sup>३</sup> ‘जत्र’ (यंत्र) के पुतले भी बनते थे । ‘यत्र’ का मतलब यही हो सकता है कि ये पुतले नचाये जाने के साथ-ही गगनें थे या नचाये जाते थे ।<sup>४</sup> बरंगल के ‘मैला बाजार’ में ‘मुसरभेत्’

१ ‘बसव-पुराण’, पृष्ठ ५६ । (कोष्ठकों में बन्द अक्षर तेलुगु भाषा की अक्षरमते हैं । उन्हें हटा देने पर पूरे पद्य में सिर्फ कपड़ों के नाम ही नाम रह जाते हैं ।)

२. ‘पत्ताडिवोर चरित्रम्’, पृष्ठ ६ ।

३. ‘उत्तर-हरिवंशम्’, पृष्ठ १८० ।

४. “ “ अध्याय १, पृष्ठ २१२ ।

कहलाने वाली औषधि या पाउडर-जैसी वस्तु बिका करती थी।<sup>१</sup> उसे हाथी-दाँत के डब्बे में बन्द करके बेचा जाता था। बदाचित् हाथी-दाँत का काम अत्यधिक माना में होता था। यहाँ तक कि मालें, मादिगं (चमार, पासी) आदि लोग भी हाथी-दाँत की बनी चीजें खरीदा करते थे। मुद्धा-पयोगी विविध शस्त्रास्त्र युद्ध-भेरी, नगाड़े, नाच-गाने के बाजे-गाँजे, स्त्रियो गहने-जेवर, भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग आदि बनाने वाली तथा धनी-भानी उनके द्वारा जीवनोपाजन करने वालों की संख्या भी काफी बड़ी थी। पालकियों की सवारी करते थे। पालकियाँ बनानेमें बड़ई अपनी कारीगरी का सुन्दर प्रदर्शन किया करते थे।

वरगल में जो मट्टेबाई बस्ती है उसका यह नाम इसलिए पड़ा कि उस सारे मुहल्ले में मट्टे अर्थात् पैर की उँगलियों के छल्ले बनाने वाले बसते थे। वरगल में ऊन के सुन्दर कम्बल तैयार हुआ करते थे। मुसलमानों ने इन 'रत्न कम्बलों' की सारी कारीगरी भी हमसे छीन ली।<sup>२</sup> उसी को उन्होंने बाद में कासीन की दस्तकारी में बदल दिया और उसे तरक्की दी। आज भी वालीन की यह कला वरगल के अन्दर मुसलमानों के ही हाथों में है।

महारानी मद्रम देवी के शासन-काल में जेनेया निवासी मानोंपोलों भारत आया था। उसने वरगल राज्य की विशेषताओं के सम्बन्ध में लिखा है—“काकतीय राज्य में बारीक तथा उत्तम कोटि के कपड़े बुने जाते हैं। ये बड़े महंगे होते हैं। यह कपड़ा सचमुच मकड़ी के जाले का-सा होता है। संसार में ऐसे कोई महारामे न होंगे, ऐसी कोई महारानियाँ न होंगी, जो इसे पहनने के लिए साताग्रित न हो उठें।”

निर्मल की तलवारें मशहूर थी। आदिलाबाद जिसे (हेदराबाद) में स्थित निर्मल के समीप गूर्नेसमुद्रम् में यह तलवारें बनाई जानी थी।

१. 'क्रीड़ाभिराममु'।

२ हा-हा नृपाल सिंहासनाधिष्ठान रत्नकम्बलकाभि रामरोमं (क्रीडा-भिराममु)।

निर्मल में तनवारें और तोहरे के सामान दमस्त्रन (श्मिश्न) तक जाया करने थे ।

### जन साधारण के लिए सुविधाएँ

वरंगन के राजाओं ने अपनी प्रजा की भलाई का सदा ध्यान रखा । प्रजा-पीडन का कहीं कोई नाम-निशान नहीं मिलता । हो मचना है कि वीर-शैवों के उग्रपयी प्रचारकों के कारण अन्य धर्मों के अनुयायियों को घोंटा-बहून बट्ट रहा हो, किन्तु राज्य की ओर से प्रजा के लिए औपघालय और पाटशाताएँ थीं । स्थियों के लिए प्रभूति-गृह भी बने हुए थे । वैद-वैशांगी की शिक्षा के लिए कलाभानाएँ अथवा कालेज खोल दिये गए थे । मस्बू ११८३ (शालिवाहन) में श्रमों देवी ने बेलगपूडि नामक एक गाँव को जनहित के लिए दान दे खाना था । वहाँ पर एक मठ और एक धर्मसभ बनवाया गया था । मठ में रमोई बनाने के लिए छः ब्राह्मण लगे हुए थे । प्रजा के स्वास्थ्य की देख-भाल के लिए एक कायस्थ वैद्य नियुक्त किया गया था । गाँव की रक्षा के लिए दम वीरभद्र अथवा वीर-भट्ट रमे गए थे । इक्कीस तमार या प्यादे भी थे । इन सिपाहियों को 'वीरमुष्टि' कहा जाता था । वीरमुष्टि जानि आज भी पाई जाती है । ये लोग जो नीबू मारते जाते हैं, और बनियों में माँग-चाहकर गुजारा करते हैं । लेकिन शब्दार्थ पर विचार करके देखिये तो पता लगता है कि वीर + मुष्टि = वीरता के लिए मुट्ठी-भर दाना दिया जाना, और वह भी बनियों द्वारा दिया जाना । वास्तव में ये लोग बाजार में रात्र के समय पहरा देने के लिए नियुक्त किये जाते थे । बस्ती के अन्दर मार-पीट आदि फौजदारी या कोई अपराध करने पर गाँव के अधिकारी उन्हें दण्ड दिया करते थे । अपराधी को कोड़े लगाये जाते थे या और कोई शारीरिक दण्ड दिया जाता था । शाय-यैर, वहाँ तक कि चिर भी बटवा दिये जाते थे ।<sup>१</sup>

१. मल्कापुर शासन (शिलासेख), जॉ० ए० हि० रि० सो० संख्या ४, पृष्ठ १४७-१६२ ।

राजा, सामन्त, सरदार और घनिकों ने बहुत-से तालाब बनवाये । इस प्रकार वे जमीनों की उन्नति में सहायता करने थे । गणपति देव के सेनानी रुद्र ने पारवाल का तालाब बनवाया । कार-समुद्र को कार-धमूपति ने, चोड़-समुद्र को चोड़-धमूपति ने, मन्वि-समुद्र, गौर समुद्र और कोमटी समुद्र को नागिरेड्डी ने और एरका-समुद्र को एरकैमानम्मायों ने बनवाया । इनके अलावा चिन्नल समुद्र, नामासमुद्र, विश्वनाथ समुद्र आदि भी बनवाये गए थे । इन तालाबों के जल की मिचवाई में गन्ने और पान की वापस भी होती थी ।<sup>१</sup> जगत्-जेमरी तालाब भी इन्हीं दिनों बनाया गया था । (दक्षिण में तालाब रहने नालों, नदियों आदि की रोक्कर बड़े-बड़े बाँध से बनाये जाते हैं, तालाबों में पानी कई-कई मील तक फैला रहता है । अनु० १)

धम्वादेव नामक एक वायस्थ अधिकारी ने जमीनें नापकर उनके लिए घर मुकरेंर किये थे । जमीन की नाप के लिए 'वेनुम्-वाम मान-दण्ड' की माप प्रसिद्ध है ।<sup>२</sup>

कावतीयों ने मोने और चांदी के सिक्के बनवाये थे । यह कहना पड़ता है कि आज के सिक्कों के साथ उन सिक्कों का अनुपात क्या था ! एकाग्रनाथ ने बार-बार स्वर्ण निपट की बात कही है । प्रोमराडु के बाल में तौल का प्रमाण हम प्रकार था —

१०० रत्नी = १ तौला

१०० तौला = १ बीमा

१०० बीमा = १ बाफवा

बरह का सिक्का भी उन्ही समय बना था । इसका 'बरह' नाम प्रारम्भ-आद्यन के कारण पड़ा था । एक बर्गाटरी बेन्पा ने अपना घुन्क 'गाटी हाटनित्क' अर्थात् गुरु गादी और मोने का एक सिक्का

१. मल्कापुर का शासन (शिलालेख) ।

२. " " (तिलंगाना शासन-ग्रन्थम्) ।

बतलाया था ।<sup>१</sup> एक और बेइया ने सोने के दो सिक्के मंगे थे । नागुल-पाडि के शिलालेख में 'वरहा' की चर्चा है । जमीनें रेहन रखने में 'रुका' (रपया) का उपयोग होता था ।

"पाँच सौ 'रुका' के वज्र के बदले में (पद्य) जोनों गड़ुं अग्रहार (इनामी ग्राम) रहन रखा ।"<sup>२</sup>

वरगल के 'खां-साहब-बाग' में जो शिलालेख है, उसमें चिन्नामुनु (छोटे सिक्कों) की बात दो-तीन, बार कही गई है । सबसे छोटा सिक्का शायद 'तारा' कहलाता था । एक पिच्चकुटला भिखारी भील माँगते हुए कहता है - "धर्मात्मा लोगो, 'तारा' दान करो ।" साधारण व्यवहार में 'माडा' का चलन था ।

पलनाडि के बालचन्द ने कहा है कि—

"हमारे कुल में मोलिमाडा का चलन है !"

'मोलि' कन्या-शुल्क की कहने है । यह ध्यान देने योग्य विषय है कि उन दिनों बेलमें जाति के अन्दर 'मोलि' चलती थी । मल्लमल मुसलमानों की दस्तकारी थी । आन्ध्र में मन्वमन<sup>३</sup> अच्छा चल चुका था ।

अनाज के नापने में कृन्चम, (१ मन), इरमा (२ मन) और तूम (४ मन) चलते थे ।<sup>४</sup>

## व्यापार

काकतीय युग में व्यापार की अच्छी उन्नति हुई । राज्य के अन्दर पूर्वी द्वीपों और पाश्चात्य देशों से मान आता था । बन्दरगाहों पर तट-बार लिया जाता था । हर बन्दरगाह पर मित्र-भिन्न करों की दरें सबकी जानकारी के लिए शिलालेखों के रूप में खुदाकर लगवा दी गई थीं ।

१. 'पण्डिताराध्य चरित्र', (भाग २, पृष्ठ ३०७) ।

२. 'वीरभिराममु' ।

३. मल्लमल्लुगुडुल्लु, 'पालनाडिवीर-चरित्र', पृष्ठ १७ ।

४. 'वसव पुराणमु', पृष्ठ १४६-१५२ ।

आन्ध्र में मोटुपल्ली और मदली बन्दर (ममूली पट्टम) प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। इन बन्दरगाहों पर अरब, ईरान और चीन के देशों से आया हुआ माल उतरता था। मोटुपल्ली में जो शिलालेख हैं उससे प्रतीत होता है कि आन्ध्र देश के अन्दर कर्पूर, चन्दन इत्यादि सुगन्धित सामग्री बाहर से आया करती थी। हाथी दाँत, मोती और रेशमी कपड़ों का आयात अधिक होता था। वह शिलालेख गणपति देव का लगवाया हुआ है।

गाँवों और बन्धों में भी चुट्टी ली जाती थी। बरगल के अन्दर मैला बाजार में भी करो की दर लिखी हुई थी। जिस स्थान पर यह शिलालेख है वह आज खाँ साहब का बाग बहलाता है। शिलालेख से प्रतीत होता है कि मैला बाजार में सभी तरह का माल बिबठा था। पान-सुपारी, भाजी, तरकारी, नारियल, बेलें, आम, इमली, तिल, गेहूँ, मूँग, धान, ज्वार, तेल, घी, नमक, गुड़, सरसों, काली मिर्च, राँगा, सीसा, ताँबा, चन्दन, बरतूरी, रेशम, हल्दी, प्याज, लहसुन, अदरक आदि सभी चीजें वहाँ बिबनी थी। मत है कि "एक स्त्री चिह्ना-चिह्नाकर मदनमस्त वा तेल देव रही थी।"<sup>१</sup>

### मनोरंजन

नक्षत्र मठ ने तेलुगु देश की जन-भाषा को भी और पूर्व कवियों की कविता-मण्डितियों को भी पर्याप्त रूप से अक्षान्तगित कर दिया। जान पड़ता है कि तेलुगु के प्राचीन कवि मध्याक्षर, द्विपद, त्रिपद, पदपद, रगद जैसे सरल छन्दों में कविताओं की रचना करते थे। जन-साधारण उन्हें चाव से सुनता और स्वयं भी गाया करता था। नक्षत्र के बाद दो सौ वर्षों में भीतर-ही-भीतर द्विपद का भान घट गया। दमोदर शायद पाल्-पुरिवा सोमनाथ ने द्विपद को श्रेष्ठता की विशेष रूप से चर्चा की है :

"ऊँचे-ऊँचे गल-पल की छयेक्षा

सरल "जानुतेलुगु" (जनतेलुगु) में कहने से

१. 'मयुमल्लुगुडुलु', पल्लनाडि, पृष्ठ १४।

सर्व साधारण भली भाँति समझ सकेगा ।

इसलिए मैं पूर्णतया द्विपदों की ही रचना करूँगा ।”<sup>१</sup>

उनके समय और उनसे पहले लोगों के अन्दर तरह-तरह के गीत-प्रकार, जैसे भ्रमर-पद, पर्वत-पद, शवर-पद, निवालि-पद, वानेशु-पद, चन्द-पद इत्यादि प्रचलित थे ।<sup>२</sup> धीरे-धीरे ये सारे पद लुप्त हो गए और हमके कारगु जनता में विद्या का प्रचार और विद्या-प्राप्ति के साधन कम हो गए । कारगु, जनता में गीतों की ही अधिक महत्त्व प्राप्त था । वह स्वयं अनेकों प्रकार के गीत गा लिया करती थी ।

“जगह-जगह लोग ‘भक्तकूटों’<sup>३</sup> में  
स्वर्ण पद रच-रचकर गाने सुनाते थे,  
प्रस्तुतोक्ति, गद्य-पद्य काव्यमय  
सांग या भाषांग या त्रियांग नाट्य  
अभिनयन करते थे । चौपालों में  
जुड़-जुड़कर, और कुछ नहीं तो फिर—  
कूटने या काटने के पद ही गा लेते थे ।  
अथवा ‘रोकटि-पाँटे’<sup>४</sup> के ‘पाडु’ ।”<sup>५</sup>

‘रोकटि-पाँटे’ आज भी तेलुगू में चालू है । कूटने-पाँटने, छेद काटने और पानी मोचने हुए लोग अब भी ये पद गाया करने हैं । ‘भक्तकूट’ चौपालों और ‘रोकटि-पाँटे’ अप्रभ जनता में आज तक जीवित हैं । यह बात समझने योग्य है ।<sup>६</sup>

१. ‘वसवपुराण’, पृष्ठ ५ ।

२. ‘पंडिताराय्य चरित्र’, द्वितीय भाग ।

३. अर्थात् भजन-मण्डलियों में ।

४. ‘रोकटि पाँटे’=मूसल के गीत ।

५. पाडु—पद ।

६. ‘वसवपुराण’, पृष्ठ १२४ ।



और फिर—

“.....‘रोकटि-पॉट’ बने है घेदों के स्वर

मानो हम शिव-भक्तों के घर आकर ।”<sup>१</sup>

यहाँ पर कवि ने ‘रोकटि-पॉट’ को वेदों के समतुल्य मानकर उनके महत्त्व को ही जताने की चेष्टा की है।

नाचना रोमयाजी ने ‘जाजर’ गीत की बड़ी प्रशंसा की है—

“दूधिया चांदनी में घोलाएँ लेकर

गातीं रमणोक पदों के गीत मनोहर,

ब्राह्मण-टोलो की सुघड़ रमणियाँ मृदु स्वर !

रसिको-गुनियो को तो प्रिय हैं पद ‘जाजर’ !”

यह उद्धरण ‘वसन्त-विलाप’ में लिया गया है। पूर्व-मूरियों द्वारा उद्धृत यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। उक्त ‘जाजर’ क्या है, यह हमें कुछ भी मालूम नहीं। मन् १६५० ई० तक शायद हमारे पूर्वजों को इसकी जानकारी थी। ‘बटुछाश्व चरित्र’ में दामोदर बेंगळ भूपाल ने ‘जाजर’ शब्द का प्रयोग किया है, पर उसमें हमें ‘जाजर’ का कुछ पता नहीं चलता। ब्राह्मण-टोलो में ‘जाजर’ गाने की बात बही है। दमने अनुमान हो सकता है कि यह गीत-प्रकार ब्राह्मण महिलाओं में अधिक प्रचलित रहा हो।

इस मिलमिल में जाजर के सम्बन्ध में दो बातें जान लेने योग्य हैं। कविवर धीनाथ ने ‘जाजर’ की जगह ‘जादर’ शब्द का प्रयोग किया है। अपनी उम बरिना में ये कहते हैं—

“छक-छककर पिये बारणी, बक्ष की बाटिका-बेरिका पर

चन्द्रिका में कनक-धीन भँकारती मोहिनी अप्साराएँ

उन भुवन-मोहिनी-मूर्ति-घर भीम-धनु के हृदय मोहती

मोदमय टेक के ‘जादर-जादरम्’ चर्चरी-गीत गाये ।”<sup>२</sup>

१. ‘वसवपुराणम्’, पृष्ठ २१६।

२. ‘भीमेश्वर-रक्षणम्’, ५-१०३।

नाचनें सोम ने ब्राह्मण-टोले में 'जाजर'-गीत गवाया था तो श्रीनाथ ने वेश्याओं द्वारा बोलत के साथ 'जादर' गवाया । चौदनी रातों में मद्र गीत और भी आनन्ददायक रहा होगा । भेतों के अन्दर काम करने हुए मजदूरों के जाजर-गीत गाने का रिवाज तेलंगाना के कुछ जिलों के अन्दर अब भी है । बरगन जिले के अन्तर्गत मान बोटा के एक सज्जन ने एक ऐसा गीत हमें लिख भेजा है ।

"जाजोरि जाजोरि जाजोरि पापा"

जाजू खेले धूड़ो की पापा

पूरब से आया रे भूरा सिमार

पश्चिम से आया पहाड़ी सिमार

यह सिमार यह सिमार खोद गये अपार

जोगिया ने दिये थोड़े से ज्वार

सेती की हमने नदी-किनारे

बौल खण्डो ज्वार भगर लोंच के मारा रे

उठा के पटक तो साठ खण्डो ज्वार

सब से गया अप्पिया सरदार

रेत-रेत छोड़ गया धड़ी-पैसेरी

भूसी भर पास रही, किस्मत मे मेरी,

मिट्टी ही मन भर बाँटे हमारे

तुम्हीं कहो, दिन कैसे गुजारें

पौली-सी काजी, तो भी धलोनी

दो जून ताके जिवंगी दोनो ।

कड़वी से मूले तन-मन हमारे

दुट्ही लटिया ये सेटे गुहारें,

जाजोरि जाजोरि जाजोरि पापा !"

यह गीत किसानों की दुर्दशा की जीतो-जागती नमस्कार है । जमीन

१. पापा—प्यारा प्यारा ।

भी अच्छी है, मिहनत भी कोई कमी नहीं। बीज नहीं थे तो किसी साहूकार ने कुछ ले आये। कर्ज पर। पैदावार तो खूब रही, पर लाभ क्या हुआ? साहूकार आये, सब उठा ले गए। किमानों के भाग्य में सदा भूख और नंग ही बदे हैं। पर ऐसी दशा में भी सर्व-हारा देयन अपनी जाजरी गाकर मस्तुष्ट हो जाती है।

केतने कवि ने 'मल्ल' नाम के किसी लोक-गीत का उल्लेख किया है :

"कल्लें (भूठ) बोलते हुए, मल्लें गाते हुए" ...<sup>१</sup>

हो सकता है कि यह गीत उन दिनों प्रचलित रहा हो।

ग्रान्ध-साहित्य में पुनली-नाच के उल्लेख प्राचीन काल में ही पाये जाते हैं। ग्रान्ध की प्राचीन लोक-बंगा होने हुए भी पुनली का नाच भ्रम महाराष्ट्रों के हाथ में चला गया है। 'पाल्नाटि-वीरचरित्रम्' में उल्लेख है : "इसी प्रकार, जिस प्रकार पुतलियों को नचाने के लिए घामा जाता है।" और नाचनें सोमयाजी ने उपमा दी है :

"... जिस प्रकार नचर्चया पुतलियाँ नचा-नचा धरती पर डेर किये देता है।"<sup>२</sup>

ग्रान्ध-साहित्य में पाल्नाटि की सोमयाजी में लेकर संजावर रघुनाथ राय तन के प्रायः सभी कवियों ने पुतली-नाच की चर्चा की है। पुनली-नाच का मतलब है चमड़े की पुतलियों का नाच। यह तो कहा नहीं जा सकता कि भारत के किन-किन प्रान्तों में चमड़े की पुनली के नाच का चलन था, परन्तु वर्णाटिक और ग्रान्ध में तो यह नाच प्राचीन काल से ही चला आया है। चारों तरफ में चमड़े की चार दीवारें गड़ी करके उसके अन्दर बाँस आदि लगाकर, सामने के पतले गफंद परदे पर, अन्दर की ओर से ये पुतले नचाये जाते हैं। तम्बू के अन्दर रोगनी के लिए मगालें जलाई जाती हैं। पुनलियों के हाथ, पैर, तिर, कमर,

१. 'दशकुमार-चरित्र'।

२. 'उत्तर-हरिवंशधु', पृष्ठ २८१।

गरदन आदि में मूत्र के डोरे बंधे होते हैं, जिन्हें संदर्भ के अनुसार बीच-बीच में जाने पर परदे पर पुनर्निर्वा नाचा करती हैं। मुर-ताल के साथ कथा-गायन भी होता रहता है। बुझारेड्डी की 'द्विपद-रामायण' से दोहे मुनाये जाते हैं। पुनर्लियो को सूत की डोर अर्थात् मूत्र से नचाने के कारण नचबयों को मूत्रधार कहा जाता था। संस्कृत-नाटको में तो मूत्रधार मंच पर आकर, घाने वाले विषय पर ही शब्द बहकर चला जाता है। किन्तु चमड़े के पुतलों के नाच में आदि से अन्त तक सूत्रधार का ही काम होता है। अतः नाटको की अपेक्षा इन पुतलों के नाच के लिए ही 'मूत्रधार' शब्द पूरा चरितार्थ होना है। यह विषय विचारणीय है कि पुतलों के नाच वाले नाटको के लिए सूत्रधार को लेकर नाट्य-विधान को तदनुसार सुधार लिया गया और नाटको से ही यह शब्द पुतलों के नाच में पहुँचा।

राम के पुतलों में रामायण, महाभारत के राम, लक्ष्मण, रावण, कुम्भकर्ण, बालि, सुग्रीव, हनुमान, अंगद, भीम, अर्जुन, कृष्ण आदि सभी पात्र विविध रंगों में रंग-रंगकर विधि पूर्वक बने होते हैं। आकार में कभी-कभी ये पुतले पोरने-पोरने-भर ऊँचे मानी आदमकद हुआ करते हैं। पुतले के परदे पर आने ही दर्शक यह समझ लेते हैं कि यह पुतला अमुक पौराणिक पात्र का अभिनय करेगा। इन पुतलों और इनकी पोशाकों के रंगों से प्राचीन वेग-भूषा का अनुमान लगाया जा सकता है कि राजा की पोशाक कभी होती थी, अथवा सवार या सिपाही किस प्रकार की वस्त्र पहनते थे। चमड़े की पुतली के नाच में बीच-बीच में हास्य का पुट भी होता है। परन्तु वह हास्य बहुत ही असम्य होता है। शासकों ने इन ओर ध्यान नहीं दिया। सिनेमा की अभिप्राय-अभिलीनता के माथ-माथ इसे भी हटाने की चेष्टा होनी चाहिए।

आजकल मेलों के अन्दर जो बड़े-बड़े झूठे गोल चक्करों में घूमते हुए देखे जाते हैं, वे अपने प्राचीन आदर-सम्मान को आज भी बनाये हुए हैं। तेलुगू भाषा में इसे 'रंकु राटनम्' कहा जाता है। बर्दाई इन्हें

बनाने तो हैं ही, पर ऐसा नगता है कि इन मूलों का खेल भी वही करते थे :

घटिल-जटिल संसृति में जीव-घट  
 चक्र-कर्म-पटु-पश्वितो-भ्रमणो के समान  
 किसी कोल पर सुतार  
 यक चक्र 'रंकु रादनघ' को नचाता है ।<sup>१</sup>

कोलाटम मानी गिल्ली-डंडों का नाच—कोला के अर्थ हैं छड़ या डण्डा, भाटा के माने हैं खेल । हाथ-भर के छिने छप्पे दोनों हाथों में लेकर, एक-दूसरे के डण्डों को बजाने हुए चक्राकार में घूमने के खेल को 'कोलाटम' कहते हैं । मोंमयाजी के कोलाटम के साथ प्रेरणी, गोंडली, प्रेंगला आदि नाम भी गिनाये गये हैं ।<sup>२</sup> गोंडली मर्म-नृत्य को कहते हैं और प्रेरणी घड़े के नाच को । गोट जानि के इस खेल को, जिसमें गिल्ली-डण्डाकार वृत्त में नाचने हुए घूमते हैं, चातुर्व्य गजा मोमेश्वर ने अपने राज्य के अन्दर खूब ही प्रचलित किया था । ग्रान्थ जाति के दो गायन खेल हैं । एक 'उप्पनपट्टे', और दूसरा गिल्ली-डंडी । "उप्पनपट्टे (नमक चोर) खेलते समय यादव उप्पु (नमक) लाया करते हैं ।"<sup>३</sup> ग्राज भी यह खेल मेला जाता है । हैदराबादी उर्दू बोली में इसे 'लोन-पाट' कहते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्र-तट में नमक उठाकर राज्य-वार तथा चोरो आदि से बचाकर घर तक नमक पहुँचाने में जो बटिनाइयाँ पड़ती थी, उन्हींकी खेल का रूप दिया गया है ।

गिल्ली-डंडी को उमर में भी बच्चे खेलते रहते हैं । यह तो मानो हमारा देशी 'ब्रिबिट' है । यह खेल बड़े की सहायता में लकड़ी के एक छोटे टुकड़े को जमीन में उछालकर मारने का खेल है । ग्रान्थ में इसका मूल ही प्रचार था । बिल्लगोवि, दंडु-मुली, चरगोने, चिन्नगोडे, गब दमीक

१. 'पान्कुरिषी अमकपुराणमु', पृष्ठ १०२ ।

२. नाचनं सोम, 'उत्तर हरिवंशमु', पृष्ठ १७२ ।

३. नाचनं सोम, 'उत्तर हरिवंशमु', पृष्ठ १५८ ।

नाम है। दम-दम बारह-बारह की टोलियाँ बनाकर बड़े-बड़े मैदानों में सयाने लोग भी यह खेल खेलते थे। डंडे की चोट खाकर गिल्ली आकाश में उड़ती हुई सौ दो सौ गज दूर जा पड़ती थी। अधिक बानू पद्धति यह है कि एक छोटी लकड़ी को दूसरी बड़ी लकड़ी से मारा जाता है और फिर बड़ी लकड़ी से छोटी लकड़ी तक पहुँचने तक बड़ी लकड़ी में नापने जाते हैं। इस नाप में एक, दो कहने के बजाय बन्नु, रेंगचि, भूल-मुज्जि, गेरगोरा, इस प्रकार सात तक गिनते हैं।<sup>१</sup> कहा नहीं जा सकता कि मान की सख्या तक की गिनती को इसी एक खेल में क्यों बदल दिया गया है। कवि बुद्धधोष लगभग १४०० वर्ष पूर्व का है। उसने अपने काव्यों में 'घटिका खेलनम्' का वर्णन किया है। उसने अपनी व्याख्या में छोटी लकड़ी को बड़ी से मारने को 'घटिका' कहा है। इसमें प्रतीत होता है कि अन्य प्रान्तों में भी यह खेल प्रचलित है। महाभारत में भी कौरव-पांडवों ने छोटी लकड़ी को बड़ी से मारकर खेला था। महाभारत में इसका वर्णन इस प्रकार है :—

“जित्त समय द्रोणाचार्य ने पहली बार हस्तिनापुर में प्रवेश किया उस समय कौरव-पांडव शहर के बाहर गेंद खेल रहे थे। वह स्वर्ण गेंद जाकर एक कुएँ में गिर पड़ी।” यह तो ‘ग्रान्थ महाभारत’ का पाठ है। (आदि पर्व—१-२०६)। मूल संहित पाठ यह है :

क्रीडन्तो बोटया तत्र बीराः पर्यवरन्मुदा ।

पपात क्रूषे सा बोटो तेषाम् र्वं क्रीडतान्तरा ॥

‘बोट’ शब्द का अर्थ महाभारत की टीका में यो दिया गया है :

“बोटया यावामारेण प्रादेशमात्रकाष्ठेन यन् हस्तमात्र दष्टेन उपर्यु-परि पुमारा प्रक्षिपन्ति ।” अर्थात् बीने-भर की लकड़ी को हाथ-भर की लकड़ी से मारने का खेल ।

भराठी साहित्य के इतिहास का कहना है कि :

१. पुरषो हिन्दो में गिल्ली-डंडे की सात तक की गिनती यह है : ‘ऐंडो, दोंडो, तिलिया, चौंडो, चम्मा, सेल, मुद्दे’ ।—संपा० हि० सं० ।

“पहले महाराष्ट्र में चिन्नागोडे का खेल नहीं था। अब इसे बीटि दंडु या बीटाडंडा कहते हैं। खेलते समय मराठी बच्चे सात तक को जो गिनतो गिनते हैं, वह तेलुगु गिनतो है। यह कैसे हुआ? सन् १३५० ई० में जब महाराष्ट्र में भारी अकाल पड़ा था, तब लाखों महाराष्ट्री, आंध्र, कर्णाटक, तमिल आदि दूसरे प्रान्तों में चले गए थे। साथ में उनके बाल-बच्चे भी थे। अकाल मिटने पर वे अपने प्रान्त को लौट आए। उस समय जो महाराष्ट्री आंध्र में गये थे, वे जब अपने प्रान्त को लौटे, तब अपने साथ आंध्र-देश के टेन-कूद, गीत-गान आदि भी लेते आए। आज भी बच्चों में ‘चिन्न गोडे’ और बच्चों के तेलुगु गीत वहाँ चालू हैं।”

अत्तीषंव तिगा, डूगा, मत्ता, दस,

चीगा, चंघि, चम्पा चीरं, चित्तिग

इट्टुग, यद्रमु ..... ..

(‘उत्तर हरिवंश’, अध्याय ३, पृष्ठ १२०-१२१।)

इस सम्बन्ध में पृष्ठ १०६ से १२६ तक चौपड़ का ही वर्णन दिया गया है। परन्तु इन पद्यों में प्रयुक्त अधिकांश शब्दों के अर्थ नहीं जाने जा सकते।)

हम यह कह सकते हैं कि यह गेल आंध्र में कम चला है। अब भी आहरण, स्त्री-पुण्य इसे दो पासो (पाचिकर) से गेला करते हैं। अन्य जाति वालें छ या सात बीटियों से खेलते हैं। इसे ‘पच्चीसी’ कहते हैं। पच्चीसी उर्दू अथवा हिन्दी शब्द है। ऐसा लगता है कि आंध्र में भारत मुसलमानों ने इस खेल को अपनाया और उसे अपने नाम दिये। फिर उन्हीं नामों को आंध्रों ने अपना लिया। पच्चीसी के नाम के साथ दम, बारह, पच्चीस, तीस आदि गणना-नामों को भी उर्दू-नामों अपना लिया। यह मुसलमानी खेल नहीं है। खेल के आरम्भ में बबियर गोमयाजी ने ‘हरिवंश’ में चौपड़ का वर्णन करते हुए लिखा है कि सबसे पहले चौपड़ के विषय को लकड़ी के तख्ते पर खदिया मिट्टी-जैसे नरम परस्पर में गोबते थे। फिर ‘स्वर’ देखते थे कि सूर्य नाड़ी चत रही है अथवा चन्द्र नाड़ी।

खेल प्रारम्भ करने से पहले बाजी भी बढते थे । रविमणी तथा श्रीकृष्ण भगवान् ने इसी प्रकार चौपड़ खेला था । इस खेल में जो सकेत बरते गए हैं, वे ध्यान देने योग्य है । दूगा, तीगा, सत्ता, बद्रा आदि सख्या-नाम बरते गए हैं । 'शब्द रत्नाकर' में बद्रा का अर्थ 'वारह' दिया है । पाँसे दो होते हैं । दोनो पाँसों के चार-चार पहलू होते हैं । हर पहलू पर छँ-छँ, चार-चार, तीन-तीन या एक-एक अर्थान् आठ जोड़ों पर अठाईस त्रिन्दियाँ होती है । उन पाँसों को हथेली पर तौलकर फँकने पर पाँसों के पहलू के अनुसार १२, १०, ६, ८, ७, ६, ५, ४, २ के नौ-नौ पाँसे पड़ जाते हैं । उक्त अतीवच पद्य में जो गिनती गिनाई गई है उसके अर्थ इस प्रकार होंगे - अतीवच (अतीवच-तीवच) = चार, तीगा = तीन, दूगा = दो, सत्ता = सात, तच्चोर्क = आठ, वचि = एक, तच्चोर्क वचि = आठ-और एक नौ, चौवच = पाँच, इरंदु = दस, इसिया = छँ ।

अब हम देखें कि यह खेल खेला कैसे जाता है । खेलने के पाँसे हाथीदाँत, लकड़ी या धातु के बने होते हैं । चौकोर और कुछ लम्बे से । हर पाँसे पर चारो ओर नीचे दिये चिह्न बने होते हैं,—

१

२

३

४



इस प्रकार हर पाँसे पर १, २, ४, ६ के चिह्न होने हैं । पाँसों को हथेली पर लेकर जमीन पर छोड़ देते हैं ऊपर की ओर पड़े हुए चिह्नों की सख्या को गिनकर चौपड़ या चौसर पर गुट्टियों (कुक्ड़ियों) को बढाया जाता है । पच्चीसी को, जिसे कीड़ियों से खेला जाता है, पाँच कीड़ियों के चित पड़ने पर पच्चीस और छँ कीड़ियों के चित पड़ने पर तीस बढा जाता है । और पच्चीस या तीस धरों को आगे बढाकर गुट्टी (कुक्ड़ी) बिठा दी जाती है । किन्तु चौसर में जितनी गिनती निकलती है उतने ही धर आगे बढते हैं । इसमें गुट्टी (कुक्ड़ी) जोड़ी से चल सकती



है। तब प्रतिपक्षी को गुट्टियाँ (कुक्कड़ियाँ) भी जोड़ी से ही मारकर उन्हें मार सकती हैं। बाकी सभी बातों में पच्चीसी और चौसर दोनों एक ही समान होते हैं। चौपड़ का चित्र देखें। पच्चीसी भी इसे कहते हैं। इसमें प्रत्येक पक्ष में आठ गुट्टियाँ (कुक्कड़ियाँ) होती हैं। पहचान के लिए दोनों के अलग-अलग रंग होने हैं।<sup>१</sup> मार में बचकर चारों ओर के घरों से होने हुए अपने बीच के स्थान में चौसर के बीच में पहुँचने पर और इस तरह सारे गुट्टियों को केन्द्र के घेरे में ले जाने पर जीत होती है। नाचनें सोमयाजी ने जिस खेल का वर्णन किया है, वह तेलुगू-देश में प्रचलित रहा होगा। कर्णाटक में भी सम्भवतः वही रहा हो। आजकल ग्रान्थ बाने इमे जिस ढंग से खेलते हैं, वह ढंग सोमयाजी के वर्णन से लगभग मिलता-जुलता है। तमिलनाडु का खेल कुछ भिन्न है। वहाँ भी इससे मिलता हुआ एक खेल होता है, जिसे 'कररा' कहते हैं। उगमें तीन पीतली पाँसे होने हैं। पहले पर एक चिह्न, दूसरे पर दो, और तीसरे पर तीन होने हैं। गुट्टियाँ या कुक्कड़ियाँ धँ-धँ होनी हैं। एक खिलाड़ी दाएँ में गेलता है तो दूसरा बाएँ में।

वैदिक-काल अथवा महाभारत-काल का चौपड़ इतने भिन्न होता था, वेदों और पुराणों के अन्दर इस खेल को 'यय मेननम्' कहा गया है। यह नाम इसलिए पड़ा कि पाँसों में जो चिह्न होने थे उनकी आकृति आँखों की-सी होती थी। यय का शब्दार्थ है आँख। उस समय अक्षरों की लकड़ी के पाँसे बनते थे। वेदों के अन्दर कवय एलूप नामक दूध ऋषि ने उस समय व्यापे हुए इस खेल का जोरदार विरोध किया है, क्योंकि उस समय यह खेल इतना बढ़ गया था कि एक व्यक्ति ही बन गया था।<sup>२</sup>

वेद-काल और पुगण-काल में पाँसों के चारों ओर क्रम में १, २, ३

१. वो की जगह धार खिलाड़ी हों तो, प्रत्येक की चार-चार गुट्टियाँ होती हैं। उनके रंग भी चार होते हैं।—सम्पा० हिन्दी संस्करण।

२. 'ऋग्वेद', मंत्र १०, सूक्त ३४।

और ४ के चिह्न बने होने थे । इन चारों चिह्नों को चार युगों के नाम दिये गए थे । १. कलि, २. ट्रापर, ३. त्रेता, ४. कृत्त । प्राचीन काल में ही लोगों के विनोद और मनोरञ्जन के लिए भी नामों को बदलकर उनकी जगह मर्यादें रख लेने की बात ध्यान देने योग्य है । 'द्वादोऽग्योपनिषद्' में इस प्रकार लिखा है—

यथा कृताय विणितायरेमाः

शपत्येवमेनम् सर्वत्र तदभिस्तमेति,

यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति

मस्तद्वेदयत् स येन समर्थं तदुक्त इति ।<sup>१</sup>

इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चौतह खेलने में जिसकी बाजी में कृत्त युग का चिह्न आ जाता है, और वह खेल सभी बाजियों को जीत लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने अच्छे कर्मों के सारे फल एक साथ भोगता है । यही उदाहरण उसी उपनिषद् में दूसरी जगह पर भी मिलता है ।<sup>२</sup>

महाभारत की सारी कथा इसी अक्ष के जुए पर बनी है । महाभारत में प्रनीत होता है कि कौरव और पाण्डवों ने इसी कलि, ट्रापर, त्रेता और कृत्त के पक्षों से जुआ लेना था । विराट् पर्व में द्रोणाचार्य के भर्तृहन् की प्रशंसा करने पर दुर्योधन विगड़ खड़ा हुआ था । इस पर अश्वत्थामा ने कहा था :

माक्षान् क्षिपति गांडीवम्, न कृतम् ट्रापरं न च ।

ज्वलतां निक्षितान् बाणांस्तीक्ष्णान् क्षिपतिगांडीवम् ॥

भर्तृहन् अपने गांडीव से कृत और ट्रापर की गिनती करके बाण नहीं चलाता । जब उसके जानलेवा बाण चलेंगे सभी यह जान पड़ेगा कि वह कैसा शक्ति है । इन शब्दों में विदित होता है कि कौरव-पाण्डवों ने यही चौपड़ लेता था । तेलुगू प्रान्त में भी आज तक नक्कैमुट्ट, नक्कमुट्टि या लक्कि-मुट्टि के नाम से एव खेल चालू है । इस कलि-ट्रापर के खेल के, न केवल

१. 'द्वादोऽग्योपनिषद्' ४-१-४० ।

२. 'द्वादोऽग्योपनिषद्' ४-३-६ ।

भारत में बल्कि एशिया योरोप के अनेक देशों में भी, प्रचलित रहने के प्रमाण मिलते हैं। प्राचीन यूनान तथा मिस्र में इस खेल का बड़ा जोर था। यूनानी किसी मनुष्य के मरने पर उसके दाढ़ के साथ उसके चौपड़ भी कब्र में गाड़ देते थे। १२०० ई० पू० के लगभग दस साल की अवधि तक जो ट्राय-युद्ध चला था, उसमें सैनिक लोग, समय काटने के लिए चौपड़ खेलते थे।

यहाँ पर यह कह देना उपयुक्त है कि ग्राम्य साहित्य के अन्दर नाचने सोमयाजी के बाद दो-तीन कवियों ने इस चौपड़ के वर्णन में सोमयाजी का अनुकरण किया है। पिण्ड-मूर ने 'कलापूर्णादयम्' (३-१३१) में तच्चोक्, चौबड़, इत्तुम, बारा, दूगें आदि गिनती के साथ चौपड़ खेलने की चर्चा की है।

इसी प्रकार सकुसाल रत्नकवि ने अपने 'निरकुसोपाख्यानम्' (२-२२) "बार पड़ि दच्छि (दस) इत्तुगें दूगें" आदि की गिनती के वर्णन के साथ चौपड़ का उल्लेख किया है। उसने आगे और भी व्यौरा दिया है (३-२०)। बहुर-हाम नाचने सोमयाजी से तेरहर आधुनिक काल तक यह चौपड़ ग्राम्य के अन्दर चलता आ रहा है। 'विष्णु माया नाटक' (मद्रास विश्वविद्यालय में प्रकाशित) के अन्दर तीन पद्यों में विष्णु तथा लक्ष्मी के चौपड़ खेलने का वर्णन है।

उत्तर भारत में बहुरूपिये की प्रथा युगों पुरानी है। ग्राम्य में राज-कल भी पिच्छवृष्टला जाति के लोग दिन के समय ही रंग-बिरंगे भेष १. राज भी बंदिक ग्राहकों में चौतर खेलने की बात सुनकर तेरह स्वयं कर्बूस गये थे। किन्तु चार घंटों तक घूमते रहने पर भी किसी ग्राहक ने चौपड़ खेलकर नहीं बनाया। अन्त में बालमपुर में ब्राह्मण गडियारम् रामकृष्ण शर्मा का खेल देखा। तेरह के वहाँ जाने, और उनका खेल देखने का कल यही रहा कि तेरह शर्मा जो का चौपाट (चौपड़ खेलने की विधात, पति और बुकड़ियाँ—सम्पा०) उठा लाए।

लेकर लोगों का मनोरंजन करके माँग छाने हैं। तेलुगू में उन्हें काकतीय-  
कान में भी पगटिवेषम् या दिन का भेष कहते थे।<sup>१</sup>

बच्चों में भी अनेक खेल प्रचलित थे। जबान पट्टे तीतर-बटेर की  
बाजी में आनन्द लेते थे। वे हाथ के घँगूठों पर पित्तविषिट (बटेर) बिठा-  
कर खना करते थे।<sup>२</sup>

‘पल्लाडि वीर चरित्रम्’ में दिया है—

“कुँहड़े का खेल कुछ देर खेल-खेलकर  
गले की बाजियाँ बद-बदकर, खेलकर  
कुछ समय बिकागो सुपारी के खेल से  
मोतियों की गेंदें उड़ातकर, गुलेस से,  
घुल्लियों में पिला-पिला बाजियाँ करो सर,  
ला-ला के कुटिल जन्तु मन्दिर में पूर कर  
घापस में उनकी भिड़ा-भिड़ा मछें लो,  
रूपों के डेर भी लगा-लगा के खेलो . . .”<sup>३</sup>

इसे ‘गुंत-भापला’ कहा है, पर यह शब्द कौश में नहीं है। घुल्लियों  
में पिलाने का खेल शायद वही है जो आजबल भी कही-कही चालू है  
(एक तल्ली पर सात-आठ चौदह गड्डे छोड़े जाते हैं। इमली के बीजों को  
दोनों तरफ दो व्यक्ति भरकर फिर एक-एक गड्डे में डेरी उठाकर एक-  
एक खाने में एक-एक छोड़ने जाते हैं। जहाँ एक खाना खाना के बाद  
भग गड्डा मिले वहाँ वह जीत लिया जाता है। जिसके सब दाँत पटने  
ममात हो, वह हारा।—अनुवादक।)

गेंद में अभिप्राय कपड़े की वह गेंद ही हो सकती है, जिसके खेलने का  
दग देग-भर में मगभग एक ही जैमा है। जन्तुओं की भिठन्नों में भेड़ों

१. “देवंबनगनेदुता बहुरूपु” (बहुरूपियों का चलन न था); ‘बसव-  
पुराणम्’, पृष्ठ २०।

२. “करमुल पैनि पिकिरिपिट्टु नुंड”, ‘पल्लाडिवीर चरित्र’, पृष्ठ २८।

३. ‘पल्लाडि’, पृष्ठ ३८।

की भिड़न्त, भीमों की भिड़न्त, मुरगों की नडाई, तीतर-बटेर की लड़ाई आदि के नाम लिये जा सकने हैं।<sup>१</sup> 'गजगा' (एक काँटेदार धेन के दाने) में भी कुछ खेल खेले जाते हैं। बाकी सब खेल क्या हैं ? इनके नाम भी हम लोगों तक नहीं पहुँच पाए।

लट्ठ का खेल बच्चों के खेलों में प्रधान रहा है। पन्नाड बागचन्द्र ने लट्ठ का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया है। 'पन्नार' भी एक खेल माना गया है। बोंम के अन्दर इसका उद्गार्य बनाने हुए कहा गया है कि यह बच्चियों का वह खेल है जिसमें खाना पकाने के मिट्टी के गिरीने होते हैं। पाल्बुरिकी ने भी इसके सम्बन्ध में लिखा है। न जाने यह क्या खेल है ? पाल्बुरिकी ने लिखा है "पन्नार की आइ में !"<sup>२</sup>

मुर्गवाजी हिन्दुओं का प्रति प्रार्थना मनोरंजन है। पन्नाडि-मुद्ध का एक मुख्य कारण यह मुर्गवाजी ही थी। नायका-रानी के मुर्गों का अहमनायुद्ध के मुर्गों को हराना, इस द्वार के कारण अहमनायुद्ध का गान वर्ष तक राज-पाट त्यागकर परदेश में भ्रमण करना, फिर उसके बाद पन्नाडि मुद्ध का होना आदि आदि के इतिहास की सुषमिद्ध घटनाएँ हैं।

"कुरुषा कुरुषा चूडः

कुक्कुटश्चरणायुधः"

इस प्रकार 'अमर-बोम' में मुर्गों को चरणायुध कहा गया है। क्योंकि मुर्ग पंजा में लक्ष-दूधरे को मारकर लड़ा करते हैं। हमारे पूर्वज मुर्गों के पंजा में बिले-भर के चूरे बाँधकर उन्हें लड़ाया करते थे। यह प्रथा हम लोगों तक अविच्छिन्न रूप से चली आई है। तेलुगू भाषा में भी मुर्गवाजी पर पूरा पूरा शास्त्र की रचना हुई है। जाटों के मौनम में सज्जानि के अवसर पर अपने-अपने मुर्गों को बगल में दबाये, कुक्कुट शास्त्र की गिर पर गोल-गोल मार्फत में खोले और उस शास्त्र के नियमों की चरमों हुए वे पन्नाडि मुर्गवाजी में मग्न हो जाते थे। बड़ो-बड़ी बाजियाँ दात

१. 'पन्नाडि घोर चरित्र', पृष्ठ ४५।

२. 'पन्नाडि घोर चरित्र', प्रथम भाग, पृष्ठ १३०।

पर लगाई जानी थी। तीन वर्ष हुए कानून के द्वारा मुर्गों की लड़ाई की मनाही हो गई। तब मे हमारा यह कुक्कुट धाम्ब भी वहाँ कौनो अंतरो मे पड़ा तुप्त हो जाने की बात जोह रहा है।

सन् ७५० ई० के लगभग आध्र मे 'दंड' कवि के नाम मे एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। उन्होंने अपने 'दशकुमारचरित्र' मे मुर्गवाजी पर काफी प्रकाश डाला है। निम्ना है कि 'नारिकेल' जाति के मुर्गों को जीत प्राप्त हुई। केतन ने भी 'तेनुगू दशकुमार चरित्र' मे इस मुर्गवाजी पर बड़े ही विस्तार के साथ निम्ना है। इसमे यही प्रतीत होता है कि आध्र-देश के अन्दर इसका प्रचार बहुत अधिक था।

'क्रीडाभिराममु' मे तो इस पर और भी विस्तार के साथ निम्ना गया है। कविता विनोदमय है और मनोरंजन रूप मे लिखी गई है। विस्तार के डर मे सूचना-मात्र देकर हम इसे यही पर छोड़ देने हैं।

जन-मनोरंजन का एक माधन, 'गगिरेदुह' भी था। गगिरेदुह गगिर+एदुह। एदुह का अर्थ है बैल। (बैल की पीठ पर रंग-बिरंगे मलों में तैयार की हुई एक भारी छम्बारी-सी उड़ा दी जाती है। सींगों पर मोरछन बांध दिये जाते हैं। घोंटा-बहुत खेल भी उमे मिलाया जाता है। आध्र मे इसका रिवाज आज भी है।)

ये हैं थोड़े-से खेल और मनोरंजन के माधन, जिनमे काव्यतीय युग मे हमारे पूर्वज मनोरंजन बिधा करने थे।

### स्त्रियों के आभूषण

पता नहीं पुराने जमाने मे तेनुगू स्त्रियों को गहने इतने प्रिय थे। वे गरह-नरह के गहने बहुत पहनती थीं। हाथों-पैरों में बड़े, नाकों मे नय, कानों मे बानियाँ, बाजुओं मे बाजूबंद और वकी (बाकी बिजापठ),

१. 'दशकुमारचरित्र'।

२. "गगिरेदुलवाङ्कार मल्लि

मुकुटाङ्गोदिविन पोतेदुलदुह !"—'पत्ताडि', पृष्ठ २०।

माँग में आगे से पीछे तक छोटे-बड़े किल्ले (मैगटीके) घादि सब पहने जाते थे। रात में वे 'ओमाल हार' पहना करती थी।<sup>१</sup> आजकल स्त्रियाँ, युवतियाँ तथा युवक भी मुख पोतने में खूब धन खर्च करते हैं। स्ना, पाउडर, तेल, आलते (नाखूनो के रंग), महावर आदि और फिर उनके आवश्यक उप-साधन चुन्न, शीशे, कचे इत्यादि का उपयोग घटत्ये से करते हैं। उन दिनों स्त्रियों के लिए हल्दी ही प्रधान घमराग थी। रोंगे भाटने और मुख का रंग निरखाने के साथ-साथ हल्दी के उबटन में कृमि-महारक गुण भी है। उन दिनों स्त्रियाँ नाखूनों में मेहरी लगाया करती थी।<sup>२</sup>

होंडों में लाल का याक (लाल रंग) लगाया करती थी। घाँवों में काजल लगाती थी। पैरों में लाल का बना लाल रंग 'पारागि' लगाती थी।

दंडि ने अपने मसूक्त 'दशकुमार चरित्र' में स्त्रियों के गहनों के सम्बन्ध में मणि-नूपुर, मेखला, ककण, बटक और ताटकहार मात्र का वर्णन किया है। किन्तु केतन ने अपने 'तेलुगू दशकुमार चरित्र' में महिलाओं के आभूषणों में अनेकों नाम गिनाये हैं। वेमा लगता है कि आन्ध्र देश के धनी-वर्ग के अन्दर ये आभूषण प्रचलित थे। केतन द्वारा वर्णित आभूषण ये हैं -

मट्टे (दंर के छल्ले), मणिनूपुर (भाँभज), करधनी, मोती, कन्नवडम्, पट्टी, चमेली, धातुबंद, श्रेणूठियाँ, हार, कंगन, कण्ठफूल, तिलक, मेहदी, काजल आदि।

पल्लनाटि-मुठ तक गड़े शीशे (बड़े घाटने) भी चल चुके थे।<sup>३</sup> वरगल की स्त्रियाँ नाटक और मोतियों के कर्णपूल, काची-नूपुर, ककण,

१. 'पंडिताराघ्य', पृष्ठ १३६।

२. नन्नेचोड — 'कुमारसंभवम्'।

३. 'पल्लनाटि', पृष्ठ १६।

त्रिपर, (तिलडो, निहरा हार) और कड़े कगन भी धारण करती थी ।<sup>१</sup>

### विविध वस्तुएँ

रक्षा के उद्देश्य से ताबीज पहनना भी एक प्रथा-बीज ही हो गई थी । गने घोर बाहुधो में 'ताबीज' बाँधे जाने थे । करघनी में भी ताबीज पहने थे ।<sup>२</sup> यह निश्चिन्त रूप में नहीं कहा जा सकता कि मनु ११७२ में पल्लवाडि युद्ध के समय या जब कि थोनाथ ने उस युद्ध को छन्दोबद्ध किया, तब ताबीजों की प्रथा थी या नहीं । किन्तु काव्यनीयो के समय तो ताबीज जम्हा थे । अण्व कवि ने इस पर स्वामी लम्बी चर्चा की है । ताबीज को तेलुगू और ब्रज में 'तायेनु' कहते हैं । इस शब्द के उसने अर्थ यों किये हैं—नाथि (ब्रज) = माना, एनु = रक्षा । मानाएँ अपने बच्चों की रक्षा के लिए ही ताबीज बाँधती थी । इसीलिए वह तायेनु कहलाता है । किन्तु क्या केवल बच्चों को ही ताबीज बाँधे जाने थे ? क्या केवल माताएँ ही बाँधती थीं ? क्या बड़े भी नहीं बाँधते थे ? क्या तात्रिकों में ताबीज लेकर बूटे और युवक भी नहीं पहनते थे ? फिर 'एनु' के लिए रक्षा का प्रयोग कहाँ हुआ है ? मुद्गराज ने 'तायनु' लिखा है, 'तायेनु' नहीं लिखा । अण्व कवि मुद्गराज पर नाटक उद्धव पडे । हमारा विचार है कि यह अमल में तेलुगू शब्द है ही नहीं । यह भरवी शब्द ताबीज ही है । कुरान की आयनों को निक्कर मुमलमान गने में डाल लेने हैं, और उमीकों हम लोगों ने अपनाया है ।

बीड़ा उठाना—राजस्थान आदि में जिस प्रकार किमी माहमपूर्ण कार्य के लिए बीड़ा उठाया जाता था, उमी प्रकार आंध्र में भी होता था । युद्ध आदि वीर-कृत्यों पर जाने समय वीर-नाम्नून दिया जाता था ।<sup>३</sup> ताम्बूल के माने हैं पान का बीड़ा । बीड़े को तेलुगू में 'विडेमु'

१. 'बीड़ाभिराममु' ।

२. 'पल्लवाडि', पृष्ठ १० ।

३. 'बसवपुराणमु', पृष्ठ २४१ ।



बहने है।

गटिया आदि वायु-रोगों के लिए वायु तैम तैयार होने थे। धनूरा, रेडी, आक और सम्भालू आदि के पत्तों से सेवा जाता था।<sup>१</sup>

बेगार—उस समय बेगार की प्रथा भी थी। यह भारत की अति-प्राचीन प्रथा है। संस्कृत शब्द वेष्टि से तेलुगू में वेष्टि (बेगार) बना है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में बेगार की चर्चा है। तेलुगू कवि पाल्कुरिकी ने एक जगह कहा है—

“शूद्र अधिकतर चत्तुडमु या चित्ताडमु (दियाऊ) बनाया करते थे।”<sup>२</sup>

गुलेन सेतों में चिटियाँ उड़ाने और युद्ध में सत्रु का भगाने के काम में आती थी।<sup>३</sup> नौकर को वेतन की जगह ज्यार दी जाती थी। नौकरी के बदले नाज का रिवाज अब भी है।

नभिचोटु ने निम्ना है।

“उधार का ज्यार जाँगर चमाके पडाऊंगा।”<sup>४</sup>

कथा पुराण—भागवतादि पुराणों की कथाएँ होनी थीं। सभी लोग बैठकर सुना करते थे। पन्नाडि के बामचन्द्र की माना में कहा था—  
“बेटा! शास्त्रों को सुनाकर भागवत की कथा करवाओ। महाभारत की कथा सुनो, जिससे ज्ञान बढ़े।”

यह ब्राह्मी नताप्पी के उत्तरार्ध की बात है। सन् ११७२ तक महाभारत के बंवल आरम्भिक तीन पर्व ही तेलुगू में लिखे गए थे। और तेलुगू भागवत तो बना ही नहीं था। अभिप्राय यह हुआ कि आध्र-देश में तब ब्राह्मण लोग समृद्ध में भागवत, महाभारत आदि पढ़कर श्रोताओं को उगना अर्थ तेलुगू में समझा दिया करते थे।

व्याज-वट्ट का धन्धा खूब चलता था। “व्याज, भूगमोरी, बैद्य,

१. ‘बसवपुगणमु’, पृष्ठ ७७।

२. वही, पृष्ठ ८३। ‘वडिनारारप्य’, प्रथम भाग, पृष्ठ ५२१।

३. ‘उत्तर हरिवंश’, अध्याय ३, पृष्ठ १०३।

४. ‘बुमारमंभवमु’, अ० ११।

वेस्या-वृत्ति, बूटें-कूति (होटल).....”<sup>१</sup>

इससे प्रतीत होता है एक हजार वर्षों में पूर्व भी आन्ध्र में होटल की प्रथा मौजूद थी। हमारे पूर्वजों ने भी शायद इन्हीं अन्न-विक्रय (होटल प्रथा) की निन्दा की है। जब ऐसे-ऐसे प्रशस्त वस्तुओं ने हमकी निन्दा की है, तब हमका मतलब यही हुआ कि आन्ध्र देश में हजार वर्ष पहले भी होटलों का बोल-बाला था। जहाँ बड़े शहर वैसे-वैसे वहाँ होटलों का चल पड़ना अनिवार्य है। वरगल आन्ध्र का एक विशाल नगर था। इसलिए वही पर होटल भी बूढ़ थे। ‘श्रीशान्तिरामम्’ में एक पद है—

संधियों, विप्रहों यानादि संपुटनों  
मन्थकियों, जारों, कुट्टनों-कुट्टनों  
सबके चोर चलते घन्न-मन्थगृहों के भीतर  
सबकी दस्तानों किया करते हैं पुष्पशर

मनमय यह कि आजकल की तरह उन समय भी शहरों के होटलों में वेस्या-वृत्ति चलती थी। ‘श्रीशान्तिरामम्’ के रचयिता ने होटलों का रोचक, पर वास्तविक चित्र खींचा है। एक जून (ममय) के भोजन में बना-बना चीजें इन होटलों में खाने की मिलती थी उनका भी व्योरा बर्तन ने दिया है -

कपूरभोगी महोन चावल  
मुत्तादु गेहूँ, पकवान में कल,  
साठा घी गाय का, मुट्ठी-भर शक्कर  
मूँग की दाल और केले खूब जो भर  
चार-पाँच घटनियाँ, अचार, इहो दूधका,  
तश्मल वज्रमन के घर मिलते हैं, पक्का !<sup>२</sup>

अर्थात् उसके होटल में ऐसा बर्तिया भोजन मिलता था। और बना

१. भद्रपाल, ‘नीतिशास्त्र-मुक्तावलि’, पृष्ठ १४०। भद्रपाल ईसवी सन् १०५० के पहले ही हो गये हैं।
२. तश्मल वज्रमन कोई होटलिया रहा होगा।

चाहिए ? यह तो पूर्णतया पुष्ट, स्वादिष्ट और सन्तुलित भोजन हुआ । मानो आजकल के महाराजाओं की जेबनार हो ।

‘क्रोडाभिरामम्’ के रचयिता ने कहा है कि “योग राजा प्रतापन्द्र की उपस्त्री का नाटक खेला करते हैं ।” पान्कुरिची ने भी कहा है कि “योग उत्तम नाटक खेला करते हैं ।”

आतिर ये नाटक कैम होने थे ?

निश्चय ही, गीर्वाण पद्धति के नाटक तो नहीं ही थे । हो सकता है, यश-गान-सम्बन्धी हो ।

इन सूचनाओं से इन नाटकों की प्राचीनता का पता ज़रूर चलता है ।

चुट्ती को ‘मुकम’ (मुस्कम) और चुट्ती बमूल करने वालों को ‘मुक्कुरि’ कहते थे । चुट्ती की बमूली के ‘घाट’ (नाके) बने हुए थे । (शायद नदियों के घाटों पर होने के कारण उनका यह नाम पड़ा होगा) मरुत की एक कहावत है—‘घट्टुट्टी प्रमान न्याय’ । इस कहावत के पीछे एक कहानी है । एक आदमी मरेयाम गाड़ी पर माल लादकर चुट्ती में बचने के उद्देश्य से राम-भर रास्ता काटकर चलता रहा, परन्तु मवेरा होने-होते उसने देखा कि उसकी गाड़ी चुट्ती-घाट की भोपड़ी के सामने लड़ी है । भद्र भूपाल ने स्वयं कहा है कि ये चुट्ती वाले बड़े दुष्ट होने थे । उसने लिखा है

“न कोई टंटा ऐसा, जो कि कुछ से बदतर

न कोई पापी बड़ा ‘संकुरी’ से जगती पर ।”

नहीं । कोई नहीं ।”

योग गणों की बंसी, जाली की घण्टी, बमर में बांधा करने थे ।

ग्राज भी गाँवों के लोग ऐसी घटियों का उपयोग करते हैं ।

वरगन नगर में जनता के लिए गभी उफरी अच्छी-बुरी चीजें मौजूद थी । बागें मीने के लिए घरकोट और दरजी होने थे । ये लोग

१. ‘नीति-शास्त्र-मुक्तावलि’, पृष्ठ १२५ ।

मैनिको के मोहरीवाडा मोहन्ले मे रहा करते थे । शायद यह मैनिको का ही अधिक काम करने थे । फिर भी वेध्याएँ अपनी चोलियाँ इन्ही-मे मिलवाया करती थी । जुआ ग्राम था । लोग अपने शरीर पर की चादर तक बेच-बेचकर जुआ मेला करते थे । “पैसों के लिए चादर बेच दी है ।” (क्रीडाभिरामम्) ।

पशुओं की सड़ाई—भेड़ों की भिड़ंत और भुगों की सड़ाई प्रायः हर जही होनी थी । कवि वैचटनाय ने अपने ‘पंचनन्त्र’ मे भेड़ों की भिड़ंत का वर्णन किया है । (१—२३२) । मरेरे प्रचुरता से पाये जाते थे । ढोल-उपली बजा-बजाकर कथा-बहानी सुनाने वाले भी होते थे । कोल्हू मे तेल निवानने वाले तेली भी थे । यनी लोग “कालागुरु का सेपन करके चट्ट, पुनुपु, भृगनाभि कस्तूरी आदि से” अपना जाड़ा भगाने थे । चादर दुहरी ओढ़ते थे । बाह्याण आदि उच्च कुलों के लोग नई-नई मचमचाती चप्पलें पहनकर भूमने चलते थे ।

उन दिनों राजाओं, भामन्तों और अधिकारियों को रखेलियाँ रखना और उसे लोगों मे जताना बहुत भाता था । इस घन (हीन)-कार्य पर वे गर्व भी करते थे । “भगना-हृदय सरोज-पद्मद” कहलाने मे फूल-फूल उठते थे । एक बार वरगन में तुण्डीर (तमिल) देश से एक पित्ले नामक व्यक्ति आया और त्रिमी वेध्या के साथ रहने लगा । बाद मे उस वेध्या से उसका भगड़ा हो गया । “जारधर्म भामन” द्वारा भगड़े का निर्णय सुनाया गया । (अर्थात् उनकी भलग भदामन्तें थी) एवाग्रनाथ ने कहा है कि वरंगल मे “भगण्य वस्तु वाहन सोभायुक्त वेध्यागृहों की संख्या १२७०० थी ।” यह तो अतिशयोक्ति लगती है । वेध्या-कन्या को कुल-वृत्ति मे प्रवेश कराने के कुछ संस्कार होते थे । इन संस्कारों मे मज-पजकर शीने में मूरत देस लेना भी शामिल था । इस ‘मुकुरवीशा विधान’ में पहले वेध्या विटु (व्यभिचारी) का आतिथन नहीं कर सकती थी ।

आध्र देगाधीन के महन के बड़े दरबाजे पर घड़ी रखी थी । उन

दिनों आज का-गा मजर नहीं, बल्कि बड़ी घड़ी का घण्टा बजा करता था। चौबीस घण्टों को साठ घड़ियों में विभाजित करके दिन में एक से तीस घड़ियाँ और उनी तरह रात में तीस घड़ियाँ बजाई जाती थीं। समय की माप के लिए एक छेददार कटोरे का प्रयोग करते थे। इस कटोरे को पानी के बरतन में छोड़ देने थे। घड़ी-भर में छेद द्वारा कटोरे में इतना पानी आ जाता था कि कटोरा पानी में डूबकर बैठ जाता था। उसके डूबने की आवाज के साथ ही पहरेदार घड़ी का घण्टा बजा दिया करता था।

ऐसा लगता है कि स्त्रियाँ ताल पल्लू की मर्पद साड़ी बहुत पसन्द करती थीं। (श्रीडाभिरामम्) इसे बोम्मबु कहा जाता था। एक रसिक कवि ने नारियों के होठों की इन ही साड़ियों के ताल धाँचन से उगमा दी है। श्री वाकुलमु के मेने का वर्णन करने हुए कवि ने जेलम युवरो और विधवा युवतियों के दुग्घरिम के सम्बन्ध में बहुत-बुद्घ कहा है। इस प्रकार की और भी अनेक बाने बसाई जा सकती हैं। वही इसका धार-पार नहीं है।

वाकतीय युग में ग्राम्य के सामाजिक इतिहास के लिए 'श्रीडाभिरामम्' प्रधान आधार है। वक्ता तो यह जाता है कि इसके रचयिता वल्लभराय थे। किन्तु उसकी सौली में पग-पग पर यही लगता है कि पुस्तक थीनाथ की लिखी है। अन्य आधार-भूत पुस्तकों की सूची नीचे दी जाती है।

१. 'श्रीडाभिरामम्'—प्रकाशक वेदूरि प्रभावर दाम्प्री।
२. 'काकतीयसंचिका'—ग्राम्य इतिहास परिशोधन मण्डली, राज-महेन्द्रवरम् (राजमहेंद्री)।
३. 'पंडिताराध्य चरित्रम्'—रचयिता, पाल्कुरिकी,  
'अस्यपुराणम्'—प्रकाशक, ग्राम्य-भक्तिका, मद्रास।
४. 'वल्लभाडि वीर चरित्र'—प्रकाशक अविश्वराज उपाध्यायम्।
५. 'तेलंगाला शासनमुषु' (के शिवालेय)—तद्वर्णनक परिशोधक मदनवी, हैदराबाद।

६. 'उत्तर हरिवंशमु'—नाचने भोमयात्री
७. 'प्रताप चरित्रमु'—एकाग्र नाय
८. 'दशकुमार चरित्र'—वेतने
९. 'नीतिशास्त्र मुक्तावलि'—भद्रभूपाल

: ३ :

## रेड्डी राजाओं का युग

एक साम्राज्य के पतन के साथ ही छोटे-छोटे सामन्तों का मिर उठना और छोटे-छोटे कई स्वतन्त्र राज्यों का स्थापित हो जाना, भारतीय इतिहास की एक परम्परा-भी है। काकतीय साम्राज्य का अस्त होने ही उसके अधीनस्थ सामन्तों और सेनानियों ने अपने अलग-अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। उनमें से रेड्डी और वेल्मो के राज्य ही मुख्य हैं। उसी समय विजयनगर राज्य ने भी अपनी जड़ें जमाईं। इन तीनों में काकतीय साम्राज्य के पतन के समय रेड्डी राज्यों के प्रधानता प्राप्त करने के कारण तथा वेल्म राज्यों की परिस्थितियों से जानकारी प्राप्त करने के साधनों का अभाव होने के कारण इस युग को रेड्डी-युग का नाम दे देना हमारे लिए आवश्यक हो गया।

रेड्डी राजाओं ने मद्रास, कांठवीड, राजमहेन्द्रवरम् (राजमड्री) तथा कंटुवूर में ईसवी सन् १३२४ से लगभग १४३४ तक शासन किया। रेड्डीयों का राज्य कर्नूल से लेकर विशाखापट्टम (बेङ्गलूर) तक फैला हुआ था। वर्तमान जिला नेल्लूर उसकी दक्षिणी सीमा थी।

भारतीय राज्य के पतन के साथ मुगलमान, जिन्हें तेलुगु में तुगक कहा जाता था, तारे आध्र देश पर छा गए और भयभीत जनता पर तरह-तरह के धर्याचार करने लगे। मन्दिरों को तोड़कर उन्हें मसजिदों में बदल दिया। तलवार के हाथ बताव लोगों की मुगलमान बनाने

नगे । लूट-भार का बाजार गर्म कर दिया । जनता के प्रियपात्र नेताओं तथा राजाओं और मन्त्रियों को उमरी आँखों के आगे तोपों में उड़ा-उड़ा डाला । परिणाम यह हुआ कि शान्तिप्रिय व्यक्ति भी आग-बबूना हो उठे ।

वर्गान का विध्वंस करने के बाद मुसलमानों ने पूरे आन्ध्र-देश में नबाही मचा दी । इसमें छोटे-मोटे राजा, उनकी सेनाएँ और साधारण जनता घबरा उठी । मुसलमान के दिखने ही लोगों में भगदड़ मच जाती थी । प्रायः यह धारणा हो चुकी थी कि मुसलमान बड़े बुरी हैं, उनका सामना करना असम्भव है । भारतीय रगमच पर अंग्रेजों के आने तक मुसलमानों की यह धाक बनी रही । कवि बेकटाचरि ( १६५०-१७०० ई० ) ने अपने 'विन्व-मुगादर्शमु' में इन बातों का मुष्पष्ट वर्णन दिया है ।

मुसलमानों के हाथों की गई तबाहियों का वर्णन स्वयं उस समय के रेड्डी राजाओं ने जहाँ-तहाँ अपने गिला-शामनों में भी किया है ! विशेष-कर सन् १३२४ ई० में सन् १३३० ई० तक लगभग छ साल तक मुसलमानों ने आंध्र पर घोर अत्याचार किये । आखिर प्रोत्थनायक और कापयनायक ने मुसलमानों को आन्ध्र देश में एकदम बाहर भगा दिया । प्रोत्थनायक ने अपने ताम्र शामन में उस समय की परिस्थितियों का धीरा इस प्रकार दिया है .

"पानी यवनों द्वारा लोगों की जमीनें बरजोरी जोत ली जाती थी और तैयार फसलें लूट ली जाती थी । इस कारण धनी-दरिद्र का अन्तर न रहकर किसानों के कुटुम्ब-के-कुटुम्ब तबाह हो गए हैं । उन महान् विपदा के समय लोगों के लिए अपनी जायदादें और अपनी स्त्री भादि को भी अपनी समझना असम्भव हो चुका था । ताड़ो पीना, स्वच्छन्दता में विचरना, शत्रुओं को मार डालना यहाँ इन यवनों का पेना बन गया था । ऐसी स्थिति में धरती पर कोई प्राणी अपने प्राण बचावे भी तो कैसे ? इन राशियों द्वारा प्रसीद्धि देण की रक्षा करने योग्य कोई व्यक्ति दोग नही पटना था । मारा देश चारों ओर में जलने हुए जंगल की



तरह संतप्त हो रहा था ।<sup>१</sup>

मुसलमानों के आने की खबर सुनते ही दुर्गाधीश अपनी मेना और सवारों में भरे जिलों को छोड़कर, मारे डर के जगनों में जा छिपते थे ।<sup>२</sup>

आन्ध्र की ऐसी दुरवस्था में से प्रोत्पन्ननायक नामक एक रेड्डी वीर उठ खड़ा हुआ । उसने बिखरी मेनाओं को एकत्र करके और सामंतों की माय लेकर, मुसलमानों फौजों को भार भगाया, तथा 'आन्ध्रमुराणा' का विह्वल पाये अपने बेटे बापयनायक के माय वरमल के राज्य पर शासन किया । किन्तु तुरकों का डर मिटने ही तेलुगू राजाओं ने फिर से आप्रम में लड़ना शुरू कर दिया । वेलम राजाओं ने रावकोंडा और देवरकोंडा के किलों पर कब्जा जमाकर तेलंगाना पर राज किया । रेड्डीयों ने विजयनगरा पूर्वी तट पर तथा गुण्टूर, नेल्लूर, बर्हमपुर पर शासन किया । रेड्डी और वेलम राजाओं के बीच निरन्तर वैर-भाव बना रहा । उनके प्रतिरिक्त रेड्डी-राज्य के लिए कर्णाटक कहलाने वाला हुम्मीराज्य बगल में खुदा भाला-ना बन गया । गुलबर्गा में बहमनी गल्लनन की स्थापना हुई । बहमनी मुलानों में से एक दो को छोड़कर सभी हिन्दू-मुंषी बन गए थे । उन्होंने अत्यन्त खर्चनापूर्वक व्यवहार किया । उत्तर में प्रोट्ट अथवा प्रोट्टियों ने सदा देश-द्रोही बनकर आन्ध्र को लूटपाट की चेष्टा की ।

इस प्रकार रेड्डी राजा चारों ओर की घोर उन्नतों के बीच फँस गये । ऐसी दशा में अन्तर रेड्डीयों ने पूरे गी मान्य तत्त्व चागे आर में दावने आने शत्रुओं को रोकते हुए, मुसलमानों को हराने हुए और अपनी आन-बान को कायम रखते हुए शासन किया तां वे मवंश प्रशगा के ही गान रहेंगे । रेड्डीयों ने न केवल प्रोट्टों, वेनमों, कर्णाटकों के राजाओं और मुसलमानों में ही मोरचा किया, बल्कि उधर बगल तर और दूर मध्यभारत तक अपना विजय-द्रवा बजाया । उनके मन्त्री निगम की दिग्विजयों का व्योरा यों है :

१. 'रेड्डी संचिका', पृष्ठ ११ ।

२. यही, पृष्ठ १३ ।

भादेश<sup>१</sup> के, सप्तमाडि<sup>२</sup> के,  
 बारहदोति<sup>३</sup> के, जत्रनाडु के<sup>४</sup>  
 अधिपतियों को कर रख-पराभूत  
 ओट्टादिक मकर-वंश-समुद्भूत  
 उदयानु<sup>५</sup>न एवं पस्तव-यति से  
 कर समूत करके नान्या-भक्ति से  
 दंडक-जानन के रभादिक-कुल  
 के पुलिंद को देके अभय विपुल  
 रविकुल के वीरभद्र की तया  
 गरवीले देवेन्द्र की कथा  
 कथा-शेष करके धरतीतल पर  
 मधन, कर्णाटक, कटकाधीश्वर  
 राजाघों को अपने मित्र बना  
 तिगन प्रभु ने जमा लिया अपना  
 स्वामि-राज्य आंध्र-देश के भीतर;  
 स्वामी अत्ताड धरणिनाथ-प्रवर  
 के द्वारा पलवाया तेलुगू-बपु,  
 धन्य-धन्य अरिएटी तिगप्पु !<sup>५</sup>

गोमगोवर दामा ने बतुनाद को ही जत्रनाडु कहा है। भाड देश  
 ग्राजबल बोन्विल जयपुर का इलाका है। सप्तमाडे गजाम के मन्ने  
 दाराघों का इलाका था। बारह-दोति उड़ीसा के अन्नगंत है। जगनाडु

१. बोन्विल ।

२. गंजाम ।

३. उड़ीसा ।

४. विशाखापट्टन ।

५. 'भीमबंडमु', पृ० १ ।

ओड्डारि विशाखापट्टनम् (अर्थात् विभाग) का इलाका है ।<sup>१</sup>

रेड्डी राजाओं ने बंगाल में पडवा के मुलतान को भी हराया था ।<sup>२</sup> पडवा बंगाल में आज के भातदह जिले के अन्तर्गत है ।<sup>३</sup> इन सफलताओं के लिए निश्चय ही उस राज्य में महान् दूरबीर, सेनानी, युद्ध-कला-कोविद आदि विद्यमान थे । वे सारे आन्ध्र-देश द्वारा प्रशंसित हुए और होने चाहिए । ऐसा मानने में न तो कोई अतिशयोक्ति है और न कोई विशेष आध्र-अभिमान । उन महान् योद्धाओं में से मुख्य व्यक्ति थे, प्रोलयनायक, अन्नैवर्मे, पेदं कोमटी, वाटयैवमुट्टु, अन्नैपालं रेड्डी, निगर्न मन्नी, बेंडपूडि, अन्नय मन्नी इत्यादि ।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि ऐसे रेड्डी-युग में आंध्र की सामाजिक दशा क्या रही होगी ।

### धर्म

राजा जिस धर्म को अपनाने हैं प्रजा भी अधिकतर उसी धर्म को अपनाना करती है—'राजानुमतम् धर्मम्' । यही उन दिनों लोगों का विश्वास था । वाकतीयों के नाम में जिस बीर-शैव धर्म ने जोर पकड़ा था उसी का बोल-बाला अब भी था । रेड्डी राजागण बीर-शैव-धर्म का अभिमान रखते थे । उन्होंने अनेकों शिव मूर्तियों का उद्धार किया । श्रीसंत के पर्वतीय मन्दिर की सीढ़ियाँ उन्होंने बनवाई । वे दिन में छः बार शिवजी की पूजा किया करते थे । अनेक यज्ञ भी रचाये । राजाओं का अनुकरण करके उनके मन्त्रियों और सेना-नायकों ने भी शैव-धर्म के प्रचार का विशेष यत्न किया ।

रेड्डी राजा शैव मतावलम्बी होने पर भी वे अन्य धर्मों के अनुयायियों

१. 'हिस्ट्री ऑफ द रेड्डी किंगडम्स' (रि० आ० रे० कि०) भाग ५, पृष्ठ १३७-१४३ ।
२. 'पडवा मुरतारि पावडम् बिस्तिन,' 'भीमेश्वर-पुराणम्', अ० १ ।
३. हि० आ० रे० कि०, भाग १, पृष्ठ १४३ ।

को सताने नहीं थे : रेड्डी राज्य के अन्तिम दिनों में वैष्णव धर्म दक्षिण की ओर से आन्ध्र देश में प्रवेश करने लगा था। आसगार लोग घा-घाकर लोगों को विष्णु की दीक्षा देने लगे थे। मन् १३४० ई० में मन् १३७० तक कारकोडा में मुम्माडि नायक नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य-काल में श्रीरंग पट्टण से पराशर भट्ट नामक वैष्णव गुरु ने कोटकोडा पहुँचकर राजा को अपना शिष्य बना लिया। फिर उसने नारे गोदावरी मण्डल में वैष्णव-धर्म को फैलाया।<sup>१</sup>

अन्तिम रेड्डी राजा कुमारगिरि इत्यादि स्वयं वैष्णव तो हुए, किन्तु उन्होंने दूसरों के साथ कोई बनात्कार या घत्याचार करके अपना धर्म नहीं फैलाया।

शैव-शक्ति नाम से लोगों में घनेको देवियों का भजन-पूजन चलता था। 'कोमलादुधद्वैकाम्भं गोगुलम्भं', महिगुणमनली थी महेंगली, नूकाम्भं, घट्टाध्वकं, मणिका' देवी इत्यादि शाक्त देवियों की मूर्तियाँ द्राक्षारामम् में वर्तमान थी।<sup>२</sup> काकतीय युग की देवियों का प्रभाव अभी भी काफ़ी था। "बत्ती मैलारु भैरवा"<sup>३</sup>-जैसी मन्दूत-मूर्तियों के बन जाने के कारण इन नये देवताओं का आदर खूब बढ़ गया। एकवीरादेवी को भी लोग अभी भूते नहीं थे। शूद्र जानियों के अन्दर तो और भी अनेक देवियों का सम्मान था। कामाक्षी, महाकाली, चण्डी, नक्षत्रिणी, काली, कम्बिका, विष्ण्वामिनी, एकवीरा यह सब उनकी आराध्य देवियाँ थी, उन्हें ताड़ी, शराब के घड़े तथा मामादि के भोग चढ़ाने थे। पूजा व इन विधि की भाव पट्टु कहा जाता था और इन कार्य में श्रियाँ आगे-आगे रहती थी।<sup>४</sup>

१. विनयूरि वीरभद्र राव द्वारा लिखित 'आन्ध्र-राजा चरित्रम्' भाग ३, पृष्ठ १२४।

२. 'मोमेद्वार-पुराणम्', अ० १, पृ० ६६-१०२।

३. 'निहामन-ट्रायिजिका' (बत्तीसी), प्रथम भाग, पृष्ठ ८५।

४. वही, पृष्ठ १०३।

उक्त 'साक्यट्टु' शब्द का प्रयोग तेलगाना के ग्रामीणों के घन्दर आज भी होता है। अर्थ है जल चढ़ाना, भोग चढ़ाना आदि। निघण्टु में इस शब्द की कोई व्युत्पत्ति नहीं मिलती। इससे यही सिद्ध होता है कि दार्शनिक का रचयिता तेलगाना का ही निवासी था। गोपराजु ने 'काकती' को मूल शक्ति कहा है और बरगल को ही एकशिला नगर कहा है।<sup>१</sup>

शैव-धर्म के प्रचार के साथ 'स्कन्द पुराण' का विस्तार भी बढ़ता गया। शैव गुरु अपनी कल्पित कथाओं को 'स्कन्द पुराण' में जोड़-जोड़कर यह भी कह दिया करते थे कि भमुक श्लोक भमुक खण्ड का है 'स्कन्द पुराण' सवा लाख श्लोकों का ग्रन्थ है, किन्तु उसमें कई लाख श्लोक नये और बड़ा दिये गए हैं। 'स्कन्द पुराण' का भगवती रूप क्या था, इसका अनुमान अनुसन्धान के बाद ही जग सकता है।<sup>२</sup>

'मूलपूरम्मे' कोडावीटि रेड्डियो की कुलदेवी थी। देवी का यह मन्दिर गुण्डूर त्रिले की नन्नेपल्ली महमोल के भमीनाबाद गाँव में आज भी विद्यमान है।<sup>३</sup>

आजकल के अपने त्यौहारों में और उन दिनों के त्यौहारों में कोई अन्तर नहीं था। किन्तु निम्न उद्धरण में त्यौहारों की विनिष्टता पर प्रकाश पड़ता है।

“नाग-चौथ” के दिन जाड़े का शीतलेश,

जाड़े-जाड़े में रथ-सप्तमी<sup>४</sup> के दिन प्रवेश।

उब पून और भगहन, दोनों का संपिक्कल :

सरदी के मारे दीन-जनों का कुरा हाल।

१. 'मिहासन-दार्शनिक' (वस्तुतो), द्वितीय भाग, पृष्ठ ५०।

२. 'भीमेश्वर-पुराणम्', प्रथम अध्याय, पृष्ठ २५।

३. 'रेड्डीसंचिका', पृ० ६६।

४. कार्तिक शुक्ल चतुर्थी। नागुल-व्यवृत्ति और नाग-अंधमी भी कहते हैं।

५. माघ शुक्ल सप्तमी।

जिस दिन कि मकर-संक्रांति, तिपहरे, धूप-झले,  
भाई-भाई के खेल प्रेम के साथ चले ।  
बंठीं चूल्हे के पास बहू के संग सास  
रगड़ों-भगड़ों में गरमाती हैं सदैव साँस !<sup>१</sup>

तैलगाना में गरड़-पंचमी को नाग पंचमी होती है । कृष्णा आदि जिलों में श्रांतिक मुदी चौथ को । ऊपर के स्थोहारों को सभी जगह समान मर्यादा प्राप्त है । वैष्णव (आपाड) एकादशी को महत्त्व देते हैं, तो शैव शिवरात्रि को । तेलुगू देश के अन्दर इसका प्रचार बढ़ाने के लिए, कवि श्रीनाथ ने 'शिवरात्रि माहात्म्यम्' लिखवाया गया था । उस माहात्म्य से ही पता चलता है कि आज की तरह उन दिनों भी शिवरात्रि की रात को जुमा लेला जाता था ।

दीपावली यानी दिवाली को तेलुगू में 'दिविली' भी कहते हैं । तेलुगू में हर पूर्णिमा तथा अमावस के अलग-अलग नाम हैं । ये नाम काकतीय युग से ही चले आ रहे हैं । जैसे एस्वाक या दवनपुत्रम, नूतिपुत्रम (मावन पूतों), आदि । पाल्कुरिकी सोमनं ने अपने 'षण्डिताराध्य' में श्रावण पूर्णिमा को ही नूतिपुत्रम कहा है, क्योंकि इस दिन स्त्रियाँ पीपल के पेड़ पर मृत चढ़ाती हैं । 'नूतु' मृत को ही कहते हैं । विशेषकर स्त्रियाँ ही नाना प्रकार के व्रत आदि रखती हैं । इन व्रतों का उद्देश्य उनके गानों और पूजा-विधान से यही मालूम होता है कि अधिकतर वन सन्तानोत्पत्ति तथा ऐश्वर्य-वृद्धि के उद्देश्य से किये जाते हैं । (दक्षिण में वन के माने बेयस उपवास के ही नहीं हैं । विशेष देवी-देवताओं की पूजा के लिए जो पूजा-विधान है, वही व्रत अथवा 'नोमु' कहलाता है । उपवास भी रखा जाता है । — अनुवादक)

भैरव आदि देवताओं की और कान्ती आदि शक्ति देवियों को पशु-बलि दी जाती थी । इस आशय की सूचनाएँ तेलुगू साहित्य में जगह-  
१. 'शिवरात्रि-माहात्म्यम्', चौथा अध्याय, पृष्ठ २५ और २७ (चार-चार पंक्तियाँ) ।

जगह मिलती है। शैव सम्प्रदाय में शाक्त तथा भैरव-तन्त्र आदि वाम-मार्ग-प्रेरक तन्त्र-साहित्य का घीरे-घीरे आधिक्य हो चला। लोग वीर-शैव बनकर ग्राम-आवेश में आकर जहाँ-तहाँ आत्म-बलिदान भी कर दिया करते थे। इस प्रकार की घटनाओं की चर्चा पातकुरिकी ने बहुत की है।

महादेव की पूजा में अपने शरीरों की बलि देने वाले भयवा लिगा-यन सम्प्रदाय के लिए अपने गिरों की भेंट चढ़ाने वाले व्यक्तियों की गणना अनुपम बीरां में हूँले लगी। स्मारक के रूप में जगह-जगह उनके लिए बीरसिलाएँ खड़ी की गईं। अपने-आप पेट में तुरा भोंके हुए और अपना सिर काटकर हवेली पर रखे हुए मूर्तियाँ देश के अन्दर जहाँ-तहाँ मिलती हैं। भक्तों और अभिमानियों ने उनके स्मारक के रूप में 'वीर गुहड़म्' भी बनवा छोड़े हैं।

शाक्त ग्राम-देवियाँ तथा शिवजी के रूद्र कहलाने वाले देवता सभी प्राविडी हैं। यह मूढ़ विद्वान् कि भरे हुए लोगों की प्रेतान्धानों भून बनकर मा शिव-मास्ति बनकर लोगों को मताती है, आदि वान् में भय तक बरबद चला आ रहा है। हमारे पूर्वजों में भी इस प्रकार का विद्वान् था। इसके प्रमाण प्राचीन कवियों की रचनाओं में भरे पड़े हैं। श्रीनाथ की रचनाओं में अनेक स्थलों के ऊपर इन मूढ़ाचारों पर प्रसन्न डाला गया है। पल्लार्डि के देवी-देवताओं के सम्बन्ध में भी श्रीनाथ ने बहुत कुछ कहा है :

"वीर शैव ही महादेव के दिग्ग सिंग हैं।

विष्णु, शैव या कलिपोत राजा ही सचमुच,

गहरे ब्रह्म विचारो अगद, काम भँरय हैं।

अंकम देवी, ग्राम शक्ति, हो अन्नपूर्णा ।"

डॉ० नेल्सन बैकट रमणय्य ने अपनी अग्रेजी पुस्तक 'पॉरिजन ऑफ़ माउथ इण्डियन टेम्पल्स' ('दक्षिण भारत के मन्दिरों का उद्भव') में श्रीनाथ की रचनाओं के आधार पर ऐसे देवी-देवताओं के अनेक नाम गिनाये हैं। अकिशराडु उमाकातम् ने 'पल्लार्डिवीरचरित्रम्' की

भूमिका में उपयुक्त पद्य को कुछ बदलकर लिखा है :

“घोर शंख ही महादेव के दिव्य तिंग हैं ।

विष्णु नाम्पूङ्ग अथवा कल्लिपोत राज्ञ ही,

आंखों वालों की दृष्टि में, कालभैरव हैं,

अंकज देखी हो तुहिनार्द्रि-सुता गौरी हैं,

मलिकर्णिक विमलान्धु गंगाधरा पोखर ही,

गरिमपुडि-पट्टण हो काशी है, कि जहाँ पर

मरने वाले शिवता को पहुँचा करते हैं ।”

विजयवाड़ा के बनक दुर्गम्में के सम्बन्ध में नेलदूर वेंकटरमण्य्ये ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—“एक गाँव में मात भाई ब्राह्मण थे । उनके बनकम्में नाम की एक छोटी बहन थी । भाइयो ने बहन के चरित्र पर सन्देह करना शुरू किया । बनका कुए में कूदकर मर गई । फिर तो वह शक्ति (भूत) बनकर लोगों को सताने लगी । बस बग था उसके नाम से एक मन्दिर सड़ा हो गया ।” नेलदूर ने ऐसी और भी घटनाओं का उल्लेख किया है । “नेलदूर जिले की दूर्गी तहसील के अन्नगंत विमी गाँव में निगम्में नामक एक गरीब औरत किसी घनवान के घर काम-काज करती थी । मानिक ने उस पर चोरी का अभियोग लगा दिया । निगम्में कुए में कूद पड़ी और ‘शक्ति’ बन गई । पोंदिलम्में भी ऐसी ही एक गरीब औरत थी । उसे लोगों ने किसी ऐसे ही अभियोग में मार डाला । बाद में वह ‘शक्ति’ बनकर पूजा की अधिकारिणी बनी । कोई सौ वर्ष की बात होगी, गूडा कोटय्ये नामक एक निगायन ने विमी सधवा गडरनी से सम्भोग किया, जिस पर गडरिये ने उस निगायन को मार डाला । मरकर वह “कोटय्ये कोडें—देवरा” के रूप में प्रसिद्ध हो गया । इस प्रकार आध्र-देश के अन्दर नित नये देवी-देवता पैदा होने आते हैं और मरते आध्रों के अंध-विश्वास और मूर्खता को प्रकट करते रहे हैं ।

नर-वलि देने की प्रथा भी थी । नर-वलि प्रायः विगरे-विगरे निजंन



प्रदेशों में ही शक्ति या काली के मन्दिरों में हुआ करती थी :

भैरव के उस 'चंपुट-मुडि' में छिन्न-कतेवर

दम्पति के सिर और घड़्यों पड़े देखकर

सम्पादित-भय रक्षाकम्पित उस 'सेट्टी' ने

बन्द कर लिया दोनों झालों को, घबराकर ।<sup>१</sup>

काल-भैरव के मन्दिरों को 'चंपुट मुडि' अर्थात् 'म.रक मन्दिर' कहा जाता था । मोड़ कोया आदि जंगली जातियों में नर-बलि की प्रथा अर्पेक्षाकृत अधिक थी । नर-बलि खटाने का गमारोह किम प्रकार का होता था, इसका वर्णन एक कवि ने यों दिया है—

"उस बस्ती की ओर से कोलाहल मचावे, मिथे फूँकते, धमगोजे टेरते, डोल-डपला पीटते और इन बेंदव बाजों-गाजों की घावाजों के साथ अपनी चील-पुकारों, घाट-चिघाड़ों को जोड़कर दिमागें गुँजाते, पहाड़ों-कदराओं को फोड़ने हुए से ये जंगली भोग अपनी मण्डली के बीबीरीज एक दीन-हीन व्यक्ति को कुङ्कुम, गुन्नाल, फूल आदि से पूजने सिर के बालों को बिलेरे उछलने-झूटते, हाथों में छुरे-कटार चमकाने भागे बढ़े आ रहे थे ।"<sup>२</sup>

धीरे धीरे सम्प्रदाय की व्याप्ति के कारण इस प्रकार के कुछ घोर आचार तैरुगू देहा में फैल गये । कुछ प्रबोधकों ने उपदेश दिया कि शिवार्पण करके अपने धर्मों को साथ बाट-बाटकर महादेव के गिर पर खडाना, आत्म-हिंसा करना और धन्ततोगत्वा अपने मिर की ही बाटकर खड़ा देना, असीम भक्ति के मधान हैं, ऐसा करने वाले निश्चय ही कैलाश-याम प्राप्त करेंगे; शिव-मायुग्ध पाकर गच्छिदानन्द की प्राप्ति करेंगे । भक्त-जनो ने उग पर विदवास किया और उसी प्रकार आचरण किया ।

पैट्टी राजाओं में से एक अग्रय पैट्टी किसी युद्ध में धीरता के साथ सड़ता हुआ मारा गया । उसका पुण्य मानिये या कि धीर बुद्ध, श्री गैंग

१. २. 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', प्रथम भाग २, पृष्ठ ७८ ।

३. " " " " द्वितीय भाग, पृष्ठ ६७ ।

पर्वत पर मल्लिकार्जुन के मन्दिर से नदी-मठप के समीप सन् १३३७ ई० में 'अध्रवेमु' ने अध्रय रेहो के स्मारक के रूप में एक 'वीर शिरोमठप' का निर्माण करवा दिया। इस मठप के अन्दर एक शिलालेख है, जिसमें लिखा है कि "इस मंडप में अनेक घोर महा साहसपूर्ण कार्य किया करते थे। फरसों, गंडासों और कटारों से अपनी जीभ और सिर तक काट-काट लिया करते थे।" ऐसे ही मठपों को शायद चपुडुगुडु (मारक मन्दिर) कहा जाता था।<sup>१</sup>

श्री शैल पर्वत पर भक्तों की सरस भृत्यु के लिए एक मार्ग और भी था। वह था 'कनुमारि' !

### कनुमारि

यह शब्द न तो 'शब्द रत्नाकर' में है, और न ही 'आध्र वाच-स्थ' में। मेरे जानने तो इस शब्द का प्रयोग केवल दो ही कवियों ने किया है। पाल्कुरिकी सोमनाथ ने और नाचनें सोमयाजी ने। हाल ही में श्री बेंद्रीर प्रभाकर शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'तिलुगू मेरगुलु' में इस शब्द पर चर्चा की है। इससे मालूम हुआ कि तिरुक्कनें सोमयाजी ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है :

"प्रापदित्त तगुी के पीने के वातक का :

कंठ में डेंडले गरम-गरम पिघला सोहा,

अधकती उवाता में बैठकर जल मरे,

या कि गनुमारी से महाप्रस्थान करे !"<sup>२</sup>

'गनुमारि' या 'कनुमारि' का अभिप्राय है 'भृगुपवन'। मूल संस्कृत महाभारत में लिखा है :—*"मह प्रपातन् प्रपतन्"*। इसकी व्याख्या यों की गई है : *"निर्जल-प्रदेश-पर्वताघात-पतनम् !"* यानी निर्जन प्रदेश में पहाड़ी की चोटी में गिरकर मरना। नाचनें सोमयाजी का प्रयोग इस प्रकार है—

१. 'रेहो सचिका', पृष्ठ ३०, ३१।

२. 'आध्र महाभारत', शांति पर्व, १-३०७।

कनुमारि दौड़ मरो  
 धपवा विष पीके,  
 धारा में डूब मरो,  
 क्या होगी जीके ?  
 मानो यदि मेरी बात  
 कर लो आत्मघात !<sup>१</sup>

इस पर श्री वेद्विर प्रभाकर शास्त्री ने लिखा है :—“श्री शंल पर्वत पर कर्मारोश्वर नामक एक पुष्पस्थल है। वह एक पहाड़ी छोटी है। पुष्प लोक की प्राप्ति के उद्देश्य से लोग उस पर से धरती की ओर दौड़कर प्राण-रमाय किया करते थे। शिवरात्रि को कोई नीचे गिर रहा है तो कोई धपर में लटका-घटका है, और कोई दौड़ के लिए उद्यत लड़ा है। भक्तजन वहाँ पर लगातार दौड़ लगाते ही रहते थे। पता नहीं चलता था कि कौन दौड़ रहा है और कौन गिर रहा है। एक ताँता-सा लगा रहता था। शास्त्री जी ने ‘षडिताराध्य’ का हवाला देते हुए लिखा है कि कर्मारोश्वर में दौड़ने वालों, गिरने वालों, और बीच ही में रह जाने वालों की लाशों की गिनती करना असम्भव था। ‘षडिताराध्य’ के अंतिम भाग में ‘कर्महरि-महिमा’ नामक एक अध्याय<sup>२</sup> में लिखा है—“देखो यह कर्महरेश्वर है !”

प्राचीन-काल में ‘बल्लह’ नामक एक राजा कर्महरेश्वर में अपनी पत्नी के साथ मल्लिवाजुन का स्मरण करता हुआ पहाड़ की चोटी से गिरकर ‘शिवकय’ की प्राप्ति हुआ। कर्मवीर का शब्द ही तेलुगू में ‘कनुमारि’ हो गया। तिरुगन्ने और नाचनें दोनों ने ही ‘कनुमारि’ का प्रयोग किया है। जिस प्रकार मस्तुत शब्दों को तेलुगू पदों में परिवर्तित किया जाता है उसी प्रकार तेलुगू शब्दों को भी मस्तुत बना लिया जाता था। वनु (देवता) + मारि (मृत्यु)। इसीसे कमारि, कर्महरि, कर्महरेश्वर

१. ‘आन्ध्र महाभारत’, शांति पर्व, ४-२६।

२. पृष्ठ ४७२, ‘आन्ध्र-वज्रिका प्रकाशन’।

आदि बने होंगे । वीर शैव सम्प्रदाय के विजृम्भण काल में—लोग अपने

“गलदेशों में, जीभों में, अथवा कानों में  
पेटों में, सीनों में, गालों में, रानों में,  
पलक-पयोदों तक में जलते बाण घुसाकर  
अंग-अंग के छर्मस्तर को छेदों से भर”

लिया करते थे ।<sup>१</sup>

भक्तजन अपनी जीभ, हाथ, स्तन और सिर तक को काटकर अपनी भक्ति प्रकट किया करते थे । ऐसे भक्तों की कोई कमी न थी ।<sup>२</sup> काटने-छेदने के सिवा उन अंगों पर बड़े-बड़े दिये भी जलाने थे । ऐसी दशा में यदि श्री शैल पर्वत की किसी ऊँची चोटी से नीचे गहरे खड्ड में गिरकर भृगुपात द्वारा प्राण-न्याय को पृण्य-प्राप्ति का सरल साधन समझ लिया गया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? तिकड़नों और नाचनों के पहले ही यह कनुमारी काफी प्रसिद्ध हो चुकी थी ।

सगुन-असगुन पर लोगों का विश्वास भी अत्यधिक था । शिमी राजकुमार के सिक्कार को निबलने पर जो असगुन हुए उनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

बिल्लियाँ लड़ पड़ों, बोली छिपकली  
तम्मळी दिल पड़ा, धीक आगे चली,  
बिछुड़े बछड़े को बुलाती हुई  
गाय भागी हुँकरती रँभाती हुई  
काग को कर्कशा डेर कानों पड़ी  
सादी लिये घोड़िन आगे खड़ी,  
कोड़ी सामने आके डड गया  
माये तेन चुपड़े चुपचाता हुआ !  
कौमा सारिका, बादुर, काठिया,

१. ‘पडिताराध्य चरित्र’, पृष्ठ ४०६ ।

२. वही, पृष्ठ ४०७ ।

रहकटा सबने बाँधे से बाँधे कियां  
उल्लू डाके, लूसट चीले  
नाग फुँकारा, दन्वी तोले  
सुर पुहरा उठी, नीलपीठा उड़ा !<sup>१</sup>

सगुन के सम्बन्ध में 'क्रीडाभिरामम्' में कहा गया है :

पूरय में यह तारा टूटा, बाँधे उल्लू चीला,  
बलो, हमारे सारे कारज निश्चय पूरे होंगे !  
येहीं की कुनगी-कुनगी पर मोर मनोहर स्वर में,  
बोल रहे हैं, जोत हमारी होगी आज समर में !  
मुर्गा, कठफोड़ा, गोदड या मोर अगर दिल् जाये,  
अन्त सफलता घरी मिलेगी, निश्चय जानो भागे !

गोधूलि के समय नगर में पैठो, शुभ फल होगा ! ब्राह्म-मुहूर्त सभी कार्यों-प्रयोजनों के लिए उत्तम है । गार्ग्य सिद्धान्त ऊपःकाल के लिए है । घृहस्पति का मत है कि मुहूर्त निश्चित कर लेना चाहिए । विष्णु का मत है कि ब्राह्मण का वचन मानना चाहिए । जन्म-नक्षत्र के मुहूर्त के प्रश्न पर सब सहमत हैं । इसी प्रकार का एक पद्य 'क्रीडाभिरामम्' में भी है । जिसका अन्तिम चरण है—“व्यास मतमु मनः प्रसादातिशयम् !” उसकी जगह श्रीनाथ ने “सर्व सिद्धान्त मभिजित् सम्मतम्” कहा है । दोष तीनों चरण समान हैं ।

सगुन देखना केवल यात्रा के लिए नहीं, बल्कि अन्य सभी शुभ कार्यों के लिए भी जरूरी माना जाता था । तेन मतकर गिर से नहाने के लिए और बाल बनाने के लिए भी दिन-पही देखी जाती है । नये घर में प्रवेश, नैती की बुझाई-बटाई, रोजमर्रा के अनेक छोटे-बड़े कामों आदि के लिए घड़ी-मुहूर्त देखने की बात मनुस्मृति और पुराणों में कही गई है और हम लोग अनादि काल से उन पर अमन भी करते आये हैं । यह हमारी अमिट परम्परा है । यात्रा के लिए जब आज भी अच्छे दिन की

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिक', प्रथम भाग, पृष्ठ २५ ।

इनकी खोज रहती है तो फिर उन दिनों क्या दशा रही होगी !

### जात-पात

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि रेड्डी-काल में जात-पात की अवस्था कैसी थी। रेड्डीयों की गिनती चतुर्थ जाति (शूद्र) में थी। वाकनीय राजाओं को भी स्पष्टतया शूद्र न कह सकने के कारण कवियों ने उन्हें 'अत्यर्कन्दुल्लसप्रभू' (चन्द्रवंशी या सूर्यवंशी नहीं) कहकर ही सन्तोष कर लिया था।<sup>१</sup> तब भी रेड्डी राजा यज्ञ, सोमपान इत्यादि क्षत्रिय-कर्म करने रहे। उन्होंने उन सभी लोगों में सम्बन्ध जोड़ा जो अपने को क्षत्रिय कहने पे थे या जो क्षत्रिय कहलाते थे। चोलों से, विजय-नगर के शक्रवर्नी राजाओं से, पल्लवों से, हैहयों से तथा अन्य कुलीन राजाओं से इन्होंने विवाह-सम्पर्क स्थापित किये। किन्तु हम बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि बेलमों या कम्मों में भी इनकी कोई नाने-दारी रही होगी।

राजें और चोड़ें अपने को क्षत्रिय मानने पे। तमाम क्षत्रिय अपने सम्बन्ध में कहने हैं कि वे या तो सूर्य से पैदा हुए हैं या चन्द्र से। हम मात्र अक्षुब्ध तरह जानते हैं कि सूर्य या चन्द्र-मण्डलों से बच्चे पैदा नहीं हो सकते। अतः सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी आदि होने के गौरव के डोल में पोंद है। वास्तव में बनवानों ने अपने बाहु-बल से देश पर आक्रमण करके उसे जीत लिया था और पौराणिक ब्राह्मणों ने जब-जब उन पर दया की तब-तब उन विजेताओं को सूर्य अथवा चन्द्रमा से जोड़कर उन्हें क्षत्रिय बना-बना डाला। दूण, शक, विष्णु, कनिष्क आदि कितने ही अनाथ क्षत्रिय बन गए।

“चोड़ें राजा क्षत्रिय थे। उनके साथ रेड्डी राजाओं को किस प्रकार जोड़ा जा सकता है? ऐसी शक कुटुंब लोगों के दिनों में उठ सकती है। किन्तु चोड़ें बिरकाल में अपने को क्षत्रिय मानने और शासक-वृत्ति निभाते

१. 'भोमेश्वर-पुराणम्', तृतीय अध्याय, पृष्ठ ४१।

नहीं, बल्कि 'विप्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वेदपाठी विद्वानों को ही विप्र कहते हैं। दूसरी बात यह कि जिस स्थान पर नया हुआ करती थी, वहाँ पर नया मुनने के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। तीसरे यह कि राजकुमार को भी उसी सार्वजनिक कथा के मुनने का उपदेश दिया गया था।

इन्हीं विशेषताओं के कारण ब्राह्मणों ने उन दिनों राजाओं के दीवान, सेनानी, विद्यागुरु और पुरोहित बनकर अपनी उच्च पदवी स्थायी कर ली थी। रेड्डी-इतिहास में ब्राह्मणों के प्रति भक्ति एक अपूर्व और विविध घटना है। ऐसी कि जैसी 'न भूतो न भविष्यति'। ब्राह्मणों के प्रति ऐसी भक्ति न तो रेड्डियों में पहले बनी थी और न बाद में ही कभी हो सकी। रेड्डियों को राज्याधिकार प्राप्त होने के बाद ब्राह्मणों की स्थिति बिना प्रकार परिवर्तित हुई, इसका वर्णन स्वयं श्रीनाथ की कविताओं में मिलता है :

डार्यों के छल्ले ही जिनमें पड़ते थे सदा  
मारिक के छंगने उन उंगलियों ने पहने हैं !  
गंगयट का लेप ही सदा था जिन भाषों पर  
तिलक, कस्तूरी के उन पर, क्या कहने हैं !  
मृत का जनेऊ ही रहा है जिन बशों पर  
उन्हीं पर मोतियों के हार भूमने लगे ।  
जिन खोटियों में ताल कमल ही खुलते थे  
उन्हीं खोटियों की स्वरूपल घूमने लगे ।  
राज्य में वेम भूप-सोदर खोरभद्रजी के  
गोदावरी तट के ब्राह्मण बढ़त गये !<sup>१</sup>

श्री वेदूरि प्रभावरा ग्राम्भी भी अपने 'शृंगार श्रीनाथ' में स्वीकार करते हैं कि प्रयहार आदि मू-शामदानों में ब्राह्मणों का विपुल भत्तार दिया जाता था।

१. 'भीमेश्वर-पुराणम्', अध्याय १, पृष्ठ ४१।

रेड्डी राजाओं के अन्दर जो थड़ा-भक्ति ब्राह्मणों के प्रति थी, उसकी उपमा भारतीय इतिहास में नहीं और उपलब्ध हो सकेगी, इसमें भारी सन्देह है। वरंमल के राजाओं ने जो भी दान-धर्म किये, वे तो बाद में मुसलमानों के हाथ लगे। रेड्डी राजाओं ने जिन-जिन प्रांतों को पुनः प्राप्त किया था, उनमें पुराने राजाओं के दान-पत्रों की मर्यादा रखते हुए, उन सबको फिर से जाचू कर दिया था। खुद रेड्डी राजाओं ने भी ब्राह्मणों को अमाप खेत और अनगिन गांव दान में दिये। जो गांव ब्राह्मणों को दान के रूप में दिये जाते थे, उन्हें अग्रहार कहा जाता था। दक्षिण भारत में, और विशेषकर आंध्र के अन्दर ऐसे अग्रहार अक्सर पाये जाते हैं। इतिहासकारों का मत है कि रेड्डी राजाओं की दान-प्रवृत्ति और उनके उदार दानों से आकृष्ट होकर कितनी ही ब्राह्मण-मण्डिनियाँ दूर-दूर से आ-आकर कृष्णा-गोदावरी के दोआब में बसने लगी थीं। आंध्र देश के एक प्रामाणिक तथा सम्माननीय कवि एरा प्रगडा हैं, जो 'प्रबन्ध गरमेश्वर' के नाम से याद किये जाते हैं, और जिन्हें यह मालूम ही नहीं था कि मुष्-स्तुति क्या चीज होती है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'उत्तर हरिवंश' में लिखा है :

“विद्यावृद्ध तपोवृद्ध विप्रों की  
दे-देकर अग्रहार,  
सौंपे उन्हें घरों के कार-बार;  
मनोहारी मन्दिर बनवाये,  
खुदवाये सर,  
सत्र, धर्मशास्त्र, यात्रीघर,  
प्याऊ, फल-छाया-वन-  
उपवन लगवाये और  
निधियों की स्थापना की ठौर-ठौर;  
हेमाद्रि-परिकीर्तित अमित दान  
किये हैं, करते हैं, करेंगे भी



भरे हैं, भरते हैं, भरेंगे भी  
शुभ कर्मों के अक्षय भांडागार—

इस उदार

'पुनरुत्त-कृत' थी

श्रेम-विभु के भाग्य-वैभव की

महिमा को कौन गा सकेगा रे ?”

यैसे ही वेल्नेनकटि गूर कवि ने भी कहा है

“जोवन भूसुरों को

विरुद्ध पंडकुल-नृपतिपों को

अपना विश्राम प्रजाजन को,

पों सब-कुछ प्रपित कर

अने घेमने-प्रभु ने

कीर्ति-स्वर सौपी

प्रिभुवन को ।”

प्रब उन ब्राह्मणों को दया क्या थी, वह भी देख लीजिए । कविवर गोस्वामी ने गूर पुरोहित ब्राह्मण का जुगुप्सा-जनक विष इस प्रकार सीधा है—

“रोगियों से नुछ नोच-गमोटकर, मुग्धे डो-डोने कुछ जुटारकर,  
बन्धनों टाँसने के अनुष्ठान करके, गणक खाँडों से ‘तृप्ताम्न’ होकर  
पानी जो भर लाकर, ब्रह्म आदि पर्वों पर माटा (दमट्टी बेरा) ददिगा  
लेकर, घर-घर पत्रा पढ़कर, द्वार-द्वार ‘वार’ माँगकर, दान के दोनों को  
अगोछ के छोरों से गटिया बाँधकर और कोई हीसा न मिले तो गले  
में भोली डोने गली-गली मुट्ठी माँगकर, और इस प्रकार जुटाये धन  
को व्याज पर देकर, बागज निम्बाकर, वृद्धि, पत्रवृद्धि, मातवृद्धि आदि  
व्याजों पर व्याज जोड़-जोड़कर पुरोहित अपना जीवन बिनाया  
करता है ।”<sup>१</sup>

१. ‘हरिदचन्द्र’, भाग २, पृष्ठ १४५-१४६ ।

गोरनों ने कर्ज लेने और कर्ज उड़ा देने के भी बड़े रोचक चित्र खींचे हैं—

"शनी महाजनो के घर जाकर, मीठी-मीठी बातें बनाकर, विश्वास बिठाकर, मन पचाकर, नकली जेवर, लाखभरे गहने, नकली सोना, पीतल-लोहे पर मुलाम्मे का माल, नकली जवाहर लेकर, रात के ममय बोरी-सुपके पहेंचकर, 'यह गत लो' बटकर, उन पर लागू मुहर कराके, बदमाशों को भांड पर बिठाकर, इस प्रकार कर्ज लेकर, उड़ा देकर, घरे जाकर, दरवार में घसीटे जाकर, दण्ड पाकर, पत्थर ढोकर, मार खाकर, (किसी भी तरह) लोगों को हरना चाहिए, यही उनकी मान्यता है।"<sup>१</sup>

रेड्डी राजाओं ने आग्र में अपने मित्रात्मक वनवासे और प्राचीन मन्दिरों के नाम दान-पत्र अर्पित किये। आग्र ही नहीं, दक्षिण में द्राविड देश के मन्दिरों को और उत्तर भारत के मन्दिरों को भी दान-धर्म दिये।

रेड्डीराज ने लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हेमाद्रि नामक एक विद्वान् ने 'आचार-व्यवहार' के सम्बन्ध में एक विज्ञान शास्त्र की रचना की थी। पाफ़ी दिन तक उसका प्रचार रहा। रेड्डीकालीन प्रामाणिक कविमो ने लिखा है कि हेमाद्रि के उस शास्त्र का अनुकरण करने हुए रेड्डी राजा षोडश-दान आदि देने थे। किन्तु वह दान कोई ऐसी-बैसी भीरु नहीं थी। सरस्वत नुटाकर दीवानिया बना डालने वाले होने थे ये दान नौ। गोदान, भूदान, हिरण्य दान और अग्रहार दान के नाम पर धन-हीन के साथ गांव-बे-गांव दान में दे दिए जाने थे। मतलब यह कि वे अपने जीवन में ही अपनी जायदादों की हिस्सा-बांट कर डाला करने थे। इतना भारी प्रभाव था हेमाद्रि का।

आग्र में समस्त धर्मशास्त्रों में सर्वाधिक प्रचार 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का था। रेड्डी राजाओं को अपने से दो सौ वर्ष पूर्व के विज्ञानेश्वरी की व्याख्या ही अधिक मान्य थी। इमीनिंग् तत्कालीन कवि केतन ने उगे नेनुगू गद्य में लिखा था।

१. 'हरिद्वन्द्व', उत्तर भाग, पृष्ठ १५१, ५२।

### खेती तथा प्रजा की परिस्थिति

जान पड़ता है कि रेड्डी-युग में आरा आन्ध्र 'नाडुघो' बंधवा 'सीमो' के नाम से अनेक प्रान्तों में बँटा हुआ था। पर यह कोई नया बँटवारा नहीं था। आन्ध्र में चिराल में यह प्रथा चली आई है। राज महेंद्री से ग्यारह मील की दूरी पर 'कोम्पोंड' स्थान पर 'मुम्मडि नायक' का शासन था। उसने अपने इलाके को जिन सीमाओं में बाँट रखा था, उनके नाम थे—कोन सीमों, अगार सीमों, बौठाय सीमों, कुन्पाट सीमों, बगल नाडु सीमों आदि। ये सीमों गौनमी (गोदावरी) नदी के दोनों ओर फैले हुए थे। 'आर्यवट' के शिलालेख में उल्लेख है कि 'केला, नारियल, पटहल, मुपारी, आम इत्यादि के बाग-बगीचों से भरा हुआ यह इलाका अत्यन्त रमणीय है तथा आन्ध्र देश की नीति का चारण बना हुआ है।'<sup>१</sup> इसी "श्री गौन पर्वत के पूर्वी भाग में लंकर सीधे मगुद्र-नद तक 'मुण्डला कम्मा नदी' के तटवर्ती प्रान्त को 'गु गीनाडु' कहा जाता था।'<sup>२</sup>

ऐसे सीमों बंधवा प्रान्त आन्ध्र में अगणित संख्या में विद्यमान थे। किन्तु रेड्डी राजाओं ने शासन की सुविधा की दृष्टि से अपने राज्य को जिन विभागों में बाँट रखा था उनके नाम ये हैं—कोट्टीवीडु, विनु-कोट्टे, बेन्गम कोट्टे, भद्रकी, उदयगिरि, कोट्टे, नेन्पूर, मागेन्ने, बंदु-कूर, गोदिनी, अम्भन बांन, चुडी, दूपाडु, धोर नागाडुन कोटा।<sup>३</sup>

पल्लवों तथा पाकतीयों ने देश के जंगलों को कटवाकर नई बस्तियाँ बनाई थीं और गौतोड जमीनों की भेती के बाग्य बनाकर उन्हें निवासों को मीप रखा था। हमसे विदित होता है कि टीगा में एक हजार वर्ष पूर्व बर्नूल, बल्लारी आदि प्रान्त जंगलों से भरे हुए थे। तरुणीन शिलालेख में जान होता है कि राजा प्रताप रेड्डी ने स्वयं बर्नूल प्रान्त में जाकर वर्तमान बर्नूल नगर से चारों ओर दग-गन्डह मील तक जंगल

१. 'आन्ध्र-सचरित्रमु', भाग ३, पृष्ठ १२२।

२. " " " ३. " " १३८।

३. 'हिस्ट्री ऑफ़ द रेड्डी बिट्टुवस्त', पृष्ठ २१८।

कटवाकर बहुत सारे गाँव बसाये थे। हमारे अपने युग में नेलगाने के अन्दर कुल मी साल पहले तक भी जंगल कटवाकर गाँव बसाये जाने गये हैं। फिर उन दिनों अगर जंगल काटकर बस्तियाँ बसाई गई हों तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

घाज की तरह उस समय जमीनों का विमानों के नाम पट्टा नहीं होता था। सारी जमीन राजा की मानी जाती थी। जमीनें माल-ब-माल अथवा नियमित समय के लिए जोत पर दी जाती थी। अपने-अपने बैलों की सख्या के हिसाब में सब विमान साभे में कानून करने थे। गाँव के बारहो पौनियो वामशरो को फसल पर नियमित मात्रा में अनाज दे दिया जाता था। फिर राज्य का छठा भाग अलग करके दोष नाज को जोत और बैलों के हिसाब में कानूनवार आपस में बाँट लिया करते थे। इस प्रकार उस समय मानो सामूहिक विमानों चला करती थी। किन्तु इस सामूहिक सेती का नियम बाह्यणों के अपहरणों पर लागू नहीं था। अथ (अगला या पहला) हार (भूमि, हिंसा) असंग करने के बाद ही बाकी जमीनें विमानों को जोत पर दी जाती थी।

सेती की जमीनों को नापने के लिए निश्चित नाप का एक इण्डा होता था। उसे गड्डी (गडा = बाँस) कहा जाता था। 'किमर पाटी-नाडा' प्रसिद्ध था। जमीन की पैमापन के लिए शास्त्रों की भी रचना हुई थी। नन्मय भट्ट, के समयवालीन उवि मल्लने ने 'गणित शास्त्र' लिखा था, जो आज भी अग्रजगित ही है। कहते हैं कि तत्कालीन सेती तथा जमीन की पैमापन आदि विषयों की आलोचना-विवेचना उस ग्रन्थ में काफी विस्तार के साथ की गई है। कई ने संस्कृत 'गणित शास्त्र' को नेमुगु में अनुवादित किया। 'क्षेत्र गणित' के नाम से ताड़ के पत्तों पर सेती के नमूनों के साथ बड़े-बड़े ग्रन्थ लिगे गए थे। वाकतीय कालीन क्षेत्र गणित के आधार पर मल्लनपल्ली मोमयेश्वर शर्मा ने जो बहुत मारे तथ्य उद्धृत किये हैं, उन्हीं उद्धरणों के अनुसार भाग के माप भी दिये जा रहे हैं—

"तीन जो मिलाकर ग्रंथ  
मध्यांगुल का मध्यप्रदेश  
बित्ते में बारह ग्रंथ  
आकनिका करतत-देश  
एक गड्डे बित्ते बस्तोस  
बाँस लेतो का माप-नवीस"

उस समय नेतो को नूम (कुड़) भर की जमीन, खंडी भर की जमीन आदि कहा करने थे। आज भी तेलगाने के अन्दर इसी तरह बोला जाता है। रायन भीमें में भी हाल तक यह अभिव्यक्ति प्रचलित थी। मतलब यह कि उस जमीन में कुड़ भर या खंडी भर बीज की बुआई हो सकती है। अनाज के नाप के सम्बन्ध में यह है।

"बौदह 'परके' का 'सोता'  
अथवा सोने दो सोता'  
दो 'सोने' का एक 'तीघा'  
उसके दूने का 'माना'  
उसके दूने का 'अट्टा'  
सपाद छप्पन पाटी' का  
होता है भैया 'इदमा'  
एक 'तूम' जिसका दूना  
और एक 'कुंघा' आधा।"१

नेतो के माप में 'नियननम' अथवा 'अस्तु' का प्रयोग किया गया है। और इस सम्बन्ध में जो माप दिये गए हैं वे यह हैं।

१० हाथ = १ दंड (बाग)

१० दंड = १ नियनन

१० नियनन = १ गौवर

१. 'हिस्ट्री ऑफ द रेड्डी बिड्डम्स', पृष्ठ ३६५।

२. वही, पृष्ठ ३६७।

इनके अनिश्चित रेड्डी युग में कुछ अन्य माप भी चालू थे :

४ हाथ = १ बार (बाँट)

४ बार = १ बाँस

४०० बाँस = १ कुँटा

१०० कुँटा = १ कुच्चल, खंडिक अथवा तूपा ।

सोने-चाँदी की धातुओं को 'माडा' से तोला जाता था । शब्द 'रत्नाकर' में 'माडा' का लब्धार्थ है 'अरवरहा' अर्थात् 'माधा बरहा' । माडा सोने का एक छोटा-सा सिक्का था । कोटावाँटु राजाओं के समय कानीन बबि कोरावि गोपरायु ने कहा है :

"एक 'बर्ध' में 'माडे' चार

चार 'बर्ध' का एक 'पलम्'

सौ 'पलमों' का 'तोला' चार

जितका बीस गुना मिति-भार ।"<sup>१</sup>

उस समय के सिक्कों की चर्चा तत्कालीन काव्यों में प्रायः मिलती है, विशेषकर 'सिंहासन द्वात्रिंशिक' में । उसमें 'रूक',<sup>२</sup> पमिटि-टक्कु,<sup>३</sup> मिप्पुमु,<sup>४</sup> गद्दे<sup>५</sup> अथवा गछाणि के उल्लेख आये हैं । 'गछाणि' को 'बरहा' के बराबर माना गया है ।<sup>६</sup> एक जगह एक कथा आती है कि किसी राजा ने एक मंत्र को कही काम पर भेजा और मात्र दिनों के खर्च के लिए उसे मात्र 'माडे' दिये ।<sup>७</sup> मनसब यह कि माघारणमरा महेगवाहक को एक 'माडा' रोज़ मजदूरी मिला करनी थी ।

१. 'सिंहासन द्वात्रिंशिक' भाग २, पृष्ठ ३१ ।

२. " " " २, " ८६ ।

३. " " " २, " ६६ ।

४. " " " २, " ६६ ।

५. " " " १, " २८ ।

६. " " " १, " १०२ ।

७. " " भाग १, पृष्ठ ६४ ।

तेलगाने के अन्दर तरी की कास्त (धान की पैदावार) ही प्रधान थी। आज भी यही बात है। इसीलिए प्राचीन काल में राजा-महाराजा, मन्त्री, सेनानी, धनी महाजन और प्रजा भी छोटे-बड़े तालाब या नहरें बनवाते आये हैं। तरी की कास्त के लिए पानी मॉट (पुर), तेंकुली तथा तालाबों की नहरों-नालियों से दिया जाता था

"कर्म भूमि है देश, कर्मपुण कात हमारा  
कैसे सभ भायें अकूत को ? बुद्धि सहारा !  
अनावृष्टि हो, सूखा पड़े, अकाल पड़े तो  
पानी की बाबलियाँ और कुएँ खुदवाओ !  
मोट-रहट से जलाशयों से पानी लींचो  
नहरों और नालियों से सेतों को लींचो  
कर्म करो हे, किये बिना कुछ हो न सकेगा !  
काटेगा वह आक, बीज जो बी न सकेगा ?"¹

स्पष्ट है कि यह तेलगाने के अन्दर तरी यानी पान की नलों के सम्बन्ध में ही कहा गया है। पम्नाडु की गीमा वर्तमान तलगाँडा जिले से मिसनी-जुलगी थी। इस इलाके में नापैरास्त (एक प्रकार की पथरीली जमीन) की बहुतायत है। 'प्रीतिभिराममु' का कवि आदर्शपंचकिन होकर कहना है

"न जाने धीगिरिनिद्रा खेज स्वामी की कंती महिमा है !  
गगन में घिरकर आये मेघ कि वन सेती घेंकुरानो है !  
कि वन यह खटियल घरती हरिघातो ॥ भर-भर जाती है !  
कि वन सेती सहराती ललिहानों में हून बरसाती है !  
कृपा श्री खेज या श्री शैलेश्वर की अणर नहीं होनी,  
सूँद की बाट जोहती सेती बंठी किरमत की रोती !  
कहाँ से मेघ उत्तरा के नभ में यों उमड़-धुमड़ आते ?

१. 'सिंहासनशासनिक', भाग २, पृष्ठ ७।

उमड़ते भी तो बेंबरसे जो के बूटे क्यों धँकुराते ?

कहाँ से मुल्कीनाहु 'विषय' के सोये भाग जाग पाते ?"

मुल्कीनाहु या 'विषय' में वर्तमान कर्नूल, गुण्टूर, महबूब नगर और नलगोंडा के जिले शामिल हैं।

परन्तु पल्लनाडि की सीमा में वाली मिट्टी का ही राज है। यहाँ पर ग्वार की बरत ही अधिक होती थी। लोग भी ग्वार ही अधिक खाते थे। कवि श्रीनाथ ने कहा है।

"पल्लनाडि की तमाम प्रजा के लिए,

ग्वार-ही-ग्वार एक चाहिए !

ग्वार की चाँजी, ग्वार की अम्बत्ती,

ग्वार का दलिया, भात कि लिचड़ी,

अन्न है कोई तो सब ग्वार है !

ग्वार के बिना नहीं आधार है !

क्यों महीन चावल ?—अलग्व है, इसलिए बेकार है !"

"पल्लनाडि सीमा के अन्दर भला क्या है ?

छोटे-छोटे गाँव हैं,

छोटे-छोटे बंकर हैं, पत्थर हैं,

छोटी-छोटी देवियाँ हैं, देव हैं !

बड़ी-बड़ी घटाने और नदी-नाले हैं,

ग्वार का और बाजरे का भात है,

और हर कहीं फिरती साँप-बिच्छुओं की जमात है !"

"पल्लनाडि सीमा में रसिक-जन तो पा भी नहीं धरेगा,

क्योंकि यहाँ, सुन्दरी रम्मा-जंती भी क्यों न हो कोई,

बई की पुनी ही कानेणी,

यमुधेन भी कोई क्यों न हो,

यहाँ तो सेत ही तो जोंतेगा,



कुसुम-वाण भगवान् भी, हों मेहमान अगर  
ज्वार-भात ही परोसा जायगा !”

यह हुआ रायल मीमा का दर्शन । अब हम यह देखें कि कृष्णा गोदावरी के मुहानों वाली नैल्लूर, विजायपट्टण की छेष्टा जमीनों में किमानों की क्या हालत थी ।

श्रीनाथ अधिकतर कृष्णा त्रिने के चन्द्र ही रहे । इस कारण श्री राज-कवि होने के कारण यह गदा महीन चावल और भीति-भौति के अन्यान्य स्वादिष्ट भोजन ही पाने थे । एक बार जब वह पन्नाडि प्रांत में गये तो वहाँ ज्वार का भात न था मक्के के और गहूरे पुष्पो में पानी स्वीच न करने के कारण बड़ी मुश्किल में पस गये । आगिर पन्नाडि प्रांत की खरी-खरी गालियाँ मुनावर वहाँ में उल्टे पाँव खीट पड़े ।

श्रीनाथ बुद्ध आंध्र थे । रायल मीमा का अधिकतर भाग बर्गाटार राज्य में शामिल था । ‘कन्नड-देवी’ को सम्बोधित करने हुए उन्होंने कहा था—“हे माता, कन्नड राज्यजयमी मैं श्रीनाथ हूँ । क्या तुम मुझे पता दया नहीं पाती ? स्वाद की इच्छा करना दोष मानकर मैंने मट्टा और अम्बली भी खायी ।” आगे कहता है—“हे पुत्र मरोग नेत्री, यही तू भी गरम-नरम बच्चनी भाजों के साथ ज्वार के कौर गले में उतारें, तभी तुझे पता लगेगा ।”

श्रीनाथ कृष्णा गोदावरियों के मुहानों पर उग उगजाऊ इन्दा द्वीप-माला के यामी थे, जहाँ अनेक प्रकार के अर्ध-अर्ध चावल उगते थे । श्रीनाथ ने भिन्न-भिन्न धानों में से कुछ के नाम गिनाये हैं । जैसे, नदी-मातृकाय भाव, विरवम्भरा भरित, कनकपाली, मिरासुरी, वाटिर, पनगै, एयन प्रमुख बहुविध ग्राहिभेदाः ।\*

गोदावरी के मुहाने की भूमि अनेक प्रकार के पत्तों और पनहरियों में समृद्ध थी । पूर्वी तट के धान्य अस्थ मर्याति के सम्बन्ध में एन पादशाप्य

१. ‘श्रीनाथुनि चादुपारसु’ ।

२. ‘हरिविनाससु’, प्रथम अध्याय, पृष्ठ १७ ।

यात्री 'जोडनिन' ने, जिसने कि १३२३-२० में भारत का भ्रमण किया था, इस प्रकार लिखा है -

"तेलुगु देश का नरेश महान् प्रतापवान है। उसके राज्य में ज्वार, चावल, गन्ना, गहूँ, दाल और अन्य धान्य, तथा घण्डे, भेड़, बकरी, भैंस, दूध, दही, तरह-तरह के तेल तथा उत्तम पत्तों की इतनी इफ़रान है कि किसी दूसरी जगह से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।"<sup>१</sup>

इसने स्पष्ट है कि उस समय तेलुगु देश सुखी और सम्पन्न था। बल्लमापुर (जो सम्भवतः कृष्णा त्रिने में है) बेल और अंगूर के लिए प्रसिद्ध था।<sup>२</sup>

जान पड़ता है कि रेड्डी-युग में आध्र की प्रजा अपने राजाओं से काफी मनुष्ट थी। यह बात न होती तो भोटियों, बर्णाटियों, मुसलमानों और पड़नायकों के निरन्तर आक्रमणों के बीच आन्ध्र-प्रजा अपने राजाओं के विरुद्ध बन्नी की उठ खड़ी होती। राजाओं को अपनी प्रजा का पूरा समर्पण प्राप्त था। तभी वह ऐसे प्रबल शत्रुओं को सरलता से परास्त कर सकें थे। रेड्डी राजाओं ने अपनी प्रजा पर बन्नी कोई अन्यायपूर्ण कर नहीं लगाये। आन्ध्र-प्रजा कोई अकर्मण्य प्रजा भी नहीं थी, क्योंकि फोर्टीफ़ी के अन्तिम राजा राबे नेमने ने जब प्रजा पर नये-नये उत्पीड़नकारी कर लगाये तो प्रजा ने विद्रोह कर दिया था। यह तो वही की चन्द्र कविताओं में ही मिश्र है। राजा ने एक नया कर लगाया, जिसे 'छट्टी (फुरिटी) कर' कहने थे। अर्थात् जब किसी के घर बच्चा हो जाता तब उसे राज्य को भर चुग्ना पड़ता था। एल्लप्पा नामक एक निगापन ने कर देने के बजाय उल्टे उस राजा को ही मार डाला।

रेड्डी-राज्य का पतन मन् १४३४ ई० के लगभग हुआ। लगातार बोंगिगाँ के बाद मोड्ड (भोटिया) राजाओं ने धन में पूर्वी तट तथा

१. 'हिस्ट्री ऑफ रेड्डी विट्टम', पृष्ठ ३७३।

२. "बल्लमापुर प्रांत बदलि-वनानर द्राक्षातनाकलस्तबबमुल्लु !" धोनायुनि चाटुधार।

मुंद्र के प्रान्त को अपने अधीन कर लिया। उडिया राजाओं को आन्ध्र प्रजा से कोई प्रेम नहीं था। देश से सारा धन लूट ले जाना ही उनका एक-मात्र उद्देश्य था। कवियों का सत्कार अथवा कला-नोषण की भावना उनमें कुछ-मात्र भी नहीं थी। अस्मिन्नान्ध्र परिरूप्य, कवि मार्क-भौम तथा आन्ध्र मार्कभौम के विरुद्धों के द्वारा सम्मानित धीनाथ का भी उन्होंने तरह-तरह के श्राप दिये। अनेक रेड्डी राजाओं के यहाँ राजरवि रहकर, धर्मोप धन कमाकर, राजाओं के समान ही दान-धर्म देकर, रेड्डीयों के बाद भी एक हजार मासिक पुष्पस्कार पाने वाले श्रीताप को अन्त में उडिया राजाओं के समय थोड़ी-सी जमीन (७०० टंक) टंके पर लेकर लेती करनी पड़ी। पैदावार न होने और कर न चुका सकने के कारण अगमनित होकर कविवर ने इस प्रकार विलाप किया था।

“कवियों के महाराज सरे-बाजार लड़े हैं,  
धूप लड़ी सामने ! आंध्रनयधकर्ता के  
जिन हाथों में बोरभड रेड्डी राजा ने  
कोली चट्टानें नगरी के सिंहद्वार की  
कुछ सी फगल बहा ले गई उफनती कृष्णा,  
बोड्डपुल्लि की बंजर परती के घुनाथ में,  
भरूँ सात सौ टंक बहो ले किस प्रकार में !  
करके ‘योगइवड्ड’<sup>१</sup>-धूप का कंटासिगन,  
हाथों में लोहे की हथकड़ियों का कंगन !  
भेंट धरी थी, ‘वेट्टुड-बोड्डिण’<sup>२</sup> मुक्त बही हैं !  
सार्वभौम कवि के कथों पर घट बीठी हैं !

१. (सात सौ टंक लगान में चुकाने पर बंडस्वरूप कवि को सामने ले  
पड़ती लड़ी धूप में) ‘योगइवड्ड’ अर्थात् बंड के मुँह में बांधकर  
लड़ा किया था।

२. बीता के पंचवड्ड।

मूर्ग तिसादिक बीज चुग गये चिड़ियों के दल !

घोला-ही-घोला खाया है मैंने केवल !”

उपर के पक्ष में इन बात पर अच्छा प्रकाश पड़ता है कि कर न भरने पर किसानों को कैसी-कैसी सजाएँ दी जाती थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि सन् १२०० तक भी हैदराबाद के इलाकों में पटेल-पटवारी मरपारी खमो की बसूली में इन्हीं तरीकों से काम लिया करते थे। गाँव के बीच चौपाल होती थी। उसके घन्दर लकड़ी की हथकड़ियाँ लगी रहती थी, जिन्हें कोड़ा बहने थे। दोनों कन्नाड़ों को उन काठ की हथकड़ियों में घुमेड़कर उनके बीच पच्चड़ मार दिया जाता था। धूल में खड़ा करके या झुकाकर पीठ पर एक मोल सिल चढ़ा दिया जाता था। एक बड़ा दूँठ पड़ा रहता था, जिसकी ज़ोर से किसान के पर बाँध दिये जाते थे। ऐसी सभी क्रूर सजाएँ जागीदार किसानों को दी जाती थी। ये सजाएँ उडिया राजाओं की देन थी, जिनका प्रचलन देश-भर में फैलकर जम गया था। इसका यह मतलब बड़ापि नहीं कि उडिया राजाओं ने ही ये सब सजाएँ लागू कर दी थी। हो सकता है, ये पहले से भी चालू रही हों, किन्तु तेलुगू-साहित्य के अन्दर ऐसे उदाहरण मिलने ही पाये जाते हैं। फिर भी यह निश्चिन है कि जब तक श्रीकान्त की यह कविता रहेगी तब तक ओट्ट राजाओं का यह अपमान मिट नहीं सकेगा।

अपराधियों को बठिन दण्ड दिया जाना था। एक बलिये द्वारा अपने अन्याय-ध्याहार को मान लेने पर राजा ने कहा था :

“क्यों रे बलिये जब हम  
नाराज न होकर चुपचाप  
रहते हैं तब भी तू  
मनमानी बकता रहता है।”

इसमें ऐसा प्रतीत होता है कि उडिया राजा आग्रह कवियों और कुलीनों को त्राण नहीं देने थे।

कचि, पेरि, पोत्रि, ये तीन वेश्याएँ थी, जिन्हें राजा भनापोनु राजु ने माफी में कुछ गाँव दिये थे। इन वेश्याओं ने उन ग्रामों में नानाव वनवाये। इसमें सिद्ध होता है राजा और घनी ही नहीं, बल्कि जन-साधारण भी जनोपयोगी कार्यों की बड़े प्रेम से करने-कराते थे। नेवगाने के अन्दर वेनमें राजाओं ने अनेक बड़ी-बड़ी नदी, बांध, भीले (तटाक) बनवाई थीं, जो आज भी उन्हीं व्यक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो तरी की काश्त के लिए प्रधान साधार वनी हुई हैं। इसी प्रकार मापव नापुह, सिगमें नापुह आदि ने अपने नामों पर नगर बसाये, जो आज भी उन्हीं नामों से चत रहे हैं।

सामूहिक दृष्टि में यह कहा जा सकता है कि सन् १३०० से १४०० ई० तक छान्द्र देश की दशा अच्छी थी। प्रजा मुर्खी थी।

### व्यापार तथा व्यवसाय

समुद्री व्यापार से छान्द्रों का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही रहा है। कृष्णा, गोदावरी तथा विशाखपट्टण (बंजारा) के समुद्र-तट पर होने के कारण वहाँ के निवासियों के लिए समुद्री-व्यापार की सुविधाएँ प्रचुर थीं। उनका व्यापार विशेषकर बर्मा, मलाया, इण्डोनेशिया, चीन तथा श्रीलंका के साथ अधिक चलता था। इसी प्रकार फारस, अरब आदि देशों से भी छान्द्र के बन्दरगाहों पर भाँति-भाँति का माल उतरता था। जिन प्रकार स्थल-मार्गों पर टाकुओ, कुटेरो का भय था, उर्गी प्रकार जल-मार्गों पर भी उनका डर लगा रहता था। शायद उन्हें भी कुछल जानने की कोशिश करने थे। बाकतीय सामक गणपति चक्रवर्ती ने पहले और बाकतीय राज्य के पतन के उपरान्त मुगलमानी की अधीनता में देने के धने जाने के बाद भी छान्द्र का समुद्री-व्यापार लगभग बन्द-गा रहा। ऐसे समय में भी चेम्पारेडू के भार्द दूरमेनानी मल्लारेडू ने मोटुपल्ली बन्दर को अपने अधीन रखा।

मोटुपल्ली का दूसरा नाम मुतुलपुर था।

जब आन्ध्रों ने समुद्री-व्यापार में इतनी उन्नति कर ली थी, तब तो नानमवन्गी सावैनिक शब्द आन्ध्र साहित्य के अन्दर निश्चय ही पाये जाने चाहिए। किन्तु ऐसे शब्दों का समावेश नेलुगु साहित्य में नहीं हुआ। यदि कुछ शब्द आ भी गये हों तो भी नोग उनका अन्वय नहीं कर सके। श्रीनाथ ने 'हरिविनायक' में त्रिविध नौकाओं के कुछ नाम गिनाये हैं। इस दृष्टि में उनका यह पद्य बहुत महत्व रखता है :

“कप्पलि, सम्मन, जोंकु, वल्लि मे जलपानों पर  
तरणासोरि, तवाई, गोवा रमणा मे भर  
भीति-भीति के गद्य-द्रव्य : कम्पूरी, केसर  
चन्दन, चन्द्र-कपूर, अगर, कु कुम हिमशंकर,  
साद-साद लाया करते हैं, रंश्य कुत्तोसम  
अवचि-तिप्प, महिमा में जो कि स्वयं अपने सम ।”<sup>१</sup>

उक्त पद्य में कप्पलि, सम्मन, जोंकु, वल्लि आदि शब्द जलपानों के लिए आये हैं। नमिल शब्द 'कप्पल' भी जगह 'कप्पनि' आया है। 'जोंकु' बड़े जहाज को कहने से। अनुमान है कि आजरज के अग्रेजी शब्द जज का प्राचीन रूप यही है। 'सम्मन' शब्द मनय दोनों में प्रचलित था।<sup>२</sup>

समुद्री व्यापार से रेड्डी राजाओं को अपरिमित आय होनी थी। देश-व्यापी अराजकता के कारण बन्द पड़े मोटुपल्ली बन्दरगाह को रेड्डी-राजाओं ने देश में शान्ति स्थापित करके फिर से चालू किया और जल-धन-भागों को व्यापार के लिए सुरक्षित कर दिया। उन्होंने कुछ माल पर तो चुंगी कम कर दी और कुछ की चुंगी माफ़ ही कर डाली। सब की जानकारी के लिए चुंगी की दरें गिनालेगों के रूप में विज्ञापित कर दी गईं। ये गिनालेग मोटुपल्ली में आज भी मौजूद हैं। इस लेख में उन समय की भाषा के रूप तथा व्यापार के व्योमों, दोनों का ही

१. 'हरिविनायक मुद्रपादुलु'। (तरणासिरी आदि का निरूपण आगे से देखें अनुच्छेद में है। सम्पा० हिन्दी सं० १।)

२. 'हिन्दी आर रेड्डी विड्डम्मा', पृष्ठ ४०५-६।

पता चलता है—

"स्वस्ति श्री शकवर्षे १२८० विलम्बी सवत्सर थावरा शुद्ध ८ मंगलवार स्वस्ति श्रीमत् अनपोतय रेड्डी का मोटुपल्ली में धाकर बमने वाले और मोटुपल्ली से द्वीपान्तरों को जाने वाले व्यापारियों का निगा हुआ धर्म-मानन इस प्रकार है :

हम मोटुपल्ली में जो भी व्यापारी बमने के लिए आयेंगे, उनका हम पूरा सम्मान करेंगे और उन्हें अच्छा पुरस्कार देंगे । उन्हें जमीन के साथ रहने की जगह भी देंगे । जब वे यहाँ में जाना चाहेंगे, तब हम उन पर कोई रोक नहीं लगायेंगे और उन्हें सम्मान के साथ पहुँचा देंगे । वे मान कही से भी लायें, पूरी स्वतन्त्रता के साथ जहाँ चाहें वेच सकेंगे । सरीसृप वालों को भी यही आज्ञा दी रहेगी । चुगी के बदले में मान नहीं रोका जायगा । बीरानु, मडमु, पचडमु पट्टी व्यवहार के लिए मोने पर चुगी बन्द करके अन्नत्रिका तथा मुकादाय (कर) को हमने बन्द कर दिया । चन्दन पर 'बडी मुक्कु' पुरानी परिपाटी के साथ एक 'मूटा' बन्द करते हैं । इस मान पर स्थल-कर पुरानी परिपाटी के अनुसार लिया करेंगे । इन नियमों को सभी लोग मान्यता देंगे । हमने आपको अपना अभय-हस्त दिया ।"

अर्थात् इस सामन के द्वारा एतान किया गया है कि मोटुपल्ली को जो भी व्यापारी आयें उन्हें सम्मान के साथ ठहराएँगे और उनके ऊपर किसी प्रकार की रोक-टोक न होगी । जो भी मान वे जहाँ में भी चाहें आज्ञादी में ले जा सकेंगे और जहाँ चाहें वेच सकेंगे तथा कर के बर्धन में मान को रोक नहीं जायगा ।

राजा कुमारगिरि रेड्डी के राज्य में एक करोड़पति नेट अन्नचि निष्प था, जो बड़े ही उदार स्वभाव का और धैर्यानु यत्न गुण्य था । इसे राजा का 'मुगन्ध भाडागारी' भी बताया है । यह नेट इन भादि का भी व्यापार करता था । श्रीनाथ ने अपने 'हरिविस्तार' में इस निग नेट की धन-महिमा बहुत-बहुत गाई है । यह नेट विन्न-विन्न देशों में

वीन-वीन माल मँगवाया करता था उस पर श्रीनाथ ने इस प्रकार निरुता है :

साये घनसार के वृक्ष पंजार से  
घोर जलजोगि से कनक-श्रृंगुर  
मिहलडोप से गंध-सिद्धर श्री  
दुरग हरमुञ्ज से चंचल धुर  
गोव से शुद्ध संकुम्भ द्रव्य लाये,  
मापक से मुक्ताफल की रास लाये  
भोट से कोश कस्तूरिका के,  
घोर चीन से चीनांगुस्त्वाम लाये  
जगद्-नोपाल राय बेइया-भुजंग श्री  
जाए श्री देव श्री बामु-मेट्टी  
पल्लवादित्र्य श्री भूदान परगुराम,  
कोमर गिरि देवेन्द्र जगत-सेट्टी<sup>१</sup>

इन पद्य में गोव (गोवा), महावीन (चीन), मिहलडोप (भीलका), घोर हरमुञ्ज (फारस के शहर हरमुज) की तो हम जानते हैं, शेष स्थानों का निरूपण रेड्डी राज्यों के इतिहास<sup>२</sup> में इस प्रकार बताया गया है :

“पंजार—मुमाग्रा का शहर पनसार ।

जलजोगि—ममापा का एक शहर ।

घांप या घांपक—भीलका का शहर जाफना ।

भोट—भूटान ।”<sup>३</sup>

अथर्वि निम्न त्रिन ‘तदल्लसीरि, तवाई, गोवा, रमणा’ आदि स्थानों में ‘भक्ति-भक्ति के गन्ध द्रव्य’ लाद-लाद लाया था, उनका निरूपण

१. ‘हरमितातपु’—कृत्यादि पद्य ।

२. यैसे, भोट या भोट देश तिब्बत की भी कहते हैं ।—संवा० हि० सं० ।

३. ‘हिस्ट्री ऑफ द रेड्डी बिड्डम्स’, पृष्ठ ४०६-४१२ ।



श्री मल्लमपल्ली (धर्मात् श्री म० मोमशेनर शर्मा—सम्पा० हिन्दी स०)  
ने इस प्रकार किया है :

“तच्छासीरि—मत्ताया द्वीप समूह का टेनास्रिम् ।

तवाई—मत्ताया का ही तवाय ।

रमणा—येसू देश का रमग्र ।”

व्यापार करने वालों में बलिज और कोमटी जातियों के लोग ही प्रमुख थे । पहले बलिजों को ही सेंट्री (सेन्ट्र) की पदवी थी । बाद में कोमटी लोगों ने भी उन्हींके समान विशेषकर व्यापार-कृति ही अपना ली और इस कारण उनके सेंट्री के सम्पद को भी अपना लिया ।

यह यस्तो में सप्ताह में एक दिन बाजार भरता था । कुछ बाजारों में विशेष वस्तुओं का ही व्यापार हुआ करता था ।

“ तेल की मंडी के बीच यह

घायल की गठरी तिर लाने पधारे,

एक सुनी न किसी ने,

यह 'तेल में तंबुल बदलो', पुकार के हारे ।”<sup>१</sup>

इसमें प्रतीत होता है कि तेल के समान अन्य वस्तुओं के लिए भी घगग-गलग हाटें लगती थी । वही-वही यह भी पता चलता है कि प्रजाप देवर उसमें बदले में जो चीज चाहे, ले सकते थे । “सातमनिका घायल के बदले एक मनिका तेल, इस पुर का धारण है ।”<sup>२</sup> (यही ‘धारण’ शब्द आज का हिन्दी शब्द ‘दर’ बन गया होगा ।) यह भी जान पड़ता है कि पुर धर्मात् राहुर के व्यापारी वस्तुओं का मुख्य निर्धारित वर्ग थे ।

ग्राम्य देश वारोक मूर्ता बगने के लिए प्रविष्ट था । ग्राम देवी के राज्य-नाम में जो पादचार्य यात्री भारत घाये थे, उन्होंने स्वयं लिखा है कि ग्राम्य की वारोक मनमन महाराजाओं के ही पढ़ने योग्य होती है ।

१. ‘केमूरवाहु-चरित्र’, अ० २, पृ० ६ ।

२. वही, अ० २, पृष्ठ १० ।

ग्रान्ध-भर में मूनी कपड़े के व्यापार की ही द्रष्टव्यता प्राप्त था। घर-घर चरवा चरना था—“कदह (तकुआ) चले और कध्वम (मयानी) नाचे तो दरिद्रता कभी न आवे” यह एक नेसुगू कहावत थी। कहा जा सकता है कि घृद्धों के घरों में प्रत्येक स्त्री चरवा चराना करती थी। गरीब लोग अपनी जम्हरन-भर के लिए रत्नकर बाकी मूल बाजार में बेच दिया करते थे। उनी मूल में कपड़े तैयार होने और पूरव-पश्चिम के देश-देशान्तरी में भेजे जाने थे। पन्नाडि-मीमें के सम्बन्ध में थोनाय ने लिखा था कि :

“रूपसी रम्मा भले क्यों न हो  
कोई हई की पूनी हो कालेगो।”

इसमें प्रतीत होता है कि पन्नाडि में जाति-भेद निर्विशेष सभी स्त्रियाँ चरवा चराना करती थीं।

मूनी कपड़ों के अनिरिक्त रंगमी माल का प्रचलन भी खूब था। रंगम के अनेक भेद थे “बन्दन-कावु पट्टेडुकावु, चेंगावु बंदवकावु, करकचु, बोम्मंचु, मुद्गु बोम्मंचु, मुयंचु, विलुकें, चाल्लु, वेडचाल्लु, निडुवगने, उल्लवारलवन्ने, मंडहिचन्ने, पुणोडिचन्ने, रत्नाक्षवन्ने, नागावन्धम्, पूजा-वन्धम्, जलपंजरम्, कामवरम्, मूरवरम्, तारामण्डल, हंसावली, हरिणा-वली, मुरगावली, गजावली, सिंहावली, शीपवी स्वयंबर, लक्ष्मीविलास, मदनविषाण, दसन्तविलास, रत्नकीर्तितम्, रायभृङ्गार, कनकदण्डे, गन्धितम्, कर्पूरगन्धो, पारुवंगुगन्धो, शीतोपु, श्रीरामतोपु, श्रीकृष्ण चिनाम, श्रीबुनु, मुगिपट्टम, सन्नेवतियम्, वेतिपट्टु, होम्बट्टु, पुलिगोच पट्टु, उदयराग-पट्टु, नेत्रपट्टु, धम्मपट्टु आदि अनेक नामों के मूनी रंगमी और मिलावटी कपड़े”<sup>१</sup> उस समय दृष्टा करते थे। गौरवें कवि ने ‘नवनाथचरित्र’ (पृष्ठ ४) में कहा है :

जिगि जिगि घाँ घाँ करने वाले चीनाम्बर !”

(जगमगाने चीनामूक या चीनी रंगम।)

१. ‘महासतसत्रिजिह’, भाग १, पृष्ठ ७४।

अभी गितामे हुए नामों में सूती व रेसमी दोनों ही प्रकार के सम्मिलित हैं। तैनुगू में 'अचु' शब्द का अर्थ है बिनारी या - धोती, साडी आदि जिन सूती कपड़ों पर जो रेसमी अथवा सूती रंग-बिरंगी चित्र-विचित्र किनारियाँ बुनी जाती थी, उन कपड़ों के साथ ऊपर 'शब्द जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार 'पट्टु' रेसम को कहते हैं। 'पट्टु' शब्द से जुड़े नामों वाले सभी कपड़े रेसमी हैं। 'बन्ने' रंग कहते हैं। 'बन्ने' शब्द में युक्त नाम रंगों के भेदों को बतलाने हैं। द्रौपदी-स्वयंवर, रामाविनास, कृष्णविनास आदि पता नहीं किन को कहते थे। पन्थुयाँ पर बेल-बूटें तथा चित्र होने थे। घुताई की छपाई दोनों तरह के काम उन पर हुआ करते थे। कामवरम और वरम, ये दो नाम गाँवों के हैं। जान पड़ता है ये दोनों स्थान पर के किंग प्रसिद्ध थे।

जब इनके मारे नाम आधुनिकों के ही गिनाये गए हैं, तब स्पष्ट है कि उन दिनों रंग और रंगाई का रोजगार जोरों पर था। 'चेगाकि' फटाबिट्टु हरे रंग को कहते थे। करकचु को (मू० रा० निचडु) बोग में हरे रंग बना रंग कहा है। 'करका' हरे को कहते हैं। बोम्मचू लाल पन्थु वारी उजली माडी का नाम था। बिलुरा लोने को कहते हैं। अर्चावू हरा कपड़ा या हरा भाँचन। उठता अथवा उठुता गिपट्टी को कहते हैं। उमरी धारियों की तरह कपड़े का रंग धारीदार होना होगा। 'दशभा' रंग अब भी चामू है। नील का उद्योग बहुत प्राचीन है। नीला रंग सभी रंगों में चाँडमा होता था। नील का दूहिगो नाम पहने का यही कारण है कि यह रंग पहने-पहन हिन्दुस्तान में ही नैमार हुआ था। मजीठ, ताव और हन्दी में भिन्न-भिन्न रंग बनाये जाते थे। नीलि-पट्टु या मन्तलव यह है कि रेशम को नील में रंगा जाता था। होमपट्टु का मतलब है रेशम के कपड़ों पर जरी का काम। बाद में रंग बनाने का रंग का काम करने वालों की एक धनग रंगरेज जानि ही बन गई थी। 'दट्टी' गूँघ शब्द है, जिसने मानि है पट्टा के। अर्चावू बमर-गट्टा या पेटी।

प्रायः कम माही-घोती को भी दट्टी कहते हैं। किन्तु उन दिनों दट्टी उन जिने-भर चौड़े पट्टे का नाम था, जिस पर जरी का काम रखा करता था, और जिने सैनिक जूतियों के ऊपर कमर-बन्द के तौर पर बंध लिया करते थे।<sup>१</sup>

विदेशों में जाने वाले मान का उल्लेख पहले ही हो चुका है। बाहर में जाने वाली श्रद्धा वस्तुओं का व्यौरा भी मुन लीजिए। कुमार गिरि रेड्डी को 'वमनराध' की पदवी मिली थी। हालाँकि यह पदवी उमके पहले में ही चली आ रही थी, पर उमके लिए तो यही प्रधान पदवी बन गई। विशेषकर कुमार रेड्डी के लिए ही इस पदवी का प्रयोग किया गया है। वह हर मान 'वमनोन्मव' मनाया करता था। उम उमके के अवसर पर बाजारों में कपूर बिछा दिया जाता था। इसीसे उसे 'कपूर वमत गध' की पदवी मिली। इन समारोह के लिए आवश्यक मुगधिन सामग्री जावा, मुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपों में मंगवाई जाती थी तथा उसे राज-मंडारों में भरकर रखने के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त हुआ करते थे। इन 'मुगधभाणगाग्यधो' को 'भववि मेट्टी' कहा जाता था। "महाराज कुमारगिरि वसंतोत्सव के लिए प्रति-मंभस्तर चीन, सिंहल, तवाह (तवाँम), हुरमंजि (हुरंज), जोरांगि प्रभृति नाना सुदूर द्वीपों, नगरों से कस्तूरी, जाकरान, संकुमह (जम्बावी), कपूर, हिमाप्पु, काना धगर, गंधमार (घरन) इत्यादि मुगधिन सामग्री जहाजों में भर-भरकर मंगवाया करते थे।"<sup>२</sup> प्रायः भी समस्त मुगधिन-द्रव्य इन्होंनेगिया द्वीपों में ही आते हैं। उक्त वस्तुओं के अनिरिक्त हम्मू जी (फारम) में छोड़े और सिंहल में हाथी आया करते थे। प्राचीन काल में घोड़ों के लिए फारम प्रसिद्ध था। मुन-निम मुक्तानों की फौजों में घोड़ों की मर्याद अधिक होती थी। इसलिए विजयनगर के महाराजा और रेड्डी राजा घोड़ों पर बहुत ज्यादा धन खर्च किया करते थे। मोती तो थोलेन में ही आना था और चीन में रेशम।

१. 'चल्लोंड घषेन्न चित्रनारत्तमु', पृ० २, पृष्ठ ६६।

२. 'हरविनाममु', इत्यादि।

रेड्डी राजाओं का मदा अपने धवल-वगल के राजाओं से तनाव रहता था। इसीलिए उन्होंने शस्त्रारथ भी खूब तैयार करवाये। मोहार ही शस्त्र बनाता था। भट्टों की आग से कई धातुएँ पिघलाकर उसमें हथियार तैयार करते थे। हथियारों में तनवार, छुरी, भाला, तीर, ईंटें ('फेंककर मारने का हथियार') आग है। पच-धातु से विजय-स्तम्भ और हथियार दोनों ही बनाये जाते थे। राज-सिंहासन की चौकियों में भी पच-धातु का उपयोग हुआ है।<sup>१</sup> धान्य देन में कई स्थानों पर जमीन में कच्चा सोहा खोदकर उसमें पक्का सोहा तथा इन्सात तैयार किया जाता था। कविता की एक तुक है -

"वय्यदी<sup>२</sup> भट्टो मे डाल सुहार

कौरन कौलादी चबरे-सा

पानी चढ़ा-चढ़ा करता सँघार।"<sup>३</sup>

मेलगाने के श्रन्दर निर्मल की धनी सनवारें दुनिया-भर में घट्टन मजहूर थीं। यहाँ की सनवारें तथा यहाँ का इन्सात दमिस्क तक जाता था। दीर्घ-घाटने आदि का काम भी यहाँ होता था। इसके लिए किसी शुभ्र चमकीले पत्थर के कूरे का प्रयोग होता था।

इसका पता तो नहीं चलता कि नाँव का काम कहाँ-कहाँ पर होता था, पर इतना स्पष्ट है कि बरगन शहर में घरवार युवतियाँ भी नाँव की पदियों में चेहरा देखती थीं, (क्रीडाभिराममु)। अर्थात् दुगकी इनकी इफरात थी रि धनी, दरिद्र मर्भी इमे खरीद मचने थे।

लिगने का काम विशेषकर ताड़ के पत्तों पर ही हुआ करता था। ताड़ के पत्ते पर लिगने की मोहों की वनम 'गटामु' बट्नाती थी। पर

१. "पचतीह कल्पितं वयुनतमि कोनुवु चविके।"—'भोत्रराजोपमु', अ० २, पृ० ११३।

२. 'वय्यदी = सोहा पिघलाने की भट्टी।

३. 'सिंहासनद्वारिका', भाग १, पृष्ठ ७८।

गटामु भी धनेक प्रकार की बनती थी। 'गटामु' के दो छोर होते थे। एक छोर में लिखा जाता था और दूसरी ओर में ताड़ के पत्तों को छान-छानकर साफ़ किया जाता था। दुम वाले निरे पर पक्षी के पर की मुन्दर नक्काशी उतारी जाती थी। राजा-महाराजा, मन्त्री और धनी महारज 'स्वर्ण गटामु' से लिखा करते थे।

“सोने की लेखनी से  
कारण देनु के समझ,  
रायस-प्रभु का मन्त्री बाचटु जब  
लिखने लगा, लेखनी के  
गनु गनु गस्तु गस्तु रख से  
शत्रुघों के, बटक मग्नियों के बिल  
जनु जनु जस्तु जल्लु हो उठे,  
और सभी सत्कवि धन-धन्य-धन्य करते रहे।”<sup>१</sup>

ताड़ के पत्तों पर शीघ्र लिखना, मुन्दर लिखना, मोती की तरह प्रसर दिखाना आदि लेखन-कला के आवश्यक अंग थे। इसलिए उस समय लेखकों की निम्नार्द्र बटी ही मुन्दर होती थी। उनमें भी राजा राज्यवेमु के मन्त्री बाचटु की मुन्दर लिखावट तो जगत्-प्रसिद्ध थी।

ताड़ के पत्तों का ही विशेष प्रयोग होता था। परन्तु हमका यह मत यह नहीं कि सांग कागज के उपयोग में अनभिज्ञ थे।

“दस्त्रानु मसिबुरंस्तु कतमुस्तु दारेन्नि चित्तबनुत्

दपांत्—दप्तरम् या दस्ता (दफ्तर), मसिबुरं (दावान), कतम, इनकी के बीच की लेई, आदि वस्तुओं का प्रयोग कवि भीनाय ने भी देखा था।

“कागज पर वल्लं-पट्टति को शोभा देखने ही बनती थी।”<sup>२</sup>

दपांत् राजा तथा मन्त्रीगण कागज ने काम लेने थे। फारसी का

१. एक 'चाडुबु'।

२. 'भौमेश्वर पुराणम्', अ० १, पृष्ठ ७४।

शब्द 'कागज' से ही तेलुगू में 'वागितमु' बना है। धर्यान् काग बनाने का रोजगार मुसलमानों के हाथों में ही था। कागज का सबसे पहले चीनियों ने लगाया था। उन्हींसे मुसलमानों ने कागज का काम सीखा। आज के कागज का घड़ा आज भी अधिकतर मुसलमानों ही के हाथों में है। (तीस-चालीस वर्ष पहले हैदराबाद के कुछ देहात में यह काम होता था। कोयल कोडा, जिना महबूब नगर का मजदूर था। काम तो बन्द हो चुका है, किन्तु काम जानने वाले एक-दो अभी जीवित हैं—अनुवादक)।

साप्ताहिक कामों के लिए ताड़ के पत्तों पर भी स्पाही नया बेंच की बलम से लिखा जाना था। कविवर श्रीनाथ का पद्य है :

"बसुधास्थली के कविवर्य बरबुडि के पतिरस को  
मयते हैं मानस-कड़ाह के कुहर में भर-भरकर  
जिह्वा-तूलिका से महाव्यसन-काव्य लिखते हैं  
तृणराज ताल के पलाश, निज मुष्णकाश के ऊपर।"

### पटवारी

हिमाय-श्रीनाथ का काम 'वरगम्' करने से। (यह वायस्य नहीं, ब्राह्मणों का ही एक जाति है।) सरकारी रकमों की बगूनी चपवा हिमाय रकमों का काम इसके पहले उनका नहीं था। यह काम उम समय विश्व-ब्राह्मणों धर्यान् मुनारों का था। आज भी बड़ी-बड़ी मुनार पटवारी पाये जाते हैं। कहते हैं कि बृष्ण देवराय के मन्त्री भास्कर ने मुनारों को जटारर नियोगी ब्राह्मणों की निपुणता किया था। (नियोगी ब्राह्मण वे हैं जो दूसरों के घर पूजा-पाठ आदि का काम नहीं करने, बल्कि मौजरी आदि करने हैं।)

ये वरगम् पटवारी बड़े दखतराना और धूर्त माने जाते थे। उत्तर-भारत में हिन्दी में जिसे 'बही' कहते हैं, तेलुगू में उसे 'बही' या 'बई' कहते हैं। शब्द बही है, प्रयोग में उच्चारण-भेद हो गया है। बहीगाना

बहरहाल पटवारी का बदला नहीं है। नेनुगु में कहावत है कि 'पटवारी को पनियाता नहीं चाहिए।' पटवारियों की धूर्तता की अपर्याप्त प्रसिद्ध है :

"इधर से आई धाय  
उपर जमा करके  
और वहाँ लूट दिखाने वाला  
प्रकट महा पापी है।"  
"नीतिकान् होवे यदि करण  
तो स्वामी का उपकरण  
निराप गुण अधिकरण  
प्रजा क्षरण  
राज्यों के लिए महा भरण है।"

### कलाएँ

राजनीय शासन-काल के समान रेड्डी-युग में भी कला-सौभाग्य समुचित रूप में होता रहा। बल्कि रेड्डी-काल में कला-सौभाग्य और भी उच्च स्थिति को प्राप्त हुआ। अन्तिम रेड्डी राजा का 'अनंतराय' की पदवी पाना स्वयं ही इसका प्रबल प्रमाण है। कहा जाता है कि श्रीनाथ कवि, जो मैतुबंध रामेश्वर में लेकर विन्ध्यगिरि तक बेजोड़ था, समस्त शास्त्रों तथा पुराणों का पारंगत होने के साथ-साथ नवीन कविता-धारा का प्रवर्तक भी था। यही श्रीनाथ आप्त-राज्य का विद्याधिवारी था। अन्तिमाप्त आश्विन-व्रत की प्रामाणिक आचार्यश्रुति में 'प्रबन्ध-रामेश्वर' की पदवी में विभूषित, पूर्ण प्रगटा राज्य का धाम्यान्-कवि था। 'निबन्धीया विलास' का रचयिता नि यत्त कोम्पन रेड्डी राजाओं का स्तोत्र-गायक था। मह्य-विधान-नव-अभिनव-कला-श्री-शोभिता लक्ष्मादेवी राज-दरबार में निज नये ढंग में नाट्य-कला का प्रदर्शन करती थी। बान मरस्वती आदि

१. 'महामन टॉपिक', भाग १, पृष्ठ १०४।



महापंडित दरबार की दिव्य ज्योति बहलाने थे । वरुण-चमनोत्सव तथा मुगध भाडागार के अघ्यश की चर्चा पहने की जा चुकी है । स्वयं गंडा राजा तथा वेनमें राजाओं ने कविनाएँ रची, व्याख्याएँ लिखी, साहित्य-मृज्जन किया, साहित्याचार्य सर्वज्ञ-चक्रवर्ती आदि कहलाये । उनकी कीर्ति दिगंतो तक व्याप्त हो चुकी थी । इन मागे बातों को देखने हुए बला की उप्रति में आश्चर्य ही भला क्या हो सकता है ।

आधुर्वेद के अन्दर 'भूनाम घन्वतरि' की पदवी से विभूषित 'भास्वराय' को वेद-कोमटी वेम ने अग्रहार दान में दिये थे ।<sup>१</sup>

अने वेमुलु नामक राजा के दरबार में निम्नी साधारण से कवि ने आकर एक ऐसा पद सुनाया, जिसके हर चरण का पहला अक्षर 'वे' था । इस प्रकार उस पद में चार 'वे' थे । इस पर राजा इतना प्रसन्न हुआ कि उसे चार वेनु ('वे' का बहुवचन) के बदले आठ वेनु (आठ हजार तिकड़े) पुष्पकार में दिये । कविता की ऐसी पूछ के पारंगत हो थोड़ा-बहुत पद्या-लिखा प्रत्येक व्यक्ति तुलबंदी करने लगा था । कोई-बीहू की राजधानी में जिस किसी भी गली में तिकल जाइये, कवियों की भरमार मिलनी । ये कवि माथे पर विभूषि गोंत निगटन घने घूमा करने थे । कविता की यह दुर्दशा देखकर श्रीनाथ ने एक कवि में गुदा था :

"तन पर भमम रमाये,  
सब उमाह गेवाये,  
पीला घुंह सटवाये,  
गली-गली की टोकर लाते,  
जिस-तिममे फटकारे जाते,  
कोई-बीहू में दुबके सटवाये कुम,  
बहते हो यह क्या अत्यम-अत्यम तुम ?

१. 'रेड्डीसंविन', पृष्ठ ८६ ।

तू भी कोई कवि है, क्यों ये मधे,  
मुम्हरो को तो इसमें सन्देह है ।”

रेड्डी राज्य-काल में संस्कृत तथा आधुनिक पद्धतियों की संस्था अच्छी  
गामी थी। परन्तु उनमें से बहुत कम ही कवि ऐसे हैं, जिनकी रचनाएँ  
हमें उपलब्ध हैं। हमारा यह दुर्भाग्य ही है कि इन पाँच सौ वर्षों के बीच  
श्रीनाथ की 'बट्ट वृत्तियाँ', रामानुजान की रामायण तथा कुमारगिरि के  
'वनतरात्रीयम्' जैसे उत्तम ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं। हम इतना ही जानते  
हैं कि बाल-सरस्वती राजा धानपोन राजु का आस्थान-कवि था, और  
शिलोचनार्य राजा वेमराजु का। बहूतों की कविताओं के भवशेष केवल  
शिलालेखों तक सीमित रह गए हैं। हमने सुना मात्र है कि प्रभान भारत  
योगी नामक कवि ने सुन्दर गामन-श्लोक रचे थे। हम इतना ही जान  
सकें कि कोई कवि महादेव भी था। आनन्दन के शिला-शासन से हमें  
पता चलता है कि कविवर अग्रय के पद्यों की शैली परिपक्व है।  
बाटयवेमु के गामन को जिस धीवन्तभ कवि ने कविता-बद्ध किया था,  
उनके विषय में हमें कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है। न  
जाने और भी कितनों की ज्ञान-विज्ञान-सम्पदा को हम खो बैठे हैं।  
सुप्रसिद्ध कवि-महाराष्ट्र श्री एरा प्रगड श्रीनाथ, वेमन कट्टि मूरर्गे आदि रेड्डी  
राजाओं के आश्रय में ही रहा करते थे। संस्कृत कवि गामन भट्ट बाण  
ने तेलुगू 'वेम भूषान चरित्र' को संस्कृत में भी लिखा था। स्वयं रेड्डी  
राजाओं ने संस्कृत में व्याख्याएँ तथा कविताएँ लिखीं। राजा कुमारगिरि  
ने नाट्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ 'वनतरात्रीयम्' लिखा था। पेदे-कोमटी ने  
भी नृत्य कला पर एक पुस्तक लिखी थी। 'साहित्य-चिन्तामणि' भी  
इन्हींकी रचना है। बारय वेमर्गे ने कानिनास के वाक्यों पर टीका  
लिखी थी। राजा पेदे कोमटी ने विश्वेश्वर नामक कवि को एक दान  
अग्रहार के रूप में दान दिया था। पता नहीं, पुस्तकार पाने वाला वह  
ग्रन्थ कौन-सा था और उसमें क्या लिखा था। कोई बौद्ध तथा राज  
महेंद्रवरम् के राजाओं ने समान राजकोट के वेमर्गे राजा भी स्वयं

महापदित दरबार की दिव्य ज्योति कहवाते थे । वरपूर-वमतोत्तम तथा सुगय भाडागार के अघ्यश की चर्चा पहले की जा चुकी है । स्वयं रेड्डी राजा तथा वेलमें राजाओं ने कविताएँ रची, व्याख्याएँ लिखी, साहित्य-मृजन किया, माहिताचार्य सर्वज्ञ-चक्रवर्ती आदि कहनाये । उनकी कौन दिगंतो तक व्याप्त हो चुकी थी । इन सारी बातों को देखने हुए बला की उन्नति में आश्चर्य ही भला क्या हो सकता है ।

प्रायुर्वेद के अन्धर 'भूतोर धन्वतरि' की पदवी से विभूषित 'भास्कराय' को वेदें-कांमटी धर्मों ने अग्रहार दान में दिये थे ।<sup>१</sup>

अने वेमुनु नामक राजा के दरबार में किसी माधारण से कवि ने आकर एक ऐसा पद सुनाया, जिसके हर चरण का पहला अक्षर 'वे' था । इस प्रकार उस पद में चार 'वे' थे । इस पर राजा इतना प्रमत्त हुआ कि उसे चार वेमु ('वे' का बहु वचन) के बदले पाठ वेमु (पाठ हजार तिक्के) पुरस्कार में दिये । कविता की तेरी वृद्ध के कारण ही घोडा-बहुत पटा-लिगा प्रत्येक व्यक्ति मुखबर्दी करने लगा था । बोंडेंवीट्ट की राजधानी में जिस किसी भी गली में निक्स जाइये, कवियों की भरमार मिलती । ये कवि माये पर विभूति पाने विराटन धने धूमा करने थे । कविता की यह दुर्दशा देखकर श्रीनाथ ने एक कवि में प्रार्थना की :

"तन पर भसम रमाये,  
सय उत्साह मैवाये,  
पीला मुँह सटकाये,  
गली-गली की ठोकर खाते,  
जिस-तिसमें फटकारे जाते,  
बोंडेंवीट्ट में हुक्के सटकाये तुम,  
यकते हो यह क्या घल्लम-घल्लम तुम ?

१. 'रेड्डीसंचिक', पृष्ठ ८६ ।

तू भी कोई कवि है, क्यों बें गये,  
मुन्धको को तो इसमें सन्देह है ।”

रेड्डी राज्य-काल में मसूत तथा आध्र पंडितों की संख्या घट्ठी गयी थी । परन्तु उनमें से बहुत कम ही कवि ऐसे हैं, जिनकी रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं । हमारा यह दुर्भाग्य ही है कि इन पाँच गी वर्षों के बीच थोनाय की ‘बहु कृतियाँ’, राममुदास की रामायण तथा कुमारगिरि के ‘वनतराजीयम्’-जैसे उत्तम ग्रन्थ नृत्त हो चुके हैं । हम इतना ही जानते हैं कि बाल-सरस्वती राजा धानपौठ राजु का आस्थान-कवि था, और त्रिलोचनाय राजा बेमराजु का । बहूतों की कविताओं के अवशेष केवल शिलालेखों तक सीमित रह गए हैं । हमने सुना मात्र है कि प्रभात भारत योगी नामक कवि ने सुन्दर शामन-दलोक रचे थे । हम इतना ही जान सकें कि कोई कवि महादेव भी था । धानरति के शिला-शासन से हमें पता चलता है कि कविवर अन्नय के पद्यों की शैली परिपक्व है । बाटयवेमु के शामन को त्रिम थोन्नभ कवि ने कविता-बद्ध किया था, उसके विषय में हमें कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है । न जाने और भी जिनको की ज्ञान-विज्ञान-सम्पदा को हम खो बैठे हैं । सुप्रसिद्ध कवि-नम्राट् श्री एरा प्रण्ड थोनाय, बेमन कटि मूरुन आदि रेड्डी राजाघों के आश्रय में ही रहा करने थे । संस्कृत कवि वामन भट्ट बाण ने तेलुगू ‘बेम भूषान चरित्र’ को संस्कृत में भी लिखा था । स्वयं रेड्डी राजाघों ने संस्कृत में व्याख्याएँ तथा कविनाएँ लिखी । राजा कुमारगिरि ने नाट्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ ‘वनतराजीयम्’ लिखा था । पेदं-कोमटी ने भी नृत्य-कला पर एक पुस्तक लिखी थी । ‘साहित्य-चिन्तामणि’ भी इन्हींकी रचना है । नारय बेमन ने कालिदास के काव्यों पर टीका लिखी थी । राजा पेदं कोमटी ने विश्वेश्वर नामक काव्य को एक समय अष्टार के रूप में दान दिया था । पना नहीं, पुरस्कार पाने वाला वह ग्रन्थ बोन-भा था और उसमें क्या लिखा था । कोई बोटु तथा राज महेंद्रवरम् के राजाघों के समान राचकोट के बेचम राजा भी स्वयं

कवि और विद्वान् ग्रन्थ-प्रणेतृ थे और कवीश्वरों तथा मगीतजों का सम्मान करके अच्छों क्क्यानि प्राप्त कर चुके थे । कुछ भानोचकों का कहना है कि रेड्डी तथा वेनमें राजाधो में कुछ-गूँ कवि अथवा ग्रन्थ-प्रणेतृ नहीं थे । यदि यह बात ठीक भी हो तो भी उसमें दोष राजाधो के ज्ञान अथवा प्रतिभा पर कोई आँच नहीं आती । राजकीय राजाधो के दरबार में मस्तिनाथ शूरि प्रधान पंडित था ।

रेड्डी राजाधो के दरबारों में तेलुगू विद्वान् और कलावाद् ना रहने ही थे, भारत के अन्य प्रान्तों तथा राज्यों के विद्वान्, कवि, कलाकार आदि भी बराबर पहुँचने ही रहने थे । ऐसे विद्वानों की योग्यता को परखने तथा उनका यथायोग्य सम्मान करने के लिए कवि सार्वभौम श्रीनाथ को नियुक्त किया गया था । राज-शासन में से कुछेक को श्रीनाथ ने स्वयं भी निगवाया था । फिरगीपुर के गिला-शासन में निग्रा है

‘विद्याधिकारी श्रीनाथोऽकरोत् !’ यर्थात् यह ‘शासन’ राज्य के विद्याधिकारी श्रीनाथ ने तैयार किया है । श्रीनाथ ने अपने मन्त्रय में कहा है

“विद्यापरीक्षण

करते समय

देश-देश के बुधजन

से किये हैं नूने सभायत् !”<sup>१</sup>

राजा मोंग अपनी ज्ञान रखने के लिए माध्याग्नयना उद्दण्ड कविया को अपने यहाँ परीक्षाधिकारी या आस्थान-कवि के पद पर नियुक्त किया करते थे ।

जनकदर बरबारी

परीक्षाधिकारी

एक विप्र की भी

१. ‘भीमेश्वर पुराणम्’, अ० १, श्लोक ७३ ।

मति मारी !<sup>१</sup>

राजा ही नहीं उनके मनीषण भी अच्छे विद्वान् और बहुभाषा-विद् होने थे। अनेकों अनेक मन्त्रों के सम्बन्ध में कहा है :

‘अरबदेश-भाषा, तुर्क भाषा, गजकर्णा,  
आंध्र देश, गांधार देश, ‘घूर्जर’ भाषा में,  
मल्लवानी भाषा, दक्ष-भाषा, बर्बर-भाषा,  
तथा सिंधुसीवीर-भाषा या कर्हारी में—  
भाषाओं के लेखन-पाठन-विनिवेशन में,  
अथवा गोष्ठी-संग्रहों में, संभाषण में,  
अथवा मंत्री दोस्तर की मति विस्मयकर है !  
राजा वंश महोत्तरेन्द्र राज्योन्नति-कामी  
मंतनान्मुदय-काम शाह अहमद हुसैन को,  
पानी लिखी लताम ‘पारसी’ भाषा में जो,  
भाद-बर्ण-वर्द्धति उसकी बर्णनातीत है !’<sup>२</sup>

उस समय तक आंध्र पर फारसी भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। यदि अनेक मन्त्री ने फारसी में धन निष्ठा हो, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। विन्तु अरबी, गांधार, बर्बर आदि भाषाओं के सम्बन्ध में तो उस पद्यान के दावे अनियमित-रूप में ही लगने हैं।

बर्बर अमीरा या उमरी प्रदेश है। तुर्क भाषा में यही तात्पर्य फारसी है।<sup>३</sup> आधुनिक चरित्र में उक्त पद्य के ‘सन्ततान्मुदयकाम शाह अहमद हुसैन’ आदि चरण का पाठानर इस प्रकार है—‘अहमद शानन दान भूमिभृत्’।<sup>४</sup> विन्तु बाम्बन में मुद्रित ‘भीमेश्वर पुराण’ का उक्त पाठ १. ‘मिहामनद्राप्रिप्तिक’, भाग २, पृष्ठ ५।

२. ‘भीमेश्वर-पुराणम्’, अ० १, पद्य २४।

३. तुर्की की भाषा तुर्की नहीं, बल्कि भारत में बाकर ‘तुर्क’ कहलाने वाले मुसलमानों की उन दिनों की प्रचलित सामान्य भाषा फारसी।

—सम्पा० हिन्दी सं०।

ही उपयुक्त मालूम होता है। अहमद हुसैन अथवा अहमदशाह गुलबर्गा या मुल्तान था।

थीनाथ के एक पद्य में सिद्ध होता है कि राजाओं के आस्थानों में बहियों की धाक जबरदस्त थी।

“रे तेलुंगाधीश्वर साम्भराय, अक्षय रे !

सुक विराट् मृगदारक धेणी को कस्तूरी

भिक्ता में दे, जिससे उसके गंध-भार भी

दाक्षाराम चतुर्वय भीमवरवार-बितासिनि

वरगन्धर्वाप्सरो भामिनी सत्तनाओ के

वक्षोज द्वय कुम्भि कुम्भ के करें सुवसित।”

इसमें मन्देह नहीं कि यह पद्य थीनाथ का ही है, थीनाथ राजाओं को इसी प्रकार सम्बोधित किया करता था कि तू हमें दान दे, ताकि हम वेश्या-भोग करें।

थीनाथ ने ही तो लिखा है।

“दाक्षाराम बघूटी,

वक्षोजह मृगमदादि बाधित वित्ततद्वलः कषाद-बांधव,

रक्षाविधिबन्धनगर कृपा जसधि”<sup>१</sup>

“वक्षवाटी ..... गन्धर्वपुरोभामिनी।”<sup>२</sup>

“दाक्षारामचतुर्वय भीमवरगन्धर्वाप्सरोभामिनी-

वक्षोजद्वयगन्धसार।”<sup>३</sup>

इन प्रकार निम्नलिखित थीनाथ ने यदि उक्त ‘गन्धर्वाप्सरो-भामिनी’ भी लिखा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? उन दिनों पण्डितगण अनेक विद्याओं का अभ्यास करते थे। ऐसे पण्डित तो होने हों नहीं थे जो रामायण, महाभारत न पढ़ें हों। थीनाथ के लिए मौर्याण-याणी के

१. ‘भीमेश्वर-पुराणम्’, अ० ३, पृ० २२१।

२. वही, अ० १, पद्य ६०।

३. काशीलखण्डम्, अ० १।

कवियों में से कालिदास भट्ट, बाण, प्रवरसेन, हर्ष, नान-निब-भट्ट-भीमिल्ल  
मेल्ल, माध, भारवि, विन्दर मन्दर भट्ट, चित्तव, कवि दण्डि आदि  
विशेष आदराभिमान के पात्र थे ।<sup>१</sup> श्रोताय ने मुरारि की वही चर्चा  
नहीं की है, फिर भी मुरारि के समानों का प्रयोग प्रचुरता से किया  
है । आन्ध्र भाषा के कवियों में उनके लिए नग्न, निहन्न, वैमुनवाह, भीमकवि, एरा प्रगडा आदि प्रमुख हैं ।<sup>२</sup>

श्रोताय कवि-मार्कभौम "अग्रहित ब्रह्माण्डादि महापुराण-तात्पर्याय-  
निर्धारित-ब्रह्म ज्ञान कृतानिधानमु" के विरुद्ध में भी विमूषित हुए थे ।<sup>३</sup>  
डिटिम कविमार्कभौम-जैसो को पराजित करने वाला श्रोताय सचमुच  
किनने मारे शास्त्रों का ज्ञाना रहा होगा, यह सहज ही अनुमान किया  
जा सकता है । उस समय की कुदृष्ट प्रचलित विद्याओं का उल्लेख  
उन प्रकार मिलता है :

"अवनिनाथ यह सुधा अष्टभाषामापी है  
रचता है आठों में सरस चित्रकविताएँ  
मधुर आशु-विस्तर, जिनको सुन सरस्वि बरबस  
बाह-बाह कर उठें, वेद-वेदांग-शास्त्र में  
पारंगत है, सबस-पुराण-ज्या अवगत है  
जो भी चाहें पूछ देखिये, भट्ट कह देगा,  
नूनन रीति-विधान धानु-विभ्रम का करता,  
रसों और बलों का अद्वितीय कोशली,  
अग्रधानी भाषावित्तानी को न लगाना  
अपने पारंग में, बिनक में गौतमादि श्रुति,  
इसने साने मात, इसे परदाह नहीं है !"

"... अग्नं यजुम् साम, अथर्वण आदि वेदों, शिक्षा-कल्प-ज्योति-निरुक्त

१. 'भौमेश्वर पुराणमु', अ० १, पद्य ७ ।

२. वही, अ० १, पद्य २३ ।

३. 'भृंगार नैपथ्यमु', कृत्यादि ।



व्याकरण-छन्द-मीमांसा आदि तत्त्वावबोध में ब्राह्म, शैव, वैश्य, वैश्य, भागवत, भविष्यन्, मारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, ब्रह्म-कवर्त लेख, वाराह, स्कान्द, वामन, गौतम, गारुड, मातस्य, वसयथ्य आदि महापुराणों में, नारसिंह, नारद, शिवधर्म, महाेश्वर, बालव, मानव, ब्रह्मा१३, वारण, कालिका, साध्व, सौर मारीच कूर्म, ब्राह्म-भागव, सौर-वैश्य आदि समस्त उप-पुराणों में भी ".... इसका मूलो-भाति प्रवेश है ।"<sup>१</sup>

उक्त शास्त्रों और पुराणों में से कितने पिटें, कितने बड़े यह जानना भी आज कठिन है ।

उन दिनों राजा-महाराजा 'अश्वमी-उत्सव' बड़े समारोह के साथ मनाया करते थे । इस अवसर पर वे महान् उदारता से बलवानों को दान-गुरगुरार आदि दिया करते थे ।

"कथा अवति-अवनीपति, कथा पाथिव रजवाड़े

सश्वी-उत्सव आदि समस्त प्रशस्त वर्ष पर

सत्कवियों, गायकों, नटों पाठकोत्तमों का,

करते हैं समृद्ध विविध संभव दे-देकर ।"<sup>२</sup>

कवियों को प्राप्त होने वाले 'विविध संभव' का वर्णन श्रीनाथ ने इस प्रकार किया है "सत्कवियों को रत्नाम्बर, कस्तूरी, हेमपात्राभन बैनिक खर्च इत्यादि प्राप्त थे ।"

'वर्णा श्रुति' ३-२६ में श्रीनाथ ने एका ब्राह्मण की योग्यता का वर्णन इस प्रकार किया है ।

"मथुरा नगर में शिवशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था । उसने छेवों का अध्ययन करके उनके ग्रंथ सभ्यकर, धर्म-शास्त्रों का पठन करके, पुराणों पर अधिकार प्राप्त करके, तर्क-शास्त्र का अध्ययन करके, मीमांसाद्वय का मनन करके, धनुर्वेद का अध्ययन करके, नाट्यवेद का अवबोध प्राप्त करके, धर्मशास्त्र पर अधिकार प्राप्त करके, ग्रन्थ-शास्त्र का

१. 'वीक्षणपुराणचरित्रम्', अध्याय ६, पृष्ठ १२-१३ ।

२. 'सिंहासनप्रविशिक', भाग ३, पृष्ठ २७ ।

ज्ञान प्राप्त करके, भाषाओं तथा लिपियों का अभ्यास करके यथेष्ट धन कमाया।"

राजा-महाराजा स्वयं भी साहित्य के साथ, विशेषकर संगीत तथा नृत्य-शास्त्रों का भी अभ्यास किया करते थे। नरेशों द्वारा लिखे हुए शास्त्र तथा व्याख्याएँ स्वयं ही इसके प्रमाण हैं। इसके अनिरिक्त उनके लिए अश्व-शास्त्र, गज-शास्त्र, राजनीति और युद्ध-नीति के विषय तो प्रधान थे ही। राजनीति पर सस्कृत में यथेष्ट ग्रन्थ उपलब्ध थे। मडिकि मिगनें ने तेलुगू में एक ग्रामाण्डिव ग्रन्थ 'सर्वज्ञानीतिसम्मतम्' लिखा, जिसमें उसने तेलुगू के अनेक नीति-कवियों के उद्धरण दिये हैं। किन्तु उनमें से अधिकतर कवियों की इतर रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं।

संगीत तथा नृत्य-शास्त्रों पर कुछ ग्रन्थ तो स्वयं राजाघों के ही लिखे हुए हैं। राजा कुमारगिरि ने 'वसंतराजीयम्' नाटक लिखा था। उसकी केश्या लकुमा देवी उस नाटक को मचस्थ करके भी किया करती थी।

"जयति महिमा लोकातीत कुमारगिरि प्रभोः

सर्वति लकुमादेवी यस्य प्रिया सहस्री प्रिया

नवमभिनयम् नाट्यार्थिनां तनोति सहस्रधा

वितरति बहूनार्थानि यथाय सहस्रशः।"

न जानें ऐंगी कितनी ही लकुमा देवियाँ बाल के गर्भ में विलीन हो गईं।

मुगलमानों के प्रभुत्व से देश में फारसी नृत्य का प्रचार हुआ और लोग उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। यह देखकर पेरों कोमटी ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में फारसी नृत्य की भी स्थान दिया। उसने इसे 'मसल्लि भर्तन' यानी विमाता-नृत्य का नाम देकर इसका वर्णन एक नवीन नृत्य के रूप में किया है।<sup>१</sup> जन साधारण में और भी अनेक नृत्य प्रचलित थे। उनके सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

१. 'हिस्ट्री ऑफ रेड्डी किट्टम्मा', पृ० २८२।

मगीत में रोगी को 'जतिग्राम' का विधान बहुत पसन्द था।  
'श्रीडाभिराम' लिखता है -

"द्रुत तान के संग-सग बोर-भुंभो रंग  
गम्भीर तर्क-धुम-धुम-धुम-कट-कटाकार  
संगन बजे सांतरातिक 'यतिग्राम'  
ग्रामो में अभिराम, स्वर-तान-सम्भार !"

'जति' इसी 'यति' का तर्जुम है। 'यति' तथा 'ग्राम' स्वर के विविध भेद हैं।

रेड्डी श्रीर वेलम-नरेशों ने बड़े-बड़े दुर्गों, मन्दिरों तथा अपूर्व भवनों का भी निर्माण करवाया। बौड बोटु के बिले की गिनती देश के महान् मण्डवी दुर्गों में थी। उसके अन्दर बहुत मारे महल बने हुए थे। उन्हीं में एक 'गुहराज' था, जो 'एव स्लम्म-गृह' के नाम से प्रसिद्ध था। इसके खड्गों का लोग आज भी 'गुजरान' के नाम से याद करने हैं। भानुपति गिनालेय से प्रतीत होता है कि उन्होंने 'श्रीश-मरोवरों' तथा 'बेलि-गृहों' का भी निर्माण करवाया था। इन बड़े-बड़े मरोवरों में इन रेड्डी-वेलम नरेशों ने भी मुमकमान बाइगाहों की तरह नीला-बिहार किया होगा। कुमारगिरि रेड्डी राजा ने तो निश्चय ही इसका भानन्द लिया होगा। बौड बोटु में मोनिया घेना की वह बहार थी कि लोगों में यह प्रसिद्ध हो गया था कि बड़ी मटफो पर पत्नीर (बुलाय जन) का मिहाराव किया जाता था। यह कोई मुनी या बड़ी बात नहीं है। जिन लोगों ने स्वयं देखा था, उन्हें नि जैसा मूमा-ममभा गा-बजाकर सुनाया है। उन राजाओं का शासन जनसाधारण को अत्यन्त प्रिय था। सबमुन उनकी जनता के मुख और मीसाय की बहुत ही चिन्ता रहती थी। इसका बुद्ध अनुमान नीचे के इस गौर-गीत से लगाया जा सकता है, जो लेखक को प्राप्त हो गया है

"रेड्डी चापे, रेड्डी चापे, रेड्डी चापे री माई !

बीरभद्र रेड्डी चापे री माई !

भोर-पहर करवाते गांव की सफाई,  
 झगर-झगर पर पानी छिड़कावें  
 गलियों में गोबर के छींटे दिलावें  
 घर-घर कुम्हारों पर हल्दी लगवावें  
 हल्दी लगवावें, कुं-कुम सपवावें  
 सौ-सौ रंगोलियों में दीभा बड़ावें  
 घर-घर कुम्हारों पर तोरण सजावें  
 तोरण सजावें, बन्दनवार भावें  
 रातों की हाटों में दीये जलावें  
 करते हैं गांव का भवो भानि पासन,  
 धूप से बचाने की दत्तवाते द्वाजन,  
 पेड़ों-सीपों की करवाते हैं काट-छांट  
 ठाढ़वार रखते हैं हाट, घाट, राह-बाट  
 गांव के कुम्हों की उड़हवाते साल-साल  
 पूनों-के-पूनों पानी में सून-सून डाल  
 रेड्डी धाये, रेड्डी धाये री माई !”

(हर पूर्णिमासी के दिन कुम्हों में नमक-नूना डालकर पानी की छून मारी जाती थी ।)

इसमें इतना तो स्पष्ट है कि रेड्डी-राजा प्रजा-जन का परिपालन करते थे, उनके प्रीति-भाव थे, उपयुक्त सदन-जन-अनुरक्त कार्यों के अनेक-विध प्रदान किया करने थे । न जाने ऐसे कितने ही लोक-मीन धीरे-धीरे घनाहत होकर लुप्त हो गए होंगे । जो कुछ जानकारी हमें प्राप्त हो गयी है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रेड्डी-युग की कला ‘नवारी दरजे’ की थी ।

### प्रजा-जीवन

भाइये, अब हम इस बात पर विचार करें कि उन दिनों लोगों का

पहनावा कैसा था, आचार-व्यवहार कैसा होता था, विचार बिग प्रचार के थे ।

माधारणतया लोग धोती पहनते थे । रायल गीमा के छन्दर गूढ़ लोग चट्टी अथवा जॉयिया पहनते थे । बन्धे पर चादर और सिर पर गोल साफा माधारणतया सभी रखते थे । कुछ लोग तुर्रदार साफा भी बाँधते थे, जिसे यहाँ रमास कहते हैं । अधिकतर लोग कमर में चार अंगुल चौड़ी और आठ-दस हाथ लम्बी पट्टी की एक पेंटी या पेंटा बमने थे । अंगी, अमरसे आदि भी उन दिनों होने थे, पर उनका रिवाज कम था । अँगरवा पाँच तक लटका हुआ लम्बा हुआ करता था, जिसमें बन्द लगे होते थे । कवियों ने मित्र-भिन्न धृति दोनों के पहनावों के सम्बन्ध में लिखा है ।

“इतने में हुआ महावीर आया समझः

बह धजा !—खुले-बे-खुले रह गए सकल धनु

हंसक या बाएँ पाँच, जमेऊ-सी पटकी

कंधे से बटि तक कस घघनले रोगम की,

या अङ्ग-अङ्ग से लेख मलयगिरि चन्दन का,

बस्तूरी का टोका माथे पर तिलजित पा,

सिर पर या कर्तगीदार मुरंठा, छेवेयक—

घोवा से लटक झूपता था हनुमन्त-पदक !

पीछे-पीछे भाई जयलक्ष्मी हंस-गजन,

मुखबानि न जिनकी ठक पाते थे अवगुण्डन

असम थे चित्र बिनारी बानि धूम्रधट पट !”<sup>१</sup>

धीमाय ने मोरम देश का वर्णन किया है । मल्लय गल्ली ने अपने ‘वेड्डा राज्य परिच’ में कहा है कि मोरम देश मैमूर प्रान्त का ही नाम था । परन्तु श्री वेड्डरि प्रभारर नाम्नी ने चन्नूल के पयरीले प्रान्त का मोरम माना है ।

१. ‘सिंहासनद्वारिका’, भाग २, पृष्ठ १०८ ।

मोरम राज्य मैमूर प्रान्त ही है । थीनाय मैमूर प्रान्त में स्थित गये थे । सम्भवतः यह वहाँ का व्यम्बपूगुं वर्गान है :

“सिर पर बाँकी पाग  
कमर में बाँकी ही तनवार  
सन पटुए की साग  
ज्वार की संस्टाप्र जेवनार  
तन पर भँसा बसन  
बितेरी को बाँकी बितवन  
घटपट पहिरन  
झोर बँतुका भापए-सम्भापए !  
बँसा सिरज गया है मोरस  
हाथ रंक बरतार !”

विजयनगर-राज्य की दरबारी पोशाक विचित्र टंग की होती थी । पैरों को बँधना हुमा चोला, गले में एक लपेटा झोर सिर पर एक लम्बी-सी टोपी, जिसे ‘कुल्नाद’ कहते थे । ऐसी पोशाक के दिना दरबार में जाने की मनाही थी । थीनाय को भी जब किसी कार्यवश दरबार में जाना पड़ा तो उसे यह दरबारी पोशाक पहनी पड़ी ।

कुल्नाद देसी वेप है अथवा विदेशी मुमनमानों का अनुकरण, यह बताना कुछ कठिन है । कुल्नाद की लम्बाई लगभग हाथ-भर की होती थी, और शकल ऐसी होती थी मानो मिश्री का पूटा उमटकर रखा हो । उस समय के अतिमा रामराज्य आदि के चित्र देखने में इन कुल्नादों के आकार-प्रकार का कुछ अनुमान हो सकता है । कुल्नाद समय में फारसी का कुलाह है । ‘टोपी’ शब्द पहने नहीं था । ग्रान्थ-साहित्य में ‘टोपी’ शब्द पहने-पहन विजयनगर के पवन के बाद भट्टमूनि की रचनाओं में मिलता है । टोपिका शब्द का प्रयोग पहने-पहन चालुक्य गोमेश्वर ने अपनी पुस्तक ‘अभिनिपिनाये विन्तामणि’ में किया है । निम्ना है कि राजाघों के पहनावे में टोपी मुख्य वस्तु है ।

बेलघें नरेशों के यहाँ भी दरबारी पोशाक अनिवार्य थी। मन्त्रिनाथ मूरि एक बार, शायद पहली बार, अपने साधारण वस्त्रों में ही राज-दरबार में गये थे। विन्नु दरबान ने उन्हें भीतर जाने में रोक दिया था। इन पर उन्होंने कहा था -

“एक दाहणा चकरटिकरेण  
कि वासना चोकिरिवाकिरेण  
सर्वजभूपालविलोकनायम्  
वैदूष्यमेकं विदुषां सहायः।”

‘शून्नार श्रीनाथ’ में निम्ना है कि यही बात कोनाचल पेड़ी भट्ट, ने भी कही थी।

नेलमान के अन्दर रामानुज सम्प्रदाय के नियोगी ब्राह्मण गोलकांश व्यापारी कहलाते थे। इनको वेद-भूषा के सम्बन्ध में श्रीनाथ ने निम्ना है -

“इमली के बीजों की लेई,  
‘दम्बा’ कलम और दावाले  
लिये, मंस से चीकट काढ़े  
बदलू से घेंतरह गन्धाते,  
अन्त-व्यस्त बड़ी मुण्डे पर  
दाढ़ी से दोधन भयकर  
कीन क्रूर व्यापार भला  
होगा इनका ? हम बंग देखकर !”

‘दम्बा’ करने का कहते हैं। फारसी या ‘दण्डर’ की नेलुगु में ‘दम्बा’ या ‘दम्बरमु’ बन गया है। अभी हाल तक नेलमान में योग की शाय-भर मन्वी पोड़ी में गावगड़े की वनमें भरे रहने थे। योग की उम पोड़ों के तीन छेदों में वे तागों के गाव पोन्नग या तारि की दाखत सटवर्ती रहता थी। योग ग्याही थाग हो बना दिया करने थे। (गोबर-गानी और वीर्यन में मेकर नेल के वाजम, बहार्द में गने थाग या शोरे के १. वागसा ?—(सम्पा० हि० सं०)

माय तरह-तरह की स्त्रियाँ बनती थीं।) वनम को लोग ममभने हैं कि यह भी फ्रांसीसी शब्द है। पर संस्कृत में 'वन्म' का प्रयोग लेखनी के ही अर्थ में पाया जाता है।

खैर, और तो और, इन पटवारियों के "मुखड़े पर अस्त-व्यस्त भयकर दाढ़ी क्यों?" ऐसा तो नहीं था कि मुमलमानी दूकानों में मुलतानों का अनुकरण करके सभी सरकारी लोग दाढ़ियाँ बढाने रहे हों?

साफे की जगह रमाल का बण्ड भी वही-वही मिलता है। 'रमाल' ही तेलगाने में 'रमाल' हो गया है। रमाल तो मुँह ढोने का लता है, पर तेलगाने का रमाल बड़ा होता है, रमीन लुगी की शक्ल का होता है, चौड़ाई लुगी जैसी ही होती है, पर लम्बाई में चौड़ाई के बराबर के चौरमा में लम्बाई जितनी दरवार हो उतनी ली जा सकती है, इसीको रमाल कहते हैं, जिसे मिर पर साफे की जगह लपेटने और शरीर पर चद्दर की तरह ढोने हैं या फँशन-मा कंधे पर टाल लेते हैं। अब यह कम हो रहा है। वरन् यही सब बण्ड उम तेनगाने का है, जो मुमलमानी घर में पाया था।

एक गढ़रिये का बण्ड मुनिजे—“मिर पर साफा, कमर में बाँसुरी, कंधे पर कुल्हाड़ी, मिर से पैर तक लटकता हुमा वाला बम्बल, गले में मनको की माला, हाथ में बाँस की लठियाँ, कमर में कमर-पट्टा, हिरन का सींग, जालीदार छीवा और साथ में रखवाने कुत्ते।”<sup>१</sup>

गढ़रिये मुरगे की पहली बाँग के साथ उठते, सायियों के साथ जुटकर दोरों की नाम ले-जेकर पुकारने, दूध दुहने, उमे नगरो को भिजवाने, फिर रेवड और दोर-डगरो की लेकर जंगलों में खराने चले पड़ते। चारों ओर जंगली जानवरों से बचाकर साँभ तक उन्हें घर लौटा ले जाने। बाढ़ों के मरने पर भी दूध देने रहने के उपाय और पेट में ही बच्चा मरने पर दवा करना वह जानते थे। इसी प्रकार पशुओं के बीमियों



नाम, उनकी दवा-दारू और मन्त्र-मन्त्र की विधियाँ भी प्रचलित थी।<sup>१</sup>

उन दिनों रई धुनने वाले धुनों की भी एक अलग जाति थी। आज सभी धुने मुमलमान हैं। न जाने तब क्या थे? इन लोगों ने अपना धर्म पायद टीपू मुल्तान या औरंगजेब के समय बदला है। धर्म बदलने पर भी उनका पेना नहीं बदला। उनकी योग्यता भी रई धुनती थी।

श्रीनाथ ने पिजारिन की प्रशंसा में कहा है

“उरबी के उर पर कापसि का पवंत है

पिजारी तरुणी उसको धुनने में रत है !”

बुन्देले तेलुगू देश में बोंदिसि कहलाते हैं। ग्राम्य-वर्नाटिक मेलापों में बुन्देले मंत्रिकों की भरती प्रचुर मर्यादा में हुई थी। फिर ये यही बम गये। उनकी स्त्रियों में पण्डे की प्रथा थी। श्रीनाथ ने बुन्देली स्त्री का वर्णन यों दिया है

“सरसी की तरंगमाला में बालकूम से

तैर रहे हैं पंर ‘गागरे’<sup>२</sup> की चुगल में

रंगीली; बोंदिसी भामिनी छली; मुलांजुज

छोट किये कर-कजों से धामे छूँछट में !”

तब और धव की बोंदिसी स्त्रियों की (जनाती) वेग-भूषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। नाक में नथ, कमर में पट्टा और उममें टोंके घुँघरू और जजीरो की मटकन, पैरों में ‘घदे’ (नूपुर, भभिन्), गले में तिलहे हार (त्रेसर), बलार्ड पर बगन, कानों में ताटक (पलंगूल), नाक में मुक्कन (रत्न-वेसर) इत्यादि गहनों की सामान्यतया सभी बोंदिसी स्त्रियाँ पहनती थी। किसी कवि ने एक वागलनाट की मुखर्ती का वर्णन यों किया है :

१. नवनाथ, पृष्ठ २६-२७।

२. ‘गागरे’ अर्थात् सहंगा। (‘घाघरा’—स० हि० सं०)

“अन्नी की नय, मंगल-मूत्र अघन्नी का  
पंमे को भी महंगा कर्णफूल फोका,  
पाई को भी पूछ न जिसकी, वह मोती  
तन पर मेल-भरी चौकट-भी है धोती,  
आली सकुशानी शरमानी पनघट पर  
कासतनाही कनकांगी चंगना मुघर !”

गहनों के धारे में बटुन मारी कविताओं में उल्लेख है। जैसे एक यह है कि :

“उछल रहा अघराघर पर  
हुरमुञ्गी मोनो का बेतर !”

इस प्रकार की बटुनेरी कहावतें भी हैं। काजल उन दिनों प्रायः सभी स्त्रियाँ लगाती थीं। विवाह के बाद विदाई के समय मानाएँ जब अपनी बेटियों के दामन भरतीं, तब उमम काजल-भरी एक डिबिया भी अवश्य ही रखतीं। ‘बगार चीर’ (मुनहरी माडी), ‘कुमुमाचन’ ‘चन्द्रिका-चौली’, ‘यमुना चौली’ इत्यादि उनके कपड़े हूमा करने थे। ‘गागरा’ या नहंगा तो केवल बुढ़ेनी स्त्रियाँ ही पहनती थीं। और बुढ़ेने सभी पूरे नेलुगू नहीं बन थे।

दाक्षारामम् और भीमवरम् की बेटियाँ प्रसिद्ध थीं। ये मुन्नूर जाति की होती थीं। पैद-मुन्नूर और चिनमुन्नूर इनकी दो उपजातियाँ थीं।

“दक्षारामाधिपति भीमनाय को  
प्रदत्तद्वयशारवामा-जन साथ में  
अवनिनन भेंट किया देवनाय ने !”

अर्थात् राजा भीमनाय की बनीय बेटियाँ थीं।

रहने-महने के धरो के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा मिलती है :

“जिते भर की तो कुटिया, उसमें भी दोरों के दस-बस  
गिजबिज, धन, कीच, गोबर की ढेरी, फटे-बिटे पतत,

१. ‘भीमेश्वरपुराणम्’, अ० १, पद्य ८४।

बासी भात, बाल-बच्चों का मत, भले कपड़े-जुते,  
गन्दे बालों वाली रॉडें, ईपन के डंठल-पत्ते  
जहाँ-तहाँ पर डेर, हाँडियाँ कातिल-पुत्री रसोई की,  
घरे, पुरोहित के घर का तो नाम भूम मत लेना जी !"

यह भाग्य शास्त्र का वर्णन तो खर है, पर पूर्वी जिलों के ब्राह्मणों का नहीं हो सकता । गोदावरी, कृष्णा आदि के डेल्टा में, विशेषकर रेड्डी-युग में, ब्राह्मणों की ऐसी दशा तो हरगिज नहीं थी । निश्चय ही यह पल्नाडि नीमा का वर्णन है । जब पुरोहित ब्राह्मणों के घरों की यह दशा थी, तो कंगाल झुंडों की भोवटियों की क्या दशा रही होगी ? पल्नाडि में तथा कर्नूल, धनन्तपुर, बन्वारी आदि के बहनेरे भवनों में आज तक एक कुराई यह नहीं आ रही है कि लोग धपने रहने-महने के घरों के छन्दर ही पशुओं को भी बाँधा करते हैं । तिस पर तुरी यह कि घरों में बिडरियाँ भी नहीं होती । न जाने चारों के डर से या कि क्यों, बिडकी का रिवाज इधर कभी रहा ही नहीं । राज-भवनो में भी गिट-किपी बिरल ही रही होगी । हाँ छतों में 'पवाश' (रोगनदान) जग्न होने थे । उन्हींमें हवा और प्रकाश छन्दर आने थे ।<sup>१</sup>

घर तो क्या थे, मानों चारों ओर में बन्द बन्दे होते थे । गंधका एक ही जगली नमूना होता था । फिर उन्हींके छन्दर पशुओं का बागा भी हुआ करता था । घनी लोम धनवला पशुओं की गोट-धनग बनवाने से और धपने रहने के घरों को 'चतुर्दशाना भवन' बनाने थे । सामान्यतः बाहर गट्टपाल (बरामदा), छन्दर जाने पर चारों ओर चार बड़े-बड़े दो-मुँहे दानान, बीचों-बीच सच्छा चौटा रोगनदान और दानानों के चारों कोनों पर कोटरियाँ होती थी । रसोईघर और स्नानघर धनग होने थे । ऐसी 'भवन' के बाहर बाने धागिन में चार-दीवारी में बस पाटक होना था और गिटवाने में एक गिटकी होती थी ।

फिर वास्तु-शास्त्र के नियम बने । छत की पल्ली बहियाँ बिरली न

१. 'भोजनानगर-पवाश-मार्गधुन वेदति'—वासीरुंइधु ।

कटे, दग्गाड़ों की नुस्खा बिपन न हो, इत्यादि-इत्यादि । रतोईघर प्रायः पूरव की दिशा में रखा जाता था । घर की नींव रखते समय और घर तैयार होने के बाद स्थानि के लिए ब्राह्मण को बुलाकर मन्त्र-पूजा आदि के नाम 'पुष्पाह्वाचन' आदि कराये जाते थे । शांति के लिए मन्त्रन्धियों तथा गरीबों को मचिकर भोजन कराया जाता था । घर को पशुओं की बलि भी दी जाती थी । दीवारों में जगह-जगह धलमारी-नी 'भइगु' बनाई जाती थी । घर के अन्दर मिर में जरा ऊपर छत के नीचे लकड़ियों के तलों को झटारियाँ बनती थी । "दिन-भर बाहर रहकर रात के समय कुछ मनुष्य अपनी घर की झटारी में पड़ जाते ।" ऐसी और भी उबिनमाँ जहाँ-जहाँ प्रबन्ध ग्रन्थों में पाई जाती हैं ।

छत में हाथ-भर नीचे लम्बे-लम्बे बाँस धाड़े-धाड़े बाँध दिये जाते थे, जिन पर सूखने के लिए कपड़े फँलाये जाते थे । उन्ने 'दडेमु' कहते थे । "दंडम पर लटकाया हुआ स्वर्णहार कंधों से लगने पर उन्ने उतार लेते ।" १

राज-प्रामादों के निर्माण का ढंग इसमें भिन्न होता था । बाम्नु-शास्त्र के अनुसार सर्वतोभद्र, म्बस्मिक, पुष्पक आदि नाम गृह-निर्माण के विविध प्रकारों के हैं । राजाघोंग अपने प्रामादों तथा दरबारों के अलग-अलग शुभ नाम भी दे रखते थे । कृष्णदेव राय के मन्ना-भवन का नाम 'भुवनविजय' था । बीरभद्र रेहो का सोय 'त्रैलोक्य-विजयमु' कहलाता था ।

श्रीनाथ ने लिखा है :

'त्रैलोक्यविजयानिर्द्वैत सौषुंबु

चन्द्रशाला प्रदेशंबु ।" २

ममर की भाष घाटियों में होती थी । दिन की तोम और रात की

१. 'केयूर बाहुचरित्रमु', पृष्ठ २३६ ।

२. 'मिहासनशास्त्रिक', भाग २, पृष्ठ ८८ ।

३. 'काशिकाश्रंभमु'—इत्यादि ।

तीस कुल साठ घड़ियाँ होती थीं। राजमहल के फाटनों पर घड़ियों के घंटे १ से ३० तक बजाये जाते थे। लोग इसीमें समय का घन्दाजा करते थे। शादी-ब्याह आदि शुभ कार्यों के अवसरों पर नगरों के निवासी राजमहल की घड़ियों का बजना सुनकर ही अपने मुहूर्त किया करते थे। गांवों में जहाँ घंटे नहीं बजते थे, वहाँ पुरोहित ब्राह्मण 'गडिय-कुटुका' (कटोरि-पट्टी) का प्रयोग करते थे। इन घंटों वाली कटोरियों को पानी में छोड़ा जाता था, क्योंकि पानी भरने पर कटोरियाँ हूँक जाती थीं। यस इसी पर मुहूर्त होता था और पुरोहित जी 'जयघण्टी' पर अशत डालते थे

“उत्सवानंद-रस में निमग्न  
थे लोग, ध्यान से समय साग्न  
के शुभ-समुदय के सूचक उस  
साधक घटिका के ससित-मग्न  
होने की बात जोहते थे,  
पथो ही हूँकी, जय-घंट बजे  
मंगलाशौच-धन-पुस्तक-रम्  
अशत उन पर डाले सबने  
सुमुहूर्त हुआ।”

“बजा गजर :

सूर्यनाद से दिशाकाश भूँजे सत्वर,

उमड़ा विद्वजनों के वेद-पाठ का स्वर।”<sup>१</sup>

“हूँक गये पहराज जलधि में ‘गडियकुटुका’ से।

बुरबुर साजा के समान तारागण क्षिपरे।

होमशक्ति की सान-साल ली से जय जयमय

निशा-सती का पालिघहल द्विजराज ने किया।”<sup>२</sup>

१. ‘भोजराजोद्यम’, अ० ४, पृष्ठ ६२-३।

२. ‘महात्मनः इतिहास’, भाग १, पृष्ठ १०२।

इसी प्रकार अन्य समकालीन कवि भी कई विशद वर्णनाएँ छोड़ गए हैं।

### सहगमन अर्थात् मती-प्रया

दक्षिण भारत की यह कोई प्रथा नहीं है। यह तो उत्तर में ही दक्षिण में उत्तरी है। जहाँ-जहाँ मुसलमानों का अत्याचार अधिक रहा वही-वही यह प्रथा अधिकारिण फैलती गई। इसका जोर तो विशेषकर काश्मीर, पंजाब और राजस्थान में ही रहा। बाद में यह बंगाल में भी पहुँची थी और वहाँ भी इमने खामा जोर पकड़ लिया था। दक्षिण में इमने काबलीयों और रेड्डी राजाघोरे के समय प्रवेश किया और सती होने की इक्की-दुक्की घटनाएँ यहाँ काफी भरने तक घटती रहीं।

'महात्मन इतिहास' में एक कहानी घाती है। एक मैनिक् गपनी स्त्री को राजा के आश्रय में रखकर स्वयं युद्ध में भाग लेने कुछ ही दूर गया होगा कि कोई शक्ति उसे आकाश में उठा ले गई और मोड़ी ही देर बाद आकाश में उसके हाथ-पैर आदि अवयव टूट-टूटकर घरती पर गिरने लगे। मैनिक् की पत्नी ने उन विचित्र अवयवों को इकट्ठा किया और उन्हें साथ लेकर बिना में 'सहगमन' करने का निश्चय किया। राजा ने उसे रोकने की बहुतैरी चेष्टा की, परन्तु बार-बार समझाने पर भी उस स्त्री ने न माना। अन्त में राजा को भी राजी होना पड़ा।

यदि 'सहगमन' उन दिनों यहाँ का साधारणतः होता तो वह स्त्री इतनी त्रिद करती ही क्यों, और उस धर्म-पान्थ राजा को उसे इतना रोकना ही क्यों पड़ता भला? 'सहगमन' के अवसर पर उस स्त्री के इतना लम्बा-चौड़ा भाषण देने का भी फिर क्या प्रयोजन था? निश्चय ही यह यथा मती-प्रया के प्रचार के लिए गयी गई है। उस मैनिक्-पत्नी ने जो तर्क किये थे, उन्हें यही पर उद्धृत करना उचित होगा :

“कुल में होगी दुर्गति;

रक्ष सदा अनुभाति

रखनी होगी; मुवा-पान तक सपना होगा;  
 तरस-तरस गहनों को,  
 तज सखि-मुहागनों को,  
 हर मंगल के समय चलन रह सपना होगा;  
 रूप-गंध-भर सुमन  
 कभी ये केस अविषकल  
 पहन सकेंगे नहीं; रौंड़ धन जीना होगा;  
 जहाँ जायें, दुतकारें,  
 कटु तानों की मारें  
 सहनी होंगी, घूँट तह का पीना होगा !  
 जीना नहीं, न मरना,  
 बहना नहीं, न तरना,  
 भीतर-भीतर एक भाग सुलपा करती है ।  
 सब विधि यही उचित  
 कि चिता को देह समर्पित  
 करूँ, कि ऐसों के पुन गाती यह भरती है !”

‘मती’ का यह पौराणिक आग्र-देश में कभी अपनी जड़ें नहीं जमा सका था । ऊपर के पद्यों में विधवा की विरासतों का साग वर्णन किया गया है । श्री सान्तपत्नी मोमसेवर शर्मा ने अपने ‘रेड्डी राज्य चरित्र’ में ‘पेरटानु’ का अन्वयार्थ ‘मती’ किया है । किन्तु यह ठीक नहीं है । यह शब्द ‘मुहागन’ के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । ऊपर उद्धृत पद्य में भी ‘पेरटबुलनु पोर नोरमि’ (तज गमि-मुहागनों को) वाले अंश में ‘पेरट’ शब्द है । यहाँ ‘पेरटानु’ या ‘मती’ का अर्थ ‘मुहागन’ ही हो सकता है, पनि के शव के साथ जल मरने वाली नहीं । दमने निम्न होगा है कि विधवा स्त्रियों की विवाह आदि शुभ अवसरों पर बुलाया नहीं जाता था । विधवाओं की गहना पहनायी थी और उनकी विरासत भी

१. ‘निहागनट्टात्रिशिक’, भाग २, पृष्ठ ११० ।

संस्मृतीय थी। फिर भी 'मती' (पति के साथ जल करने वाली) बहुत कम होती थी। जो 'मती' होना चाहती भी थी उन्हें समाज रोकता था। एक पाश्चात्य यात्री निक्कोलाकोट ने लिखा है कि, "द्वितीय देवराव की १०००० स्त्रियाँ थीं। राय के मरने पर कम-से-कम ३००० तो मती हो गई।" उनमें लिखा है कि "मती की प्रथा विजयनगर राज्य में खूब फैली हुई है। सती को पति की चिता पर जीवित ही जला दिया जाता है। कुछ लोग पति के माथ पत्नी को जिन्दा दफन कर देते हैं।" फिर भी यह कहा जा सकता है कि सती की प्रथा यहाँ मूल साधारण में नहीं थी, केवल उच्च कुलों में ही कुछ-कुछ थी।

लोग अनेक प्रकार के मद्य अनेक प्रकार से स्वयं तैयार कर लेते थे। प्राचीन कवियों ने गोडी, पैटो, माघवी आदि का वर्णन किया है। उनके अनिरिक्त रेड्डी-युग में कुछ और भी नाम मुने जाने हैं। एक जगह वर्णन मिलता है :

"एक बार कुछेक सुन्दर बर्कि युवकों ने पान-भोष्ठी का आयोजन किया। उन्होंने 'कादंब', 'माघव', 'ऐशव', 'क्षीर', 'आसव' 'वार्य', 'रतिफल' आदि भूल-स्वप्न-कुसुम-फल-सम्भव बहुविध सुरापाक भेदों का मधुर मधु-विशेषों तथा परिपल-द्रव्यों के योग में स्वादिष्ट तथा सुगन्धित बनारर पृथक्-पृथक् सुन्दर पात्रों में भर रखा।"<sup>१</sup>

इन मद्यभेदों में 'माघव' मद्य की दारू का नाम रहा और होगा, ऐशव गन्ने की दारू का। आसव साधारण रूप में आयुर्वेद की रीति से बने जड़ी-बूटियों के मद्य-द्रव्यों को कहते हैं। कादंब, क्षीर, वार्य, रतिफल आदि पदों की व्याख्या निघटुओं में नहीं मिलनी।<sup>२</sup> इन शराबों की जड़ी-  
१. 'मिहासनट्रात्रिक', भाग १, पृष्ठ १०३।

२. कादम्ब सम्भवतः 'कादम्बरी' को ही कहते रहे होंगे। 'कादंबे जाती रसस्तं रानि कादंबरी'; कादंब के रस से बनी शराब को। 'क्षीर' दुधो घमया खोरी की शराब रही होगी। दूध की भी हो सकती है। —सं० हि० सं०।



बूटियों और फलों-फूलों के योग से तैयार किया जाता था। प्रौढ वधि मल्लर्न ने कुछ और भी मद्यों के नामों का उल्लेख किया है :

“शाकरंबु, सूनजंबु, गुगुमुमघृतजंबु, नारिकेलजंबु, माध्विकानु,  
फलमयंबु, गौड, ताळमयंबु नादिगा तनचि नासवपुसु ।”

(शाकरं, सूनज. गुगुमुमघृतज, नारिकेलज, माध्विका

फलमय, गौड, ताळमय प्रभृति आसव पिये जाते हैं । )

(इनमें ‘शाकरं’ और ‘गौड’ तो समझ. शङ्कर और राय के पीरों की दाह रही होंगी, ‘नारिकेलज’ नारियल और ताड़ की ताड़ी, तथा ‘माध्विका’ जो मस्त्रुत के माध्वी शब्द से मिलता-जुलता नाम है, भगूरी शराब की संज्ञा रही होगी। ‘सूनज’ और ‘गुगुमुमघृतज’ का कुछ पता नहीं चलता। ‘गुगुमुमघृतज’ शायद ‘गुगु’ नाम के किसी फूल और पी के योग से बनने वाली सुरा होगी। ‘फलमय’ आसव कई फलों के अणु या अंशों से बनता रहा होगा। —स० हि० स० ।)

नटखट गाय यदि सींग या मान भारकर दूध न दुग्ने दे तो लोग सींगों में ‘तलकील’ बांधकर बल देने थे। अर्थात् एक लाठी में रस्सी का फंदा लगाकर उसमें सींगों को फँसाकर बल देने और तब दूध दुग्ने थे।

परम वेदी या पारंग पत्थर पर तथा मोटे आदि को मोता बनाने की कीमियागिरी या रहस्य-रमायन पर लोगों की अटूट विश्वास था। अन्तर्मात्य ने ‘भोजराजीयधु’ में लिखा है कि राजा भोज ने मर्पटि नामक एक मिट्टी का घोंसा देकर ‘धूमवेधी’ स्पर्श-वेधि क्रिया को सीख लिया था। केमं रेहू के सम्बन्ध में भी एक गाथा ॥ कि उसने एक कोमटी (बनिया) का घोंसा देकर उससे यह क्रिया सीख ली थी और उसीके प्रताप से कोहवीडु में अपना राज्य स्थापित किया था। यह कहना बठिन है कि ये बातें वहाँ तक सच हैं। पर इतना तो मानना पड़ता है कि प्रोत्वयेम को चाहे यह ‘परमवेदी’ हो या और कुछ, उस प्रकार की कोई १. ‘सिंहासनश्रावणक’, भाग १, पृष्ठ २० ।

विधि मिली जरूर थी। क्योंकि तुंगभद्रा नदी के तट पर स्थित 'मचालें' तीर्थ पर जो गितालेख है उसमें यो लिखा है :

यदृच्छया स्वर्णंकर प्रसिद्धि

सत्त्व्याप्रमाम्बा पतिरा बभूव ।”<sup>१</sup>

न जाने यह 'स्वर्णंकर-प्रसिद्धि' क्या बता है। कोइलीडि दइ-कविता में भी इनके सम्बन्ध में एक गाथा है।

भारत में ईसवी मनु के धारम्भ से अथवा बौद्ध सम्बत् के धारम्भ-काल में ही लोग 'स्पर्शवेधी' का पना लगाने के विचार से पारं के माय कुछ जड़ी-बूटियों का रस मिठाकर उसमें मोटा, साँझा आदि किसी माधारण धानु की रसकर तरह-तरह की भट्टियाँ चटाते और सोना तैयार करने की चेष्टा करते रहे हैं। निम्न नागार्जुन की इस 'स्पर्शवेधी' की जानकारी मिली हो या नहीं, पर इतना तो सभी मानने थे कि नागार्जुन सत्तार-भर के रमायन-शाम्बियों में अग्रगण्य थे। पूरे चीन देश में नागार्जुन की महान् महिमा की प्रशस्ति गाई जाती थी। इस 'रम-वाद-विद्या' की व्यर्थता के सम्बन्ध में ईसवी मनु १४०० के मान-पास कवि गीर्णों ने लिखा है :

“बहुत-बहुत भटका इन हेम-त्रिया-पारीए-जनों के पीछे,  
बहुत-बहुत रसग्रन्थ-पटल भी धानुवाद के पीछे छाने,  
बहुत-बहुत ध्याकुल हो-होकर सकल वित्त-मवंस्व नुटाये,  
मन्त्रवादियों, मन्त्रवादियों, किसको-किसको दिये न जाने,  
जितने रसे सहायकार, जितने औषध-पत्रों पर फूँके  
क्या-क्या जड़ी-बूटियाँ, क्या-क्या रस-पुट नहीं खरस में डाले,  
कभी साथ तो कभी अलग कूटे-पोसे, भट्टियों चढ़ाये  
कभी उड़े तो कभी घमाके हुए, पड़े जानों के साते,  
जब निदान यह, हार मानकर बंटा, यही तोय था जी को :

१. शा० संवत् १२६२, तदनुसार सन् १३४० ई०।

यह रसवाद-सिद्धि, ईश्वर की मति, मिलती है किसी-किसी को !”<sup>१</sup>

“वाद भ्रष्टो वैद्य श्रेष्ठः !” रसवाद में सफल न होने पर भी इन अनुसंधानों से वैद्य-शास्त्र को तो लाभ हुआ है ।

लोगों में अनेक प्रकार के विश्वास थे । स्त्रियों के विश्वास भी विचित्र होते हैं । जिनके संतान न होनी, वे सतान-प्राप्ति के लिए न जाने क्या-क्या किया करती थी । ‘पल्लवाडि-वीर-चरित्र’ में बालचन्द्र की माता के ऐसे प्रयासों का सविस्तर वर्णन है । अन्य माधारण स्त्रियाँ भी इसी प्रकार तडपा करती होगी । एक स्त्री सतान-प्राप्ति के लिए :

जाती निच सभक्ति शक्ति-मातृका-भवन में,  
संतत रहती निरत अतिथि-सत्कृति-सेवन में,  
बायस को दधि-बलि देती, मिम्बुतें मानती,  
घड़ी-घड़ी ‘ज्येष्ठा देवी’ की, पर्यं ठानती,  
पुष्प संहिता-श्रवण किया करती बाह्यण से,  
साधु-सत के दिग्गे मूल-माणिक-धारण से  
अशुभ-निवारण करती तन्त्रांगी, गंधाक्षत  
चिरंटियों को तथा विप्रजाघों को ग्योष्ठत  
देती रहती, आये से से-से कुम्हार के  
सौ-सौ घड़े हवाने करती नवी-धार के,  
घाँटा करती बच्चों को भीठे-भीठे फल  
घत रखती सखियों के संग, जा-जाकर बेवस  
देव पूजती, धीर पूजती धाम-यसिणी  
सदा तामरस-नेत्र-पुत्र-संतान-वासिणी !”<sup>२</sup>

गर्भवती स्त्री को तीसरे मास में मुद्दे (भीठे भात के बड़े-बड़े गोले), पाँचवें में गुजिये (दड़ली) खिलाने थे । मातृवा महीना मगते हो एरी

१. ‘नवनाथ’, पृष्ठ २४२ ।

२. ‘शिवरात्रिमाहात्म्यम्’, अ० ६, पृष्ठ ४० ।

पोलम्मा (ग्राम देवी) को पूजते और मिन्नतें मानते थे । गर्भवती के हिचकती हुई कहने पर कि देखो बहन, यहाँ बाई ओर कुछ टलक-सा गया, तमाम स्त्रियाँ जुटती और कुछ प्रक्रियाओं के बाद लडका पैदा होने की सूचना देतीं, और वह युवती खुशी से फूट जाती । बच्चा होने के बाद नाभि पर सोने का टुक (सिक्का) रखाकर नाल काटते । सूपो में मोती भरकर दान करते, बच्चे के सिर में घी-तेल मलते, घाय नरम-नरम कपड़ों की तरह बिछाकर बच्चे को लिटा देतीं, बच्चे को नहलातीं, माथे पर टीका लगातीं, दरवाजे पर चावल का भूसा बिनीले और आग रखकर देहरी के बराबर लोहे का डंडा झाल देती तथा नीम की पत्ती डालकर पानी गरम करतीं । प्रभूति-गृह में पहरा रहना । रात-भर कोई-न-कोई जागता ही रहता । अठोस-पड़ोस की स्त्रियों को बुलाकर उन्हें भेंट दी जाती थी । वे जो माय खाती, उसे स्वीकार लिया जाता । सुगन्धित हरे कपूरी पान के बीड़े खिलाकर उन्हें बिदा किया जाता ।<sup>१</sup>

साधनों के सम्बन्ध में श्रीनाथ ने कहा है :

“कल्याणको कमल-मुलियाँ उस समय गलियों और सड़कों पर नाचतीं और कोयल के पंचम स्वर में एतिलि, पंजल, धयल आदि विविध गीत गातीं ।” अम्पय कवि ने शादी-विवाह के इन गानों के भी लक्षण लिखे हैं । कुछ घरानों में विवाह के अवसरों पर भव भी घबल गाये जाते हैं । इसके प्रतिरिक्त कुमुमांगी ने पूजा की चौकोर वेदी पर आसन सजाये । एक और पचाशी ने ‘जाजाल पाल’ में सारी औपधियाँ भरकर जल का छिड़काव किया । एक काता ने बड़ की ढाल से खरल लुबकाया । एक बिम्बोष्ठी ने पीठा बिछाकर उसे पवित्र वस्त्र से ढक दिया ।

मायके धानों ने प्रभूति-गृह में ही बेटी को उपहार दिये ।

दूधारे रिस्तेदारों ने हजारों नजराने दिये ।

गृहालों और महोपालों ने भी भूरि-भूरि संपदा भेंट दी ।<sup>२</sup>

१. सि० डा०, भा० १, पृष्ठ ५६-६० ।

२. सि० डा०, भा० १, पृ० ५६-६०, भा० २, पृ० ५४, ५६, ६२ ।

‘शिवरात्रि माहात्म्य’ अ० २ पद्य ७०-७१ आदि में श्रीनाथ ने प्रभूति-गृह के साधनों का वर्णन इस प्रकार दिया है :

“अरिष्टालय धर्षात् प्रभूति-गृह में स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ करती थीं। कोई सिरहाने धवल निद्रा-कुम्भ रखती थी, तो कोई रक्षा-रेखा खींचती थी। कोई गुलाब छिड़कती थी, तो कोई बलि चढ़ाती थी। कोई नीम के दूँसों तथा नमक का उतारा देती थी, तो कोई घेत-खाट तैयार करती थीं। कोई धूप दीप जलाती थी, तो कोई शुभोदय का चिंतन करती थी। कोई बसीसें देती, तो कोई गंडर्तल उठाती। कोई घाघ (?) लगाती, तो कोई गायी और कोई हँसी-दिस्लकी करती थी।”

एक युवती ने बपूर मिले चदन के लेंप में दीवार पर हथेली की छाप लगाई। एक ने मंडक सार उंगे भीतरी घर की देहरी पर चित लिटा दिया। एक ने केगमिया वस्त्र पहनकर ज्येष्ठा देवी का पूजन किया। एक ने मूयं-चन्द्र का चित्र उरेहा। एक ने बूँदे बपरे के गते में फूल-हार पहनाये। एक ने घी डाला। एक ने साँप की कँचुकी को भाग में जलाया।

ये प्रथाएँ कृष्णा-गोदावरी-डंस्टावासियों की हैं। इससे पहले जिनकी चर्चा आई थी, वह तेलगाणे की थी।

बपू के माता-पिता विवाह के बाद विदाई के समय बेटी को गो भेंट करते थे।<sup>१</sup>

लोगों का विश्वास था कि गड़े हुए घन पर भून-प्रेन (घन पिघाच) बैठ जाते हैं। इन भन-पिघाचों की शान्ति के लिए उन्हें पूजा तथा पशु-बलि आदि दी जाती थी।

इन सम्बन्ध में ‘डाविनिवा’ के दो पद्य ये हैं :

“न जाने यह किसका घन है गड़ा,

युगों से भूमि-गर्भ में पड़ा।

१. ‘भोजराजीपर्व’, अ० ६, पद्य ३६।

अगर इसका करना है खनन  
प्रेत को तृप्त करो राजन् !"  
मान लो राजा ने यह बात  
मेघ-अलि दो, पकवाया भात,  
मुरामुर-संग तृप्त कर प्रेत,  
खनाया अपिहित निधि का खेत ।"

घरनी में दबे हुए विजय-मिहसैन के लिए राजा भोज ने भी ऐसा ही प्रेन-तपण किया था ।

उन दिनों धनी-भानी लोग भौनि-भौनि के अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट भोजन किया करते थे । बाह्यलो में भोजन-प्रियता उनसे भी बढ़-बढ़कर थी । 'बाह्यलो भोजन प्रिय.' रेड्डी सब थे । चायद इन्हीं कारणों से भामाहारी नहीं थे । भोज भी सब रेड्डी भास नहीं छूने । नेर बाटी कापु और नानु कौडा कापु दोनों जाति के रेड्डी हैं और सब हैं । वे नाधारणतया मास नहीं खाते । कुछ मोटाटी रेड्डी भी मास नहीं खाते । वैष्णव रेड्डी मास खाते हैं । ऐसा जान पड़ता है कि वैष्णवाचार्यों ने मास का निषेध नहीं किया । 'आमुक्त माल्यदा' में रेड्डीयों के खान-पान के सम्बन्ध में बर्णन है । हमसे कुछ जानकारी प्राप्त होती है । बर्दियों के बर्णनों में विशेषतया बाह्यलो-भोजन के सम्बन्ध में ही उत्प्रेष है । कौडावीरु के निगना मंत्री की संगन में श्रीनाथ ने कई बार मने तक भोजन किया, और उस मंत्री के अन्नदान का वर्णन करके मानो वह श्रुत-मुक्त हुए । कहते हैं :

"लौह, जुनु-खाई, बोन, बड़े और सेवर्मा,  
काली गी के ताजा घी, पंचभक्ष साम्बार,  
साग दाम भूँगे की' भधु, शरवन अनार-रस  
अमृत सबल में अमृत खंड पांडु दधि के साथ

१. भोजन साहित्य में भूँगे की बर्चा बराबर आती है, किन्तु दूसरी बातों की नहीं के बराबर है ।

द्वादशी की पारणा विप्रों की कराने में

लिंग मंत्री तो मानो अभिनव हर्षमाण्ड हैं ।”<sup>१</sup>

जान पड़ता है कि द्विजाति-वर्ग के लोग एकादशी व्रत का पालन निष्ठा के साथ करते थे। एकादशी-व्रत तथा द्वादशी पारणा का प्रतिपादन करने वालों रत्नमाण्ड की कथा का प्रचार उस समय तक हो चुका था।

भीमेश्वर पुराण अ० २, पृष्ठ १४२ का भाषार्थ इस प्रकार है :  
“शंखर का शर्बंत, खंड, शकर या मिसरी, केलों के गुच्छे, माष का दूध, भड्गता (भक्ष्य), ताजा घी, दाल आदि का अक्षय आहार पैट-भर लूव खाया और अक्षुद्र सुषा की शान्ति की।”

अन्धराज काशीम्बह में भोज्य, चोप्य, लेह्य, और वेय भोजन-पदार्थों का वर्णन आया है। वेले के पत्तों अथवा पत्तारा की पत्तियों तथा वनस्पतियों में भोजन-सामग्री परोसी जाती थी। भोजन के पदार्थों के नाम ये हैं—भापूम, लह्ण, इडली, कुटुम (गोजिये), पापड, इमट, मोल्लेंडा, जिलेह्वा, दोने, मेर्वयी, अंगर पोन्नी, सारसत, बोतर कुटुम, चपली, मडगर मोरणा, उड्डेधुण्ड, पिङ्गजूर, द्राधा, नारियल, केला, बटहन, जामुन, आम, लिङ्गुच, अनार, कंय, कर्काधू, रंगराम, मूंग की लिचड़ी, गले का गुड, अरिसे, विसविमलय, विरगडम, बडिदेम, मुलुपा, पुनिवरक, दालपूडी, चाण्ड (चपाती), पायस (खीर), ककड़ी, बारबेल, भूरमाण्ड, निष्पात पटोलिका, मोलानावू, मिथू, दुम्बर वार्तार, बिम्बिका, कर्बिद, दालाटुवं (तलास), कन्द, बोदा, चार, जाजी, चटनी, सुरता, यडियम्, कडियम्, गायम्, मुगन्पिन जल, उड्डाल, तालघोम, अन्नुम, मिन्नुम (उडद), बुटुक, नटुक निळमिडी, चानिमिडी, इम्पेडा, बडा, मुपेरेरा, चपेरेरा (शक्कर), धी, दोने, सोला, बिट्टु, गट्टु, दाल निम्पन, दोप, पूया, मोदकम्, गुडोदकम्..... ।

राने की इन चीजों में से आधे से अधिक के अर्थ का पता नहीं

१. ‘भीमेश्वर पुराण’, अ० १, पृष्ठ ६१।

चलता। कुछ नाम तो बीग में भी नहीं पाये जाते। जिन्हें बीगों में लिया भी गया है, बीगकारों ने उनके अर्थ खाने की वस्तु, पीने की वस्तु आदि लिखकर सन्तोष कर लिया है। इनमें से कुछ तो आज भी किसी-न-किसी तेलुगू सीमा में चानू हैं। ये भोज्य पदार्थ उस समय के जीवन में साधारणतया विशेष भवस्रोतों के भोजन जान पड़ते हैं। अनुसन्धान से और भी नई बातें मासूम हो सकती हैं।

### मनोरंजन

मनोरंजन के जो मैल-कूद, नाच-गान आदि सावन काकतीय काल में प्रचलित थे, वही रेड्डी युग में भी चानू रहे। कुछ नये भी चल पड़े।

राज-धराने में प्रायः ऐसे दुष्ट रहने ही हैं, जो राजा की तरह-तरह से सजाया करते हैं। उन दिनों भी ऐसे ही लोगों की सज्ज करके कवि मचझा ने लिखा था :

“बूढ़ों के शिकार के बहाने लोगों के घरों को गिरवा देते, बाज्र के लिए गिरगिट पकड़ने के नाम पर अंगूर के बागों को खरबाह कर डालते, मुर्गबाजी के नाम पर गली-कूचों में घूमकर धड़े-बरतन फोड़ते फिरते, शिकारी कुत्तों को लेकर रेवड़ में घुस पड़ते और भेड़-बकरियों पर हुसाकावर घुसा होने।”<sup>१</sup>

‘भोज-राजीयम्’ के अ० १ पद्य ७६ में औरतों के जो खेल गिनाने गए हैं वे ये हैं—“अजिय, सोगरा, अच्चनगल्लु और ओमन गुना।” अजिय बीन-मा खेल है? बीन में यह शब्द नहीं मिलता। सोगरा<sup>२</sup> चौखर या चौड़ियों का खेल है। इसीको पगडामारे और पगदासाळा भी कहा गया है। बहनेरे कवियों ने अपने अर्थों में इनका वर्णन किया है। धनी लोग इनकी पाटियाँ रखते थे। ‘अच्चनगल्लु’ आज भी छोटी बच्चियों से लेकर मुवतियों तक सभी सेना करती है। यह खेल छोटी-छोटी गोल बकड़ियों

१. ‘कंपूर बाहु चरित्र’, अ० ३, पद्य २६१।

२. ‘चौखरा’ का बदला हुआ रूप जान पड़ता है। सं० हि० सं०



या 'गजगा' के दानों से खेला जाता है। 'धोमनगुना' के खेल में एक पटिया पर दो बतारों में बने चौदह गड्डों में इमली के बीज भरकर खाली करते जाते हैं।

युवकों के खेलों में गेंद (कदुक-केवि) एक प्रसिद्ध खेल है। कदुक कपड़े की होती थी। रंग से बचाने के लिए उस पर प्रायः जानी बुन देते थे। पचास वर्ष पहले तक यह खेल हर जगह खेला जाता था।

'पिल्लादीपाटा' नाम के खेल के सम्बन्ध में मिलते हुए श्रीनाथ ने कहा है कि यह खेल चाँदनी रातों में खेला जाता था। शब्द-कोश में इसे 'क्रीडाविरोध' कहकर मन्त्रोप बर लिया गया है। केवल पाँच सौ वर्ष पहले के छपने वालीय खेलों को न जानना हमारे लिए गेद का विषय है।

'भाड़' - उन्टी-सीधी बातें कहकर लोगों को हँसाने वाले को तेलुगु में विकट-कवि कहते हैं। मेगक के विचार से भादालिका भी ऐसा ही व्यक्ति है। उत्तर भाग में तो इस शब्द को सभी जानते हैं किन्तु तेलुगु में यह या इसका समानार्थवाची कोई शब्द प्रचलित नहीं है। किसी शब्द-वाच्य का उद्धरण यह है—“कुछ समय भादिक-जनों की परिहात-भीष्टी में बट जाना।” भादिक शब्द शब्द-कोश में नहीं है। 'सम्भृत-शब्द-वल्गुद्रुम' में भी नहीं है। किन्तु 'भरः' के अर्थ दिये हैं घनमीन-भाषी। उन तरह की धारण करने वाला 'भादिक' हुआ। यही टीका ही लगता है।

'विन्दुमती विद्या'—तेलुगु कोश 'शब्द-रत्नावर' अथवा सम्भृत निघण्टु 'शब्द-वल्गुद्रुम' में यह शब्द नहीं है। 'विप्र-विनोद' एक विद्या है। इस विनोद में जादू के कुछ तमामों करके लोगों का मनोरंजन किया जाता था। यह विद्या उन दिनों ब्राह्मणों के अधिकार में थी। इसीलिए इसे 'विप्र-विनोद' कहा जाता था। ऐसे तेलुगु ब्राह्मण ही प्राजक्त्त नहीं रहे। (विन्दुमती विद्या भी कुछ ऐसी ही रही होगी। हाथ की सफाई दिवाने में देवी-देवताओं के नाम जोड़ने में लोगों की खड़ा बदनो हीं ठहरी।)

प्रहेलिका और प्रबद्धिका दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके अर्थ 'शब्द-रत्नावर' में यों हैं—“गुप्तार्थ रत्नने वाले वाक्य-विरोध।” पर यह

स्पष्ट नहीं है। तेलुगू में एक शब्द 'तेट्टु' है, जिसे बच्चे से बूढ़े तक सभी जानते हैं। यह वही बुभुवन या 'पहेली' है, जो उत्तर-दक्षिण सब जगह प्रचलित है। उदाहरण के लिए तेलुगू की एक बुभुवन लीजिए—  
 "लाने छाते पर सामने रखकर रोते हैं।" पहेली है प्याड, जिसे छीलने में छाँचों से पानी धा जाना है। कवि निरुन्नेश ने मँकडों पहेली-पद्य लिखे हैं। ये बहुत प्रसिद्ध भी हैं; पर पता नहीं चलना कि यह निरुन्नेश कौन हैं।

शिकार—कवियों ने विशेषकर राजाओं के ही शिकार का वर्णन किया है। शिकार में चिड़ियों का शिकार प्रधान था। धनी-भारी लोग बाज के द्वारा चिड़ियों का शिकार 'खेलने' थे। हिन्दी में तो शिकार के साथ करना, मारना, भेषना आदि कई क्रियाएँ चलती हैं, किन्तु तेलुगू में ऐसा नहीं है। शिकार के साथ भेषना ही प्रयुक्त होता है। जान पड़ता है आन्ध्र के लोग माम का त्याग करने के बाद भी शिकार को त्याग न सके। इसीलिए विनोद के रूप में शिकार को जारी रखा। इस तरह शिकार भी खेल हो गया। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि सँकडों कामों के साथ भी खेल का शब्द जुड़ा हुआ है। हमने और मगडने को भी खेल समझना बहुत ही अच्छी बात है।

श्रीनाथ ने 'मिहामन द्वाविशति' भा० १ पृ० २६ में राजा विजयपाल के शिकार का वर्णन एक बड़े पद्य में किया है। पद्य इस प्रकार है :

'केरिज' का करके घात,  
 'दूरेड' को घूतिसात्,  
 नीलकण्ठ भीचे डाल,  
 'वेतियेल' को बेहाल,  
 'बेणु' को सुज कर,  
 बगलों का दर्प हर,  
 सोहू 'बक्केरा' में,  
 उगतवा करके छामे,

या 'गजगा' के दानों से सेला जाता है। 'घोमनगुना' के सेल में एक पटिया पर दो कतारों में बने चौदह गड्ढों में इमली के बीज भरकर खाली करते जाते हैं।

युवकों के खेलों में गेंद (कंदुव-केलि) एक प्रसिद्ध खेल है। कंदुव कण्डे की होती थी। रंग से बचाने के लिए उस पर प्रायः जाली बुन देते थे। पचास वर्ष पहले तक यह खेल हर वही सेला जाता था।

'पिल्लाडीपाटा' नाम के खेल के सम्बन्ध में निखते हुए श्रीनाथ ने कहा है कि यह खेल चाँदनी रातों में सेला जाता था। शब्द-कोश में इसे 'बीटाविशेष' कहकर संतोष कर लिया गया है। केवल पाँच सौ वर्ष पहले के अपने जातीय खेलों को न जानना हमारे लिए खेद का विषय है।

'भांड'—उल्टी-मीथी बातें कहकर लोगों को हँसाने वाले की तेलुगु में विकट-कवि कहते हैं। लेखक के विचार से भांडालिका भी ऐसा ही व्यक्ति है। उत्तर भारत में तो इस शब्द को सभी जानते हैं किन्तु तेलुगु में यह या इसका समानार्थवाची कोई शब्द प्रचलित नहीं है। निती गण-वाक्य का उद्धरण में है—“कुछ समय भांडिक-जनों की परिहास-गोष्ठी में बट जाता।” भांडिक शब्द शब्द-कोश में नहीं है। 'मस्त्रुत-शब्द-मल्पद्रुम' में भी नहीं है। किन्तु 'भंड' के अर्थ दिये हैं घटनीस-भाषी। उस तरह की बातें करने वाला 'भांडिक' हुआ। यही ठीक हो सकता है।

'बिन्दुमती विद्या'—तेलुगु कोश 'शब्द-रत्नावर' अथवा मस्त्रुत निघण्टु 'शब्द-मल्पद्रुम' में यह शब्द नहीं है। 'विप्र-विनोद' एक विद्या है। इस विनोद में जादू के कुछ तमामने करके लोगों का मनोरंजन किया जाता था। यह विद्या उन दिनों ब्राह्मणों के अधिकार में थी। इसीलिए इसे 'विप्र-विनोद' कहा जाता था। ऐसे तेलुगु ब्राह्मण ही आजकल नहीं रहे। (बिन्दुमती विद्या भी कुछ ऐसी ही रही होगी। हाथ की सफाई दिवाने में देवी-देवताओं के नाम जोड़ने में लोगों की थोड़ा बढनी हो टहरी।)

प्रहेलिका और प्रवृद्धिका दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके अर्थ 'शब्द-रत्नावर' में यों हैं—“गुप्तार्थ रखने वाले वाक्य-विशेष।” पर यह

स्पष्ट नहीं है। तेलुगू में एक शब्द 'तट्ट' है, जिसे वच्चे से बड़े तक सभी जानते हैं। यह वही बुझीवन या 'पहेली' है, जो उत्तर-दक्षिण सब जगह प्रचलित है। उदाहरण के लिए तेलुगू की एक बुझीवन लीजिए—  
 "साते खाते पर सामने रखकर रोते हैं।" पहेली है प्याज, जिसे छीलने में आँखों से पानी आ जाता है। कवि तिरुमलेश ने सँकड़ों पहेली-पद्य लिखे हैं। ये बहुत प्रसिद्ध भी हैं; पर पता नहीं चलता कि यह तिरुमलेश कौन हैं।

**शिकार**—कवियों ने विशेषकर राजाओं के ही शिकार का वर्णन किया है। शिकार में बिड़ियों का शिकार प्रधान था। धनी-मानी लोग बाज के द्वारा बिड़ियों का शिकार 'खेलते' थे। हिन्दी में तो शिकार के साथ करना, मारना, खेलना आदि कई क्रियाएँ चलती हैं, किन्तु तेलुगू में ऐसा नहीं है। शिकार के साथ खेलना ही प्रयुक्त होता है। जान पड़ता है आन्ध्र के लोग मास का त्याग करने के बाद भी शिकार को त्याग न सके। इसीलिए विनोद के रूप में शिकार को जारी रखा। इस तरह शिकार भी खेल हो गया। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि सँकड़ों वामों के साथ भी खेल का शब्द जुड़ा हुआ है। हँसने और भगड़ने को भी खेल समझना बहुत ही घण्टी बात है।

धीनाथ ने 'सिंहासन द्वात्रिंशति' भा० १ पृ० २६ में राजा विजयपाल के शिकार का वर्णन एक बड़े पद्य में किया है। पद्य इस प्रकार है :

'केरिज' का करके घात,  
 'पूरेड' को धूलिसात्,  
 भीतरुण्ठ नीचे डाल,  
 'वेलियेल' को बेहाल,  
 'वेगुह' को लुअ कर,  
 भगलों का दर्प हर,  
 लोह 'कक्केरा' से,  
 जगलवा करके खासे,

या 'गजगा' के दानों से खेला जाता है। 'भोमनगुना' के खेल में एक पटिया पर दो कतारों में बने चौदह गह्वों में इसमी के बीज भरकर खाली करते जाते हैं।

युवकों के खेलों में गेंद (कदुव-केलि) एक प्रसिद्ध खेल है। कदुव कापड़े की होती थी। रंग से बचाने के लिए उस पर प्रायः जाली बुन देते थे। पचास वर्ष पहले तक यह खेल हर जगह खेला जाता था।

'पिल्लापोपाटा' नाम के खेल के सम्बन्ध में लिखते हुए श्रीनाथ ने कहा है कि यह खेल चौदनी रातों में खेला जाता था। शब्द-कोश में इसे 'लीडाविशेष' कहकर मन्त्रोप कर लिया गया है। केवल पाँच सौ वर्ष पहले के अपने जातीय खेलों को न जानना हमारे लिए शर्म का विषय है।

'भाड़'—उल्टी-सीधी बातें कहकर लोगों को हँसाने वाले को तेलुगु में विकट-वर्षि कहते हैं। निरक्षर के विचार में भाडालिवा भी ऐसा ही व्यक्ति है। उत्तर भारत में तो इस शब्द को सभी जानते हैं किन्तु तेलुगु में यह या इसका समानार्थवाची कोई शब्द प्रचलित नहीं है। किसी गद्य-काव्य का उद्धरण यह है—“कुछ समय भाड़िक-जनों को परिहास-भोछी में कट जाना।” भाड़िक शब्द शब्द-कोश में नहीं है। 'मस्कुत-शब्द-कल्पद्रुम' में भी नहीं है। किन्तु 'भड़' के अर्थ दिये हैं धरलील-भाषी। उस तरह की शर्तें करने वाला 'भाड़िक' हुआ। यही टीका हो सकता है।

'विन्दुमती विद्या'—तेलुगु भाषा 'शब्द-रत्नाकर' अथवा मन्थन निघण्टु 'शब्द-कल्पद्रुम' में यह शब्द नहीं है। 'विप्र-विनोद' एक विद्या है। इस विनोद में जादू के कुछ तमामों करके लोगों का मनोरंजन किया जाता था। यह विद्या उन दिनों ब्राह्मणों के अधिकार में थी। इसीलिए इसे 'विप्र-विनोद' कहा जाता था। मग्रे तेलुगु ब्राह्मण ही घाबरेल नहीं रहे। (विन्दुमती विद्या भी कुछ ऐसी ही रही होगी। हाथ की सफाई दिगाने में देवी-देवताओं के नाम जोड़ने से लोगों की थका बढ़नी ही टहरी।)

प्रेतिका और अशुद्धिका दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके अर्थ 'शब्द-रत्नाकर' में यों है—“गुप्तार्थ रखने वाले वाक्य-विशेष।” पर यह

स्पष्ट नहीं है। तेलुगू में एक शब्द 'तट्ट' है, जिसे बच्चे से बूढ़े तक सभी जानते हैं। यह वही बुभुविल या 'पहेली' है, जो उत्तर-दक्षिण सब जगह प्रचलित है। उदाहरण के लिए तेलुगू की एक बुभुविल लीजिए—  
 "लाते खाने पर सामने रखकर रोते हैं।" पहेली है प्याज, जिसे धीतने में पानी से पानी आ जाता है। कवि तिरुमलेश ने सैकड़ों पहेली-पद्य लिखे हैं। ये बहुत प्रसिद्ध भी हैं; पर पता नहीं चलता कि यह तिरुमलेश कौन हैं।

शिकार—कवियों ने विनोदकर राजाओं के ही शिकार का वर्णन किया है। शिकार में चिड़ियों का शिकार प्रधान था। घनी-आली लोग बाज के द्वारा चिड़ियों का शिकार 'नेपने' थे। हिन्दी में तो शिकार के साथ करना, मारना, खेलना आदि कई क्रियाएँ चलती हैं, किन्तु तेलुगू में ऐसा नहीं है। शिकार के साथ खेलना ही प्रयुक्त होता है। जान पड़ता है आन्ध्र के लोग मात्त का त्याग करने के बाद भी शिकार को त्याग न सकें। इसीलिए विनोद के रूप में शिकार को जारी रखा। इस तरह शिकार भी खेल हो गया। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि सैकड़ों कामों के साथ भी नेन का शब्द जुड़ा हुआ है। हमने और भगवने दो भी खेल समझना बहुत ही अच्छी बात है।

श्रीनाथ ने 'सिहामन द्वाविशति' भा० १ पृ० २६ में राजा विजयपाल के शिकार का वर्णन एक बड़े पद्य में किया है। पद्य इस प्रकार है :

'केरिड' का करके घात,  
 'भूरेड' को घृतिसात्,  
 नीलशृङ्ग नीचे डाल,  
 'वेसियेत्त' को बेहात,  
 'बेगुड' को सुझ कर,  
 बगलों का रपे हर,  
 सोहू 'कक्केरा' में,  
 उगतवा करके छासे,

या 'गजगा' के दानों से खेला जाता है। 'भोमनगुना' के खेल में एक पटिया पर दो चतारों में बने चौदह गड्ढों में इमली के बीज भरकर खाली करते जाते हैं।

युवकों के खेलों में गेंद (कंदुक-केलि) एक प्रसिद्ध खेल है। कंदुक बपड़े की होती थी। रंग से बचाने के लिए उस पर प्रायः जाली बुन देते थे। पचास वर्ष पहले तक यह खेल हर जगह खेला जाता था।

'पिल्लादीपाटा' नाम के खेल के सम्बन्ध में लिखते हुए श्रीनाथ ने कहा है कि यह खेल चाँदनी रातों में खेला जाता था। शब्द-कोश में इसे 'बीडाविरोध' कहकर सम्मोप वर लिया गया है। केवल पाँच सौ वर्ष पहले के अपने जातीय खेलों को न जानना हमारे लिए गेद का विषय है।

'भांड' - उन्टी-मीधी बातें कहकर लोगों को हँसाने वाले को तेलुगु में विकट-कवि कहते हैं। लेखक के विचार से भांडालिका भी ऐसा ही व्यक्ति है। उत्तर भारत में तो इस शब्द को सभी जानते हैं। किन्तु तेलुगु में यह या इसका समानार्थवाची कोई शब्द प्रचलित नहीं है। किसी गद्य-काव्य का उद्धरण ये है—'कुछ समय भांडिक-जनों की परिहास-गोष्ठी में बट जाता।' भांडिक शब्द शब्द-कोश में नहीं है। 'मस्तूल-शब्द-कलाद्रुम' में भी नहीं है। किन्तु 'भंड' के अर्थ दिये हैं अस्सील-आपी। उस तरह की बातें करने वाला 'भांडिक' हुआ। यही ठीक हो सकता है।

'बिन्दुमती विद्या'—तेलुगु कोश 'शब्द-रत्नाकर' अथवा मस्तूल निपटु 'शब्द-कलाद्रुम' में यह शब्द नहीं है। 'विप्र-विनोद' एक विद्या है। इस विनोद में जादू के कुछ तमामों करके लोगों का मनोरंजन किया जाता था। यह विद्या उन दिनों ब्राह्मणों के अधिकार में थी। इसीलिए इसे 'विप्र-विनोद' कहा जाता था। ऐसे तेलुगु ब्राह्मण ही भांडकन नहीं रहे। (बिन्दुमती विद्या भी कुछ ऐसी ही रही होगी। हाथ की तफाई दिगाने में देवी-देवताओं के नाम ओढ़ने में लोगों की खड़ा बदनो हो टहरी।)

प्रेक्षिका और प्रवृत्तिका दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके अर्थ 'शब्द-रत्नाकर' में यों हैं—"गुप्तायं रखने वाले वाक्य-विशेष।" पर यह

देकर उनकी जीवन-विधि के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत लिख देना चाहिए। 'पक्षी विशेष', 'कीड़ा विशेष'-भात्र लिख देने से क्या लाभ? अंग्रेजी में आज नहीं, आज से डेढ़ सौ साल पहले, बल्कि उससे भी पहले, एक-दो नहीं सैकड़ों सचित्र पुस्तकें इस विषय पर लिखकर प्रकाशित की जा चुकी थी। हमारे देश में किसी एक ने भी पक्षियों और उनके जीवन की ओर ध्यान नहीं दिया? किसी एक ने भी किसी ऐसी पुस्तक का अनुवाद ही नहीं किया? बच्चों की रीढ़ों की बात को छोड़ दीजिए, उनकी इसमें गिनती नहीं। नतीजा यह है कि प्राचीन कवियों के लिखने पर भी हमारे 'कोशकार' बहाना करके बच निकलते हैं और हम अर्थ को जानने-समझने में बचिब रह जाते हैं।

प्राचीन कवियों में माचन्ना मोमयाजी से लेकर अनेक कवियों ने शिकार का वर्णन किया है। किन्तु चिड़ियों के शिकार पर शायद ही किसी ने लिखा हो। अतः पक्ष का विशेष मूल्य है।

'जट्टी' माने पहलवान। किन्तु उन दिनों सैनिकों को भी जट्टी ही कहा जाता था। सैनिक प्रायः पहलवानी भी करते रहे हैं। बाद में आये पादचात्य अंग्रेज-कंध सैनिकों की तरह उस समय हमारे यहाँ कोई बरदी नहीं थी। फिर भी उनकी पोशाक में कुछ विशेषता जरूर थी। वे सिर पर तो तुर्रदार साफ़ा बाँधते थे और कमर में काछ खींचकर पीछे टोबी हुई धोती अथवा शर्टी या जाँघिया पहनते थे। कमर में पट्टी लपेटते थे, जिसे दट्टी कहा जाता था। फिर उस दट्टी में छुरी, कटार और शरीर पर एक चुस्त अथवाहियाँ, तथा पीठ पर ढाल; साधारणतया यही उस समय के सैनिकों की पोशाक थी।

एक तेलुगू बहावत है कि "जब तक 'जट्टी' सजे-सजे, तब तक शत्रु का गोला छूट गया।" जान पड़ता है कि युद्ध के समय सिपाहियों को सजने-भजाने में काफी समय लगता था, और वे अच्छी तैयारी के साथ मैदान में उतरते थे। सैनिकों के दो भेद थे, (१)—राज तेलु (२) बंदुवाह। बहावत है कि "बंदु को कटार से बढ़कर और क्या चाहिए?"



‘कोवकर’ के विल दहला,  
 बनमुखों को जला-जला,  
 मँना को झकड़ करके ढीलो,  
 चमरु की भी चमड़ी छोती,  
 तीतर को तीतर-बटेर कर,  
 बटेरों को चीर-फाड़ डेरकर  
 बाघ उड़ता आकास  
 लौटा राजा के पास !

इस पद्य में आये हुए नीलकण्ठ, बगला, बनमुख, मँना, तीतर आदि पक्षियों को तो गाँव के रहन-सहन वाले जानते हैं। हाँ, बाहर वाले भल-बल्ला इन सभी को नहीं पहचानते। परन्तु शेष नामों वाले पक्षियों में तो गाँव वाले भी परिचित नहीं। ‘केरिज’ को ‘शब्द-रत्नाकर’ में ‘एक पक्षी’ कहकर बस कर दिया गया है। ‘पूरेड’ को भी पक्षी विशेष भर ही कहा है। ‘कोवकरम’ जगुले की जाति का तो ज़रूर है, पर है अलग पक्षी। ‘चमरु’ भी फिर ‘पक्षी विशेष’ भर ही है। ‘चमरगोनु’ शब्द कोश में नहीं है। किन्तु चमर का अर्थ ‘चमरु कीड़ा’ दिया हुआ है। यह पक्षी कौए में छोटा होता है। रंग इसका नीला होता है। दुम लम्बी होती है। स्वर भी कौए की-सी गग-खग का-सा निपलता है। तीतर को लोग पिजड़ों में पानरर मुखह-नाम गेती में ले जाते हैं। तीतरों को लड़ाया भी जाता है। जंगल में जान बियाकर सघे हुए तीतर को यहाँ छोड़ने हैं। उसके बोलने ही उगकी आवाज पर जंगली तीतरों के झुण्ड उससे लड़ने पहुँचते हैं और जाल में फँस जाते हैं। स्व-जाति से लड़ने वाली चिड़ियों में मुर्गा, तीतर और बुनबुन विशेष के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं।

तेनुगु में पक्षियों पर कोई ग्रन्थ ही नहीं। मसूत में ‘स्पेन शास्त्र’ के नाम से एक पुस्तक है। उसमें जो लिखा है उगकी समझने वाले मसूत विद्वान् ही आज वहाँ हैं? शब्द-कोशों में उन पक्षियों के चित्र

सहम गया। बोला, “राजा का सिपाही हूँ, इसलिए यह तेरा दोष है।”

अबम्या में मैं तुमने छोटा ज़रूर हूँ, पर हूँ एकागवीर ! मुझे तलवारने पर, मेरी हँसी उड़ाने पर, चिढ़ाने पर, मूर्खों पर ताव देने पर मेरा तुम्हें घर धसीटना, कोई अनुचित है ?

ऐसी दगा में द्वन्द्व-युद्ध की आज्ञा मिल जाती थी। इस द्वन्द्व के कुछ विशेष नियम भी होने थे। एक ने अपनी जो शर्तें रखी, वे इस प्रकार हैं :

“निगाने की लकड़ी गाड़ना, जमीन सेना, चोट बघाना, धाजू बघाना, बच उछलना लसकारना . . . . . छिपना, रुकना . . . . . घर घसीटना, एड़ी मारना, झेंगुली तोड़ना, अदल-बदल करना, सिर नवा-कर मारना, द्वन्द्व-युद्ध के नियमों के अनुसार ये सब किये जा सकते हैं।”

इस पर प्रतिस्पर्धा की जवाबी शर्तें ये हैं

“होश में रहकर, निगाह ठिकाने रखकर, सूकर-दृष्टि से घुडककर, गर्जन न करके, मार्जाल दृष्टि से कूच न करके टक्कर लेने को तैयार रहो !”

इसी प्रकार मल्लूकदृष्टि, शृंगदृष्टि, फण्णदृष्टि, वपिदृष्टि, चोरदृष्टि, गार्हूल दृष्टि आदि का बखान करके, कहा है कि झूरो की शर्तें यही हैं। इस प्रकार सवाल-जवाब हुआ करने, भीड़ बड़ जाती। कुछ लोग एक के समर्थक बनते तो कुछ दूसरे के, गड़बड़ मच जाती। तब राजा आगे बढ़कर सबको चुप होने का आदेश देने और बीच में गोल जगह बनाकर चारों तरफ लोगों को बिठाने। कोई गड़बड़ न करे, इसलिए बीच-बीच में चार सिपाहियों को खड़ा करके लड़ने वालों को आगे बुलाया जाना। उनके चारों ओर और बीच में सिपाहियों को खड़ा करके तलवारें भेंगाई जाती। उनमें में बराबर नाप की दो तलवारें लेकर और उनमें नीबू पहनाकर दोनों के हाथ में एक-एक तलवार दी जाती। फिर वे घीर घीरता के साथ एक-दूसरे पर झपटते।

इस वर्णन में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें से कुछ के अर्थ तो शब्द-कोशों में भी नहीं मिलते। जैसे चौकल, दाणि, भरव

इस कहावत से विदित होना है कि कटार ही बटु का मास हथियार था ।<sup>१</sup>

एक बार वसन्तोत्सव के अवसर पर एक राजलेंबा अपनी टोती से बिगुडकर भीड़-भाड़ में से होता हुआ मूर्खों पर पड़ा गुलाल आदि पाँधना-पाँधना चला जा रहा था । सामने में एकागवीर नामक दूसरा सैनिक आ रहा था । वह बिगडकर बोला—“क्यों रे, आगे नहीं देगता ? बड़ा-बड़ी करके मेरे आगे मूर्खों पर ताव दे रहा है । जानता नहीं मैं एकागवीर हूँ ?” इतना सुनता था कि उस सिपाही को भी ताव था गया । दोनों भिड़ पड़े । दोनों डण्ड-मुठ के लिए तैयार हो गए । बटुनेरा बोझ-बचाव किया गया, पर वे नहीं माने । यहाँ तक कि स्वयं राजा का कहा भी नहीं माना । अन्त में राजा ने सबके सामने दोनों को तलवारों से डण्ड-मुठ की अनुभूति दी । हार-जीत के निर्णय के लिए एक सैनिक ने अपनी कुछ शर्तें रखी । फिर दूसरे ने जवाबी शर्तें रखी । गोरवी गोवराजु ने इन शर्तों का बर्णन इस प्रकार किया है :

“प्रकारण कूठकर, भवकवर आगे आने पर दुम दबाकर भागना नहीं, हाँ ! एक दूगरे सिपाही में सलकारा ।”

एक और घटना का बर्णन इस प्रकार दिया हुआ है .

भगवान् के भण्डार का एक सिपाही प्रसाद पा-यावर भेगा बना हुआ था । एक दिन दर्शनार्थियों की भीड़ में उसके पैर पर किसी बलवार का पैर पड़ गया । वह बिगडकर कहने लगा—“क्यों रे जानता नहीं कि मैं बटुभक्त हूँ !” बलवार ने कहा, “मैंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया । भीड़-भाड़ में पैर लग गया है ।” सिपाही ने डाँटा—“जान-बूझकर ही तो तुने मुझे सा मारी है, ‘अनजाने हो गया’ कहने भर से मैं तुझे छोड़ छोड़ ही दूँगा ? यों कहकर धक्का-मुक्की करने लगा । सब फलवार भी बिगड़ गया और बायें हाथ की कटार दायें हाथ में लेकर बोला—“हाँ ! मैंने सात जहर मारी है, दोस ब्याकर लेगा ॥ ? सिपाही १. ‘तिहायनद्वार्प्रसिक्ता’, भा० २, पृष्ठ २२ ।

सहम गया। बोला, “राजा का सिपाही हूँ, इसलिए यह तेरा दोष है।”

धवस्या में मैं तुमसे छोटा ज़रूर हूँ, पर हूँ एकागवीर ! मुझे तनकारने पर, मेरी हँसी उड़ाने पर, चिढ़ाने पर, मूर्खों पर ताव देने पर मेरा तुम्हें धर थपौटना, कोई अनुचित है ?

ऐसी दगा में द्वन्द्व-युद्ध की आज्ञा मिल जानी थी। इस द्वन्द्व के कुछ विशेष नियम भी होने थे। एक ने अपनी जो शर्तें रखी, वे इस इकार हैं :

“निशाने की लकड़ी गाड़ना, जमीन लेना, छोट बचाना, थानू बचाना, बच उधनना सलकारना.....दिपना, हकना.....घर धसीटना, एड़ी मारना, भँगुली तोड़ना, बदल-बदल करना, सिर नवाकर मारना, द्वन्द्व-युद्ध के नियमों के अनुसार ये सब किये जा सकते हैं।”

इस पर प्रतिस्पर्धा की जवाबी शर्तें ये हैं :

“होश में रहकर, निगाह ठिकाने रखकर, सूकर-दृष्टि से घुड़कर, गर्जन न करके, भार्जाल दृष्टि से कूच न करके टक्कर लेने को तैयार रहो !”

इसी प्रकार मल्लूकदृष्टि, शृघ्रदृष्टि, फण्हदृष्टि, कपिदृष्टि, चोरदृष्टि, शार्ङ्गल दृष्टि आदि का बखान करके, कहा है कि शूरो की शर्तें यही हैं। इस प्रकार सवाल-जवाब हुआ करने, भीड़ बड़ जाती। कुछ लोग एक के समर्थक बनने लगे कुछ दूसरे के, गदबड़ मच जाती। तब राजा आगे बढ़कर सबको चुप होने का आदेश देने और बीच में गोल जगह बनाकर चारों तरफ लोगों की बिठाने। कोई गड़बड़ न करे, इसलिए बीच-बीच में चार मिपाहियों की खड़ा करके लड़ने वालों को आगे बुलाया जाता। उनके चारों ओर और बीच में मिपाहियों की खड़ा करके तलवारें मँगाई जाती। उनमें में बराबर नाप की दो तलवारें लेकर और उनमें नीबू पहनाकर दोनों के हाथ में एक-एक तलवार दी जाती। फिर वे वीर धीरता के साथ एक-दूसरे पर झपटते।

इस वर्णन में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें में कुछ के अर्थ तो शब्द-कोशों में भी नहीं मिलते। जैसे चौकल, दाण्डि, मल्लू

आदि के । मत्स्यक दृष्टि, गृध्रदृष्टि, फणितृष्टि, कपितृष्टि, चोरदृष्टि, शार्ङ्गल-  
दृष्टि आदि शब्दों के सम्बन्ध स्पष्ट होने पर भी तात्पर्य पत्ते नहीं पड़ता ।

बाजीगरी—बाजीगरी बाजारू शब्द है । इसे तेलुगू में 'गारडो  
विद्या' कहते हैं । पहले इन्द्रजाल भी कहा जाता था । 'विभ्र विनोद' भी  
इसीका नाम है । लगभग ४० वर्ष पूर्व इंगलिस्तान के समाचार-पत्रों  
में इस विषय पर चर्चा छिड़ी थी । कोई डेढ़ सौ वर्ष पुरानी बात है ।  
एक अंग्रेज ने हिन्दुस्तान के किसी स्थान पर बाजीगरों का यह समाशा  
देखा था । वह इतना प्रभावित हुआ कि उसी दिन उसने एक लेख लिखकर  
अपने देश के समाचार-पत्रों को भेज दिया । बाजीगर ने एक लम्बे  
रस्से को हवा में आकाश की ओर फेंककर बगैर किसी आधार के रस्से  
को सीधा लटका दिया, फिर उसको पकड़कर ऊपर चढ़ता गया और  
कुछ ऊपर जाकर गायब हो गया । थोड़ी देर में उसके शरीर के लोथड़े  
हाथ-पैर आदि जमीन पर आ-आकर गिरने लगे । फिर थोड़ी देर के  
बाद बाजीगर ज्यों-का-त्यों रस्से से उतर आया । इमर्सेण्ड-निवागियो ने  
इसे निरा गपोडा गमभा । कुछ लोगों ने एलान किया कि अगर उस  
आदमी को इंगलिस्तान लाया जाय तो आने-जाने का खर्च और हजारों  
पौंड इनाम में दिये जायेंगे । यह तो अंग्रेजों के जमाने की बात है ।  
कविवर कौरवि गोयराजु ने मुसलिम-युग में भी पढ़ने इसी प्रकार  
की जादुई घटना का वर्णन किया है । वह लिखते हैं :

"राजा के दरबार में एक बार एक व्यक्ति आया । उसके साथ में  
एक स्त्री भी थी । उसे उसने अपनी पत्नी बतलाया । राजा ने कहा—  
'देवताओं पर आक्रमण हुआ है; आकाश में उनकी ओर से सड़ने जा  
रहा हूँ । मेरे लौटने तक मेरी इस पत्नी को अपने आश्रय में रख लें ।'

फिर एक रस्से को आकाश की ओर फेंककर उसके गहारे वह ऊपर  
चढ़ गया और देखते-ही-देखते गायब हो गया । थोड़ी ही देर में उसके  
पैर, हाथ, घड़, सिर एक-एक करके अलग-अलग जमीन पर गिर पड़े ।  
तब उसकी स्त्री ने आगे बढ़कर कहा कि 'मेरा पति आकाश-युद्ध में

मारा गया है, मैं उसके झंगों के साथ चिता में बैठकर सती हो जाऊँगी।' राजा को अनुमति देनी पड़ी। थोड़ी देर बाद वह व्यक्ति उसी रस्सी पर से नीचे उतरकर अपनी स्त्री को माँगने लगा। राजा ने दुखी होकर सती की सब बातें बता दी। तब इन्द्रजाली ने कहा—'हे नाथ, मैं तो जादूगर हूँ। मैंने तमाशा दिखाकर आपसे इनाम पाने भर के लिए ही यह सब किया है'।<sup>१</sup>

यह तो इन्द्रजाल हुआ। इसके सिवा एक महेन्द्रजाल भी हुआ करता था। इसीको 'जल-स्तम्भ' भी कहते थे। प्राचीन भारत की चौमठ विद्याओं में वेद, शास्त्र, पुराणों के साथ वास्तु, आयुर्वेद, संगीत, नृत्य, मन्त्रविद्या, तन्त्रविद्या, जुम्मा, इन्द्रजाल, महेन्द्रजाल, अष्टावधान, बहुरूप-विद्या, विद्रूपक विद्या इत्यादि सभी सम्मिलित हैं।<sup>२</sup>

मेले—'क्रीडाभिरामम्' में लिखा है कि वाक्तीय राज्य में भी श्री काकुल का मेला बहुत प्रसिद्ध था। कविवर भञ्जना ने 'वेयूर बाटु चरित्र' में लिखा है कि श्री काकुल के मेले के अन्दर गुण्डामन्त्री ने भीड़ पर माडा आदि सिक्के तथा रत्न आदि बखेर दिये। जान पड़ता है कि उन दिनों राजा-महाराजा तथा धनी-मानी मेले-ठेले के अवसर पर भीड़ पर पैसे फेंककर गरीबों को दान-पुण्य किया करते थे।

जुम्मा वाक्तीयों के काल में भी चालुक्यों और रेड्डियों के राज्य-काल की तरह ही प्रचलित रहा। एक जुम्मारी अपनी चमुराई का बखान इस प्रकार करता है—'लक्षि मुष्टि या नक्कीमुट्टी एक प्रकार का बहुत प्रसिद्ध जुम्मा है, जो आज तक जारी है। एक व्यक्ति कुछ कौड़ियों या कंक्डी आदि कोई ऐसी ही चीज लेकर आता है। चार कौड़ियों का एक 'उदा' (गंदा) कहलाता है। मुट्टी बांधे व्यक्ति के पाम रोप तीनों जुम्मारी और अन्य जन रुपये-पैसे<sup>३</sup> के ढेर लगा देते हैं।

१. 'सि० ट्रा०', भा० २, पृष्ठ १००।

२. 'सि० ट्रा०', भा० २, पृ० १०२।

३. या कौड़ियों आदि के, सं० हि० सं०।

‘उद्दे’ लगाने पर अन्त में यदि चार बचे तो ‘मष्टा’ होगा, तीन बचे तो तिग्गा, दो पर दुग्गा और एक बचने पर नवका। इस प्रकार नवका से मष्टा तक बाजी होने के कारण ही इसे ‘नवकामुष्टि’ कहते थे। यही शब्द बदलकर ‘तनिकमुष्टि’<sup>१</sup> बन गया। यदि मुट्टी बाँधने वाले के लिए पाली छोड़ी गई सख्या ही निकले तो वह सब के पैसे ले लेगा, नहीं तो जिसकी सख्या निकलेगी, उसे उतने पैसे दे देगा। बाकी लोगों के छोड़ देगा। जुमारी ने इन सख्याओं के जो नाम दिये हैं, वे कुछ भिन्न हैं। अनुमान यही है कि काना शब्द चार के लिए, तिग्गा तीन के लिए, जोगरा दो के लिए और नदी एक के लिए आया है। खेल की विधि और मस्या के क्रम से भी यही प्रतीत होता है। तनिकामुष्टि उत्तर भारत में भी चलती है, वहाँ ‘नक्की दुग्गा’ कहते हैं और इसे देहाती प्रायः सभी जगह खेला करते हैं। विचित्र बात तो यह है कि यह और ऐसे बहुत-से और खेल भारत-भर में एक ही नाम से और एक ही रूप में खेले जाते हैं तथा लोग उनमें समान रूप से आनन्द लेते हैं। दुग्गा-तिग्गा की हिन्दी गिनती संसुगू में भी चानू है। ऐसा तो नहीं कि यह खेल उत्तर से ही दक्षिण में गया हो ?

शतरंज—एक पक्ष—“यै शतरंज का बड़ा माहिर हूँ। हाथी, घोड़े, खड़ीर, रथ, प्यादे सबको मार दूँगा।”<sup>२</sup>

इस खेल का जन्म भारत में ही हुआ है। हिन्दुओं से फरवों ने सीखा। शतरंज में हाथी, घोड़े, प्यादे आदि के साथ ‘रथ’ के भी मोहरे हैं। हिन्दी क्षेत्र के कुछ भागों में इसे ‘नक्कीमुट्टी’, ‘नाक्कीमुट्टी’ या ‘नाक्की दूधा’ कहते हैं। एक-दो-तीन-चार = नक्की या नाक्की, दूधा या दुक्का, तीसा या तिक्का, और मुट्टी या मुठो। गणियों की घसम दुपहरियों में किसान दाम-सते खँठकर खेलते हैं। पंतों-बीड़ियों की जगह रंज के बोल, महुए के कोयने, मूँगफली या मेम के बीजों का उपयोग भी हुआ करता है।—सं० हि० सं० ।

२. ‘सि० हा०’, भा० २, पृ० ५५ ।

होने थे। चतुरंग सेना तभी पूरी हो सकती थी। लेकिन सरकों के पास रथ नहीं थे। उनके लिए ऊँट ही प्रधान है। रथ की जगह उन्होंने ऊँट रथ लिये। सरकों से यूरोप ने सीखा। यूरोप में हाथी नहीं होते, इसलिए यूरोप वालों ने 'कास्ट' (Castll) रख लिये। चौपड़ इसके बाद ही चला था।

**शेर-बकरी**—इस खेल का प्रचार आन्ध्र में अत्यधिक है। मकानों के दानाओं में फसों पर, पत्थरों पर और मन्दिरों में भी शेर-बकरी के घर खुदवाये जाने थे। सोम इस खेल को बड़ी दक्षता के साथ खेला करते थे। आज भी, जब कि ताग के खेलों का ही हर वही बोल-बाला है, जहाँ-तहाँ इस खेल के माहिर बड़े-बूढ़े मिल जाते हैं। अब भी अगर इस खेल के पूरे व्योरे को नक़्शों के साथ पुस्तकालय में प्रकाशित नहीं किया गया तो जिस प्रकार हमारे पूर्वजों के दो-चार सौ साल पुराने खेल आज हमारी समझ में परे हों रहे हैं, उसी प्रकार यह खेल भी ताग के पत्तों की बाढ़ में बह जायगा।

**चौपड़**—बोस सान पहले तक यह खेल तेलगाने और रायन सीमा के घनदर धड़ल्ले में खेला जाता था। स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सभी खेलते थे। पर, अब इसका प्रचार कम हो गया है। अब 'बोगर' या तो चौपड़ के माने 'विशेष यान-श्रीडा' निम्न दोगे, या नाम ही गन्द-बोग में उड़ाकर अपनी जान बचायेंगे। यह कोई अच्छा खेल नहीं है। अनु-संपादन करने वालों की जानकारी के लिए हमने इनकी बात निम्न दी है।

### शेर-बकरी के विविध खेल

शेर-बकरी के प्रसिद्ध खेल के सम्बन्ध में एक कवि ने कहा है कि यह खेल तीन प्रकार का होता था। शेरों और बकरियों की संख्या भी अनग-अनग प्रकार के खेल में अनग-अनग होती है। पर हर खेल में बकरों द्वारा शेर को बेबस करने की चेष्टा की जाती है।

(१) एक प्रकार का खेल एक शेर और तीन बकरों में खेला जाता

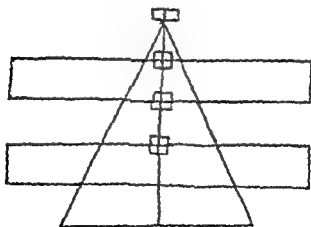


है। शेर के लिए बड़ी कंवड़ी और बकरों के लिए छोटी ककड़ियाँ रख ली जाती हैं। शेर को चोटी पर बिठाया जाता है। बकरी के पास पहुँचने पर शेर छलाँग मारकर उसे मार देता है। जब शेर की पीठ पर और कोई बकरा न हो, तो बकरे वाला पहले तीसरे घर पर बकरा बिठाता है और फिर शेर के पास वाले घर में दूसरे बकरे को बिठाता या पहुँचा देता है। शेर के बढ़ने के लिए घर न रहने पर खेल खत्म हो जाता है।



चित्र न० १

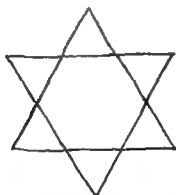
(२) दूसरी प्रकार के खेल में चार शेर और मोलह बकरे होते हैं। शेरों को बीच की लकीर पर एक के नीचे दूसरा बिठा दिया जाता



चित्र न० २

है। बकरे वाला पहले पास के घर को छोड़कर दूसरे घर पर बकरे को बिठाता है। फिर दोर वाला एक घर बढ़ता है तब बकरे वाला दूसरे बकरे को बिठा देता है। इसमें भी एक ही लकीर पर बकरे की पीठ पर कोई और बकरा न होने पर दोर फाँदकर उसे मार देता है। इस प्रकार सोलहो बकरो को बिठा चुकने के बाद, इस बीच में मर-खपकर जो बकरे बच रहते हैं, उन्हें बकरे वाला इस प्रकार हटाता और बढ़ाता है कि दोर दाह न पाकर बेबस हो जाय। बकरे मरते ही जायें और जीत की आशा न रहे, तो बकरे वाला हार मान लेता है, और बाजी समाप्त हो जाती है। ऐसी हालत में जीत दोर वाले की होती है और अगर दोर ही बँध जाय, तो बकरे वाले की जीत मानी जायगी।

(३) तीसरे प्रकार के खेल का पता मुझे नहीं था। मारेडपल्ली सिकन्दराबाद-निवासी श्री ताडेपल्ली कृष्णमूर्ति ने हमें इसकी बाबत लिख भेजा है। इसमें तीन दोर और चौदह या पन्द्रह बकरे होते हैं। पहले दोर वाला एक दोर बिठा देता है। फिर बकरे वाला बकरे बिठाता है



चित्र नं० ३

दूसरे दोर एक-एक करके तीन बाजियों में भाते हैं। खेल आगे बढ़ता है, इसमें दोर के हारने या बकरो के मरने पर खेल समाप्त होता है। यह

खेल उत्तर सरकार के इलाके में अधिक प्रचलित है ।

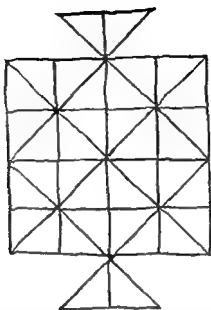
[ (४) दोर-बकरी के खेल का एक चौथा प्रकार भी है । अन्यकार को संभवतः इस चौथे प्रकार की जानकारी नहीं थी । अनुवादक को इसके खेलने का अनुभव है । इसमें दो दोर और चौबीस बकरे होते हैं । पहले दोनों दोर नवशे के बीचो-बीच बिठा दिये जाते हैं । बकरे बाया पहली ही बार घाठ बकरे उसके चारों ओर बिठा देता है । अब बाड़ी गुरु होती है । पहली बाड़ी में दोनों दोर एक साथ झलक दिशा में झुकाते हैं और दो बकरो को मार देते हैं । अब बकरे खाना भी दो नये बकरे बिठा देता है । कोई-कोई खिलाड़ी एक ही दोर को बड़ाता है । ऐसी हालत में बकरे वाले का भी एक ही नया बकरा बिठाना होगा । सारे बकरो को बिठा चुपने पर जो बकरे मरने में बच जाते हैं, उनमें दोर को बाँधने की कोशिश की जाती है । कम बकरे मारे जाने भयवा पम बकरो से दोर को बाँधने में बकरे वाले की बुद्धिमानी मानी जाती है । ]

हम खेल को खेलने की एक दूसरी भी पद्धति है । इसमें दोनों ओर बकरे ही होते हैं ।

[ दोनों ओर के गिट्टे बकरे नहीं कहलाते । परस्पर विरोधी जीव होते चाहिएँ । हम इसे 'मुगल पठान' का खेल कहते हैं । अनु० ]

दोनों तरफ मोलह-मोलह झलक-झलक रग के गिट्टे होते हैं । एक ओर का खिलाड़ी कबड़ी लेता है तो दूसरी ओर का टीकरी लेता है । दोनों अपने मारे गिट्टों को एक ही साथ अपनी-अपनी ओर बिठा लेते हैं । नवशे के बीच आड़ी सरीर खानी रगी जाती है । अब बाड़ी गुरु होती है । इसकी चालें भी दोर-बकरी की तरह होती हैं । अन्तर यह है कि इस खेल के अन्दर एक ही चाल में जिन ओर जाहे बूद-बूदकर बर्द गिट्टे मार सकते हैं । शर्त केवल इतनी है कि बूद मोपी सरीर पर हो ओर गिट्टे की पीठ का धर गानी हो । इसमें दोर-बकरी के खेल में भी अधिक आनन्द आता है ।

(५) घर घर—इस खेल में दोनों के नौ-नौ गिट्टे होते हैं । इसका



चित्र नं० ४

विधान कुछ भिन्न है। दोनों खिलाड़ी जहाँ भी चाहे अपना गिट्टा बिठा सकते हैं। हर एक की कोशिश यही होती है कि तीन गिट्टे एक सीध में कहीं पर बिठा दें। विपक्षी इस ताक में रहता है कि उसे ऐसा न करने दे और बीच में एक अपना गिट्टा बिठा दे। जैसे ही कोई खिलाड़ी अपने तीन गिट्टों को एक सीध में बिठाने में सफल होना है, वैसे ही 'चर' कहकर दूसरे के किसी एक गिट्टे को हटा देता है। इसी प्रकार भरे गिट्टे वाला भी अपने तीन गिट्टों को एक सीध में लाते ही 'पर' कहकर गिट्टा जिला लेता है। जिसके सब गिट्टे भर जायें वह हारता है। इस खेल के कई और नाम हैं। उत्तर सरकार में इसे 'दाडि' कहते हैं। उबन थो वृष्णमूर्ति ने ही हमें इसकी सूचना दी है।

'चरपर' को अत्यन्त प्राचीन खेल माना जाता है। कहते हैं कि

एशिया और यूरोप के सभी देशों में इस खेल का प्रचार था। खेलों के विशेषज्ञ श्री मोरहेड ने अपनी पुस्तक 'Pock book of games' में 'Mill' के नाम से एक खेल का वर्णन किया है। यह वर्णन 'चरपर' खेल से एकदम मिलता-जुलता है। मोरहेड ने लिखा है कि 'Mill' खेल के यूरोप-भर में बच्चा-बच्चा जानता है, पर गमरीवा-वासी इसे नहीं जानते। इसकी गिनती प्राचीन खेलों में भी होती है। एमेग के मन्दिरों में इसके 'घर' खुदे हुए थे। रोम की इंटों पर इसके चित्र थे। नावों-नौरेखों के जहाजों पर इसका नक्शा होता था।

कुए से हानि-लाभ के सम्बन्ध में भी प्राचीन साहित्य में बहुत-कुछ पाया जाता है। एक पद्य है :

"धन का अर्जन, पुराणादि का व्यवह, शास्त्र या योग-विधान,  
काव्य, नाटक, संगीत, याद्य क्या हो सकते हैं बुद्धि-समान ?"

यथा युक्त है कि प्राचीन काल में लोग पुराणादि को बड़ी श्रद्धा से सुना करते थे। यह भी उसीका एक प्रमाण है। योग-विधान में लोहे आदि धातुओं का सोना बनाना भी शामिल है। धातु भी कुछ व्यक्ति उसे 'योग' कहते हैं। उक्त पद्य के साथ आगे कहा है :

"धानुवाद धनिधर्म कुए से, जितसे निश्चय सत्यानाश !"

यमनोत्सव में राजा-महाराजाओं को विशेष रवि हांती थी। इससे यह उत्सव जनता में भी खूब फैला। दश-काटिका में वेद्याओं की दो टोलियाँ थी। वे यमनोत्सव के अवसर पर भीमेश्वर के सम्मुख नृत्य-गान किया करती थी। यमनोत्सवों में लोग एक-दूसरे पर 'नुमुमराज' चन्दन, हल्दी, चन्दन के लड्डू आदि फेंक मारते थे। विषकारियों में रग, अवीर, मुगन्ध-जल आदि भर-भरकर एक-दूसरे पर मारा करते थे। 'भीमेश्वर-पुराण', अध्याय ५, पद्य ११६ से पता चलता है कि लोग रग में तेल-पी आदि भी मिला दिया करते थे। धनी-मानी बाघ की कुपियों में बस्तूरी का पानी भर-भरकर एक-दूसरे पर छिड़कते थे। " 'कतह कंटक' नामक

१. 'सिंहासन दार्पणिका', भाग २, पृष्ठ ८६।

सैनिक वसंतोत्सव में से अपनी मूर्ध्नों पर पड़े 'सुगन्धित कर्पूर'ादि रज' को पोंछता हुआ भोड़ से बाहर निकला था ।" इससे भी प्रतीत होता है कि वसंतोत्सव सर्वप्रिय बन चुका था ।

नाटक में लोग बहुत रस लेते थे । प्राग् साहित्य में नाटको की चर्चा बार-बार आती है । यहाँ का नाटक मस्कृत नाटक अथवा संस्कृत विधान का अनुकरण-मान नहीं था । न जाने क्या कारण है कि बीसवीं शताब्दी तक तेलुगू साहित्य में संस्कृत-नाटक-विधान का अनुकरण नहीं हुआ । बड़े-बड़े कवियों ने भी 'यज्ञ-गान' लिखे । 'यज्ञगान' का नाम कैसे पड़ा इनका पता नहीं चलता । यज्ञगान संस्कृत शैली से सर्वदा भिन्न होने पे । 'दिसी कविता' के रूप में भारे दक्षिण देश में इनका बहुत प्रचार था । लोग इन यज्ञगानों को आदर तथा प्रेम के साथ देखते थे । प्राग् में एक जाति है 'जक्कुल' । ये लोग कामेश्वरी आदि देवियों को मानते हैं । उन्हें 'मूर्तस्वरूप', 'अकूने जोतू' आदि कहते हैं । प्राग् के कवि प्राचीन काल में ही 'जक्कुला पुरण्नी' का वर्णन करते आये हैं । वास्तव में यह 'जक्कु' ही 'यज्ञ' है । यज्ञ शब्द संस्कृत का नहीं है । सम्भवतः द्रविड शब्द 'नक्कु' को यज्ञ रूप देकर संस्कृत बना लिया गया है । यज्ञों की गिनती अनायों में होती है । यज्ञ, जिन्नर, गधवं, पन्नग, पिशाच, राजम आदि सभी वग्न अनाय ही हैं ।

किन्नरों को प्राचीन यूनानी किनारे (Kinaries) कहते थे । काश्मीर के पास गांधार के निवासी गधवं कहलाते । पन्नग मध्य एशिया के निवासी थे । तिब्बत और मंगोलिया निवासियों को पिशाच कहते थे । राजम (Araxes) नामक नदी के आस-पास के लोग हो सकते हैं । इसी प्रकार यज्ञ अक्षम (Oxus) अथवा यज्ञार्जस (Jaxartes) प्रान्तों के निवासी हो सकते हैं । यह भी हो सकता है कि ये यज्ञ वही यची हों, जिन्होंने इसी सम्बत् धारम्भ-काल में भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों पर आक्रमण करके वहाँ पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था । इन सब

का दक्षिण भारत के जुकुमो से भी कोई सम्बन्ध था भ्रयवा नहीं, यह कहना कठिन है। ऐसा भी हो सकता है कि यह नाच-गान की वृत्ति वाली जबकु जाति उन यक्षों की कथाओं को नाटकों में प्रदर्शित करने का धन्या करती हो हो तथा उन्हींके नाम रख लिये हों। शायद इसी कारण इनके नाटकों को 'यक्षगान' कहा जाने लगा हो। 'जबकु' और 'यक्ष' का सम्बन्ध चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, इतना तो निर्विवाद है कि यक्षगान का प्रचार दक्षिण देश में अत्यधिक मात्रा में था। यह कला जनता को प्रिय थी। यहाँ तक कि बड़े-बड़े कवि भी यक्षगानों की रचना किया करते थे।

यक्षगान का साहित्य हमें विजयनगर राज्य-नाल से प्राप्त होने लगता है। परन्तु इनका प्रचार उमने भी पहले रहा होगा इन बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। "यक्षगान-सरस्वती में जिसके यक्ष गाने गंधर्व।"।

पहले इस 'जबकुल' जाति के लोग ही नाटक रचते करते थे। और लोग गिरजी की कथाओं को नाटक के रूप में प्रदर्शित किया करते थे। पाल कुरिकी सोमनाथ-रचित 'पटिताराध्य चरित्र' के पर्वत-प्रकरण से सिद्ध होता है कि गंधर्व, यक्ष, विद्याधर आदि की भूमिकाएँ धारण करते थे।

किन्तु सम्भवतः बाद में जब वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार होने लगा, तो वैष्णव आचार्यों तथा राजाओं ने इन्हे वैष्णव धर्म में दीक्षित कराया होगा, वैष्णव-कथाओं को नाटक-रूप में लेनने के लिए प्रेरित किया होगा। तथा इस प्रभावशाली साधन का उपयोग वेध सम्प्रदायों को कुचलने तथा वैष्णव सम्प्रदाय के प्रचार के लिए किया होगा। भागवत की कथाओं को मंच पर लेनने के कारण यही लोग 'भागवतु' (भाग-वती) भी कहलाने लगे थे। श्रीनाथ ने भ्रयवा उमके मम्कालीन किर्गी और कवि ने एक जगह 'भागवतु वच्चिगाटु' के सम्बन्ध में कहा है कि यह स्त्री का स्वीय वनाउर बड़े ही आकर्षक रूप में नाचता और गाना

१. 'भीमेश्वर पुष्पण'।

या । एक स्त्री पेंडलानागी के सम्बन्ध में भी यही बात बही गई है । पुरुष-पात्र और स्त्री-पात्र दोनों ही के लिए वृत्चिजें नागी के तुग्घ नाम का प्रयोग इस बात को प्रकट करता है कि भागवत के खेल करने वाले हीन जाति के होने रहे होंगे । 'क्रीडाभिरामम्' को 'बीधि नाटकम्' कहा जाता है । 'बीधि' माने बाजार या मुहल्ला । 'क्रीडाभिरामम्' में कहा गया है — "दोर समुद्र में नट (नर्तक) गल (बरंगल) में बिड और बिनु-कोंडा में कपि रहते । सभी रसिक जन इनको प्रशंसा करते हैं । न जाने ब्रह्मा ने इस जितय को किस प्रकार रचा । किन्तु 'क्रीडाभिरामम्' मञ्च प्रदर्शन के योग्य नहीं है । यदि मंच पर उतारा भी जाय तो लोगों के लिए रोचक नहीं होगा । लोग उसे समझ भी नहीं सकेंगे ।" ये नाटक छुले में ही गेले जाते थे । कोई टिकट बर्गरा नहीं होता था । ग्रामाधिकारी या घनी-मानी खर्च देते थे । कुछ दिन खेल दिखाने के बाद नाटक वाले गाँव छोड़ने समय धर-धर जाकर कुछ घीर बमूल लेते थे । भले ही वे नीच माने जायें मयरा माँग खायें, पर उनके खेल सभी लोग श्रद्धा और प्रेम से देखा करते थे ।

घीर-गाथाएँ गा-गाकर सुनाने वालों की भी कुछ जातियाँ बन गई । पिच्चें कुण्टला जाति पल्लनाडि की घीर-गाथाएँ सुनाती है । नारमाराडु की कथा को गडरिये, और एल्लम्मा की कथा को ववन जाति के लोग, सुनाते हैं । इनके गाने भिन्न-भिन्न शैली के दोहों में होने हैं । एल्लम्मा की कथा का दूसरा नाम रेणुका की कथा भी है । यह बड़ी लम्बी-चौड़ी गाथा है । 'जबनिवा' नामक डोल बजाने हुए ववनी लोग दो-दो दिन तक कथा सुनाने हैं । पेद्देदेवरें की कथा का रिबाज रायल सीमा में है । पर यह कोई पौराणिक गाथा नहीं है । उक्त दोनों कथाएँ प्रायः झूठों में प्रचलित हैं । ब्राह्मणों में इसी प्रकार की एक कथा है जिसे 'वामेश्वरी कथा' कहा जाता है । यह कथा सवेरे शुरू होती है तो शाम तक चलती रहती है । सारी स्त्रियाँ बैठी ही रहती हैं । कदाचित् इसी पर एक कहावत चल पड़ी — "स्त्रियों के उठने तक तियार बोल



पड़े।" अर्थात् रान हो गई। इस कथा का प्रचलन कृष्णा-मोदावरी के इलाकों में अधिक है। श्रीदाभिराम से पता चलता है कि इस कथा को जबकू जाति के लोग सुनाया करते थे। 'श्रीदाभिरामम्' के भक्तगंत काम-वस्ती की जो चर्चा है वह इसी कथा से सम्बद्ध है। ये गाने लोगों को इतने पसन्द थे कि काम-काज करने वाले, मेहनत-मजूरी करने वाले, रहट चलाने वाले, भैठ निराने वाले पुरप सया कूटने-पीसने वाली स्त्रियाँ सभी पर मस्ती छा जाती थी। मस्त होकर गाते हुए लोग दारिद्रिक भयानक भूल-से जाते थे। पालकुरिकी ने इसके सम्बन्ध में कहा है—  
 "गरीब दिन-भर हाड़तोड़ मेहनत करके, शाम को चावल का भाँड या घाटे का गटका (पतली लोई), जो भी सामने डाल दो पीकर पड़े रहते, पर चाँदनी रातों में बेन्नेलागुडि घाटें गाना सुनकर उनकी आत्माएँ सुप्त हो जातीं। बेन्नेलागुडि घाटें (बन्दागान) क्या है यह तो नहीं मालूम, पर इसे शामद चाँदनी रातों में गाया ही जाता था। पालकुरिकी द्वारा सूचित 'बेन्नेलाघाटें' (बन्दा गीत) भी सम्भवतः यही है।"<sup>१</sup>

पुष्पवार—घोड़ा को चाल मिराना भी एक कला थी। इसके लिए बड़े अनुभव की आवश्यकता होती थी। कुछ पुष्पवार केवल घोड़ों को साधने और चाल मिराने के लिए ही होते थे। घोड़े की चालें विविध प्रकार की होती थी। उस समय के कवियों ने जिन चालों के उल्लेख किये हैं उनमें से ये हैं : जाड़ नय चाल, जगा चाल, सुरफी चाल, मगाल चाल आदि। घोड़ा ये इन शब्दों के जो अर्थ दिये हैं, उनमें इन चालों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। जैसे ओदनय=घना-दोरितरम्, जगना=पैर फँसाकर चलना, मगाल=अम्कदितम् (दाण्ड रतनाकर); किन्तु सुरफी के माने 'घोड़ा' दिया गया है, जो मदभं को देखते हुए जेंब नहीं पाता। चोरही भरने की धातुरीक चाल कहा जाता है। चोतिरिक् भी दाण्ड यही चाल है।<sup>२</sup>

१. सि० डा०, भा० २, पृ० ५६।

२. सि० डा०, भा० २, पृ० ४१।

चोरी-इकंती—चोरी, विशेषकर सेंध लगाने, घोर डाका पड़ने से लोगों को असहनीय कष्ट होता था। फिर भी बवियों के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि चोरी भी एक कला बन गई थी। संस्कृत-साहित्य में दंडि के 'दशकुमार चरित' तथा 'मृच्छकटिक' नाटक में चोरी के वर्णन पढ़ने पर ऐसा लगता है कि वह भी एक भानन्दमयी कला थी। उसी संस्कृत मर्यादा का अनुकरण करते हुए तेलुगू कवि कोरवी गोपराज ने चोर-विद्या का वर्णन इस प्रकार किया है :

"उपर गाँव के चौकीदार रात होने पर पहरे के लिए तैयार होते और उपर चोर काली के मन्दिर पर जाकर भक्त भाँगते कि आज भी रात उनकी चोरी सफल रहे।"

चोरों की अपनी तैयारी सुनिये :

"भालिबोर (बामुबुद्ध), मसान की राख, बीस नख, कुण्डा या कोंची, लाठी, दिया-बुझाऊ कीड़े, बीस की काँड़ियाँ, गेंवकाँटा, बेहोशी की दवाएँ, कंघी, नकबकार, नीले गेंद, काली पोत, इन सबको चतुराई से सँभालकर चोर चल पड़ते।"

और तब ।

"पहरेदारों पर मसान की राख छिड़ककर, बड़े फाटक का कुछ भाग खोद गिराकर राजकुमारी के महल में सेंध लगाकर बीस की काँड़ियों से कीड़ी को छोड़कर दिया बुझा डालकर।"

उक्त वर्णन में मसान की राख और दिया बुझाने वाले कीड़ी आदि चोरी के साधनों की बात कही गई है। चोरों का विश्वास था कि मसान की राख छिड़कने पर सोने वालों की नीद नहीं खुलती। वे पहरेदारों पर इसका प्रयोग करते थे।

सामान्ती पर दुर्गाधिपति पर्याप्त सेनाएँ रखते और उनके बदले में जागीर पाते थे। इन जागीरदारों की सेना को पालेम (पहरेदार) कहा जाता था।

‘वायु वस्त्र’ क्या है ? नकब के रास्ते हवा-घर के अन्दर न घुसे इसके लिए कपड़ा आड़े पकड़ते थे । यही ‘वायु-वस्त्र’ है । ‘चील नल’ के माने कोश में तो ‘चोरी का विशेष साधन’ भर है । इतना तो सभी जानते हैं, पर इससे काम नहीं चलता । जहाँ नकब या सेंथ लगता हो चोर पहले चील के नाखून से उस जगह तबीर चींचते थे और इस प्रकार अन्दाज करते थे कि दीवार नरम है या सख्त । सख्त दीवार नियतने पर दूसरी जगह नरम लगाते थे । यही ‘चील-नल’ का उपयोग था । तैलगाने के कुछ जिलों के अन्दर यह विश्वास था भी है । कुण्डा, लोहे की मोकदार टेढ़ी कील को बहने दें । इसे रस्सी से बांधकर घर के अन्दर छोड़ते । चोरी के मास की गठरी बांधकर उसे कुण्डे में लगा दिया जाता था और रस्सी को हिलाकर इशारा करते ही ऊपर वाले उसे खींच लेते थे । अन्त में अन्दर का चोर भी उसीसे टंगा ऊपर आ जाता । ऊपर वाले उसे भी उगी तरह बाहर कर लेने । बांस की बाँधियों में कीड़े-पतंगे रक्ते रहते थे । घर में यदि दिया जल रहा होता, तो कीड़े छोड़ दिये जाते । छुटते ही वे दिये पर टूट पड़ने और दिया बुझ जाता । ये बीन-में बीड़े होते थे, दग पर बाद में विचार करेंगे । ‘गेद काटा’ क्या है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता । हो सकता है कि नुपों से डोल आदि निवासने के भंवर की तरह का कोई काटा होता रहा हो । उम्र छन पर से रोपनदानों की राह पर के अन्दर छोड़कर इधर-उधर फेंकने से जो-शुछ कटि से दूर जाय, बाहर रोच लेने होंगे । ‘बानीपोन’ बदापिन् वदन पर पोतने की कोई कालिम्ब रही होगी । अँधेरे में बाने भून बनकर दूसरों की नजरो से बचने अथवा भयंकर भेस बनाने के लिए वदन पर कालिम्ब पोत तिया करने होंगे । चोरी के दून साधनों में से कई एक आज हमारी समझ के बाहर भी यन्तु बन गये हैं ।

एक दूसरे बवि निम्मा भवर न ‘परमयोगी-वितामसु’ में चोरी के साधनों के सम्बन्ध में लिखा है :

“लरिया, नकब घुरा, तिर का बाटा, चोबहु, नौली बट्टो, रेन,

चाँटीदान, चीलनख, गेंद कांटा, कँचो आदि ।”

‘निर का डाटा’ वह कपड़ा होना होगा, जिससे सिर के बालों को बांध रखें । नौली दट्टी से मतनव नीला कपड़ा है, अँधेरे में दिपने के लिए । रेत शायद इसलिए रखते थे कि कोई आगे आ पड़े या पीछा करे तब उसकी आँखों में भोज दी जाय । चीटी का शब्द दिया बुझाने के बीड़ों के लिए आया है । चीटियाँ दिपे को नहीं बुझा सकती । दिपे को देवनें ही झुण्ड-के-झुण्ड पिल पड़ने वाले बीड़े और भी कई प्रकार के होते हैं । परन्तु बाद के कवियों ने इनकी जगह भौरे का उल्लेख किया है । (कविवर गौरना का हरिश्चन्द्र उत्तर भाग, पृ० २२६) कवि वैकट-नाथ (म० १५५०) ने अपने ‘ध्वन्य’ (३-१६६-२००) में चोरो और उनके साधनों का बड़ा ही रोचक वर्णन दिया है :

“भवन दीपाहित भ्रमर, घातुका-भस्मि, सिर के डाट, चील-नख, कांटा तोरण, कमर की रस्सी, दिशा बंद, काबुबोददु, सेंध छुरा, खरिया, मायामंडु, ताल पांत, मंली लंगोटी, मोड पुराकु, सुपारी के धूरे की डिबिया, इकहरे चप्पल, साँप बिच्छू की दवा, मुक्ति बुद्धिकर औपधि, और काले कपड़ों से लंस टेढ़ी छोटी, चिक्ने शरीर और ताल-ताल आँगों वाला एक निडर चोर आया और गदत लगाने वाले पहरेदारों की आँख बचाकर भौके पर पहुँच गया । दीवार पर खरिया से घेरा लौंचकर उसने अच्छी तरह सेंध मारी । दीवार के पत्थरों को हटाया । हवा और रोशनी को रोकने के लिए सेंध पर काला कपड़ा गाड़े बांध दिया ।” हमने काफ़ी पहले मव १२५० में ही पालकुरिकी ने चोरी का वर्णन इस प्रकार किया है :

“छुरी खरिया, गेरमा वस्त्र, कतग्री, बालू, अक्षत (हल्दी धावल), गेंद कांटा, काला लता, कमरबंद, जाडूई काजल, कोडा, इकहरा चप्पल, मसान राख, घाटुरानु, कुकुर-मुँहबंद, कुण्डा, कटिरज्जु आदि से लंस होकर अडगडा नखब, देहरी नखब, दीवार नखब, मुरंग नखब आदि

सैंधे खोदकर घर में धुसा और चारों ओर परस कर..... ।”

उक्त पद्य में आये कुछ शब्दों के अर्थ शब्दकोश में भी नहीं हैं। ‘धातु महाभारत’ के एक पद्य का अभिप्राय यह है कि जिस घर में उत्सू, चील, दिया-बुझाऊ कीड़े आदि पहुँचें, उसमें शांति का अनुष्ठान कराना चाहिए। [ ४—११६ ] मूल संस्कृत महाभारत में इसीको यों कहा गया है :

“गृह्येतेन धापाय तथा चै तैल पायिकाः

उद्दीपकाश्च गुध्राश्च कपोताश्चमरास्तथा ।

निधिशेयुर्दंडा तत्र शान्तिमेव तदाचरेत्

धर्मगन्थानि चैतानि तयोत्क्रोशा महात्मनाम् ।”

तिलकट्टे, गोष, बबूतर, उद्दीपक (पहाड़ी चीटे) और भीरे। ‘उद्दीपक’ का अर्थ कोशकार ने ‘पहाड़ी चीटा’ बताया है। पता नहीं वे कैसे होने हैं। उत्सू की भाँस रात में चमकती है। इसलिए वह भी दीपक कहला सकता है। उगुगु भी रात में चमकते हैं। पर हमें इस महत्त्व में पड़ने की जरूरत नहीं। तिरात्रा सोमपात्री ने “दिग्वाधप्रपुरव” (धर्मात् ‘दिया बुझाने वाला कीड़ा’) शब्द प्रयुक्त किया है। दिये के लिए तैलुगु में ‘दिवा’ शब्द आया है, वस यही धर्मा है और वही इसका प्रयोग नहीं मिलता। दिवरी अथवा दिक्कटी मशान को कहते हैं। सम्भव है दिया से ही दिवरी बना हो। अस्तु, वह कीड़ा कौन है जो दिये को बुझाता है ? महाभारत के उक्त दशोक्त में भ्रमर आया है। हम देन बुके हैं कि एक कवि ने भीरों को दिया बुझाने वाला कीड़ा कहा है। तिरात्रा ने ‘भ्रमर’ की जगह उक्त मयुक्त शब्द का प्रयोग किया है। भ्रमः स्पष्ट है कि और दिया बुझाने के लिए जो कीड़े बाँस की कादियों में से आते थे, वे भीरे ही थे।

मंतारमनु अथवा मंतार भक्त—मंतार एक गाँव है, जहाँ औरभट्ट

१. ‘वसव पुराण’, २० १५४, १५५ ।

२. ‘महाभारत’ अनु०, ११४ अध्याय ।

का मन्दिर है। उस वीरभद्र के भक्तों को मैतारभट्ट (यानी सिपाही) कहते हैं। भक्तों को भट्ट (सिपाही) कहने का कारण यह हो सकता है कि भक्त लोग नीचे-सादे भजनानंदी होते हैं और भाग्य पर सतोष कर लेते हैं। वीरभद्र के ये भक्त ऐसे न थे। वे अपने देवता से बड़ी-बड़ी वीरोचित मन्त्रों माँगा करने थे। मन्त्र पूरी होने पर या भगले जन्म में पूरी होने की आशा से वे मन्दिर में जाकर भक्तिवत् भगवा मन्त्र पूरी कराने के लिए नाना प्रकार की आत्महिंसा करते थे। यह आत्महिंसा कभी-कभी जानलेवा भी साबित होती थी। 'क्रीडाभिरामम्' में इनका वर्णन इस प्रकार है :

“धकायक जलते सात अंगारों के विचित्र अग्नि-कुण्डों में प्रवेश करने वाले, नीचे गडों के अंदर गड़े हुए तुकीले त्रिगुलों पर झूला झूलकर कूद पड़ने वाले, सोहे का काँटा पीठ की चमड़ी में चुभाकर विशेष बाँस पर सोढ़ने वाले, सोने की मूठ वाले, करारे गंडासों को बिना किसी हिचक के निगल जाने वाले, शरीर के जोड़ों के भीतर बाण भगवा सूजे छेद लेने वाले, दोनों नंगी हथेलियों में कपूर-बत्ती जलाकर भगवान् की आरती करने वाले, धूमिमान् साहस ये वीर-हृदय मैतार वीर भट्ट हैं !”

आज भी वार्षिक नदी की सवारी के आगे वीर शैव जवडों में सूजे चुभोने हैं, दोनों (नगी) हथेलियों में कपूर के डले जलाकर भगवान् की आरती करने हैं। इसमें से एक भी बान झूठ नहीं है।

वाट नामक एक पादचात्य यात्री ने लिखा है कि विजयनगर राज्य में इन आत्म-हिंसायुक्त कृत्यों का प्रदर्शन होता था। उसने लिखा है कि लोग अपनी पीठ की चमड़ी में सोहे का काँटा चुभोकर उस काँटे को रस्सी से लटकाकर झूला झूला करते थे, और इसी प्रकार के दूसरे साहस-पूर्ण कार्य करते थे। आग में चलने, सूजा चुभोने और हथेली पर कपूर जलाने की विधि शैवों में आज भी पाई जाती है।

बूचीपूड़ी भरत-नाट्य का केन्द्र था। यहाँ बाने सम्भवतः शास्त्रीय विधि से उन नाट्य-भगिमाओं का प्रदर्शन किया करते थे। साधारण

: ४ :

## विजयनगर साम्राज्य-काल (सन् १३३६ से १५३० ई०)

धर्म

आध्र देश में जिन समय एक ओर रेड्डी राज्य तथा बेलमा राज्य का उदय हो रहा था, उसी समय दूसरी ओर विजयनगर साम्राज्य का प्रादुर्भाव हो रहा था। इसलिए रेड्डी राज्य के साथ विजयनगर की घर्षा भी आवश्यक है। इस अध्याय में विजयनगर राज्य की स्थापना से लेकर श्री कृष्णदेवराय के काल तक के विषयों की घर्षा होगी।

अधिकतर इतिहासकारों का मत है कि विजयनगर राज्य की स्थापना सन् १३३६ ई० में हुई थी। श्री कृष्णदेवराय का देहान्त सन् १५३० ई० में हुआ। सन् १५६५ में तानीगोट की लड़ाई में यहाँ का अन्तिम राजा रामराज मारा गया। साथ ही दक्षिणी मुगलमनों ने अग्यन क्रूरता के साथ विजयनगर को तहस-नहस कर डाला। फिर राजा तिरुमलराय ने पेनुगोडा में पैर जमाकर मुगलमनों के आक्रमणों का विरोध किया तथा कुतन्त्रत पूर्वक शासन करने लगा। किन्तु बाद में राजा श्री रंगराय ने अपनी दुर्बलता के कारण पेनुगोडा को छोड़कर चन्द्रगिरि में अपनी राजधानी बनाई। शासन-कार्य ज्यों-ज्यों चलता रहा। अन्त में सन् १६२० के लगभग विजयनगर राज्य का नामो-निशान तक मिट गया। इस अध्याय में सन् १५३० तक की घर्षा होगी, उसके

बाद सन् १६२६ तक के विषयों की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे ।

वरतन राज्य की मरिटिमेट कर चुकने के बाद मुसलमान फिर सारे तेलुगू-देश पर छा गए, और जनता पर बे-रोक-टोक घोर अत्याचार करने लगे । उसी समय प्रोब्लमकाप नायक ने मुसलमानों को सदेड दिया । रेड्डी तथा वेल्मा राजाघों ने भी उसी नीति का अनुकरण किया । इन सभी के प्रबल प्रतिरोध के कारण तेलुगू-देश की घरतों पर मुसलमानों का पैगाचिक ताड़व नृत्य चार-पाँच साल में अधिक नहीं चल सका । विन्नु मन्निक काकूर दिल्ली में पुच्छन सारे की तरह कुच्छ ऐसा छूटा कि सारे दक्षिण देश को रोदता हुआ घोर जो भी सामने पड़ गया उस पर अधिकार करता हुआ अपनी सारी दड-पाना को विजय-यात्रा में परिणत करना निकल गया । जो भी हाथ लगा उसीसे मोना बनाता हुआ वह घाघ्र-देश को पार कर गया और तमिजनाड के पाड्य राज्य का चिनास करके मदुरा (मदुरा) में मुस्लिम राज्य की स्थापना की । वहाँ पर लग-भग पचास वर्ष के छन्दर साल मुसलमानों ने राज्य किया और हिन्दुओं पर मनमाने अत्याचार किये । घाघ्र पर उनका आचिरत्य तो न था, फिर भी उनकी करतून सब जगह एक-सी थी । तेलुगू जनता को जिन दुर्मानाघों का शिकार होना पड़ा, उनकी बानसी के गौर पर कुछेक की चर्चा यहाँ की जाती है ।

कम्पराय की परनी शिरोमणि गंगादेवी ने 'बीर कम्पराय चरित्रम्' के नाम से एक काव्य लिखा । उनका एक और काव्य 'मदुरा विजयम्' भी है । वह एक वास्तविक इतिहास-ग्रन्थ है । सन् १९७१ में कम्पराय ने मदुरा में मुसलमानों को मार भगाया था ।

'मदुरा विजयम्' की कथा इस प्रकार है :

एक स्त्री ने काजीवरम् में कम्पराय में भिनकर मदुरा के मुसलमानों की मत्रलिस का ब्योरा सुनाया :

अधिरंजनराज्य योग निद्राम हरिभुद्रेजयतीति ज्ञानभोनिः ।

पतिनाभहृरिहृकानिकायम् फलचक्रेण निवारयत्यहीन्द्रः ।



शेषशायी भगवान् की योग-निद्रा भग्न न हो इस विचार से मन्दिर के प्राकार की ईंटें टूट-टूटकर गिरने पर शेष भगवान् ही अपने फल पर पामे हुए हैं। साराश यह है कि यहाँ साँप रेंग रहे हैं।

धृष्ट जग्य कवाट सम्पुटानि स्फुट दूर्वाकुर संधि मंडपानि ।

इत्यगभं गृहाणि दीप्य द्रुये भृशमन्यान्यपि देवता कुलानि ।

अर्थात् मन्दिर के किवाड़ों की दीमक खाट गई है; मंडपों में दरारें पड़ गई हैं और उनमें धाम उग आई है, गर्भ-गृह बह गए हैं, यही दशा दूसरे मन्दिरों की भी है।

मुल्लराणि पुरा भृदंग घोषंरमितो देव कुलानि मान्यभूवन् ।

तुमुलानि भवति फेरघाणाम् निनदंस्तानि भयंकरि दानोम् ॥

अर्थात्—जहाँ भृदंग वजते थे वहाँ भय सिंघार खोलने हैं।

सतताध्वर धूम सौरभः प्राङ्निगमोऽप्येष बहिरप्रहारः ।

अधुना जनिविप्र मोक्ष गंधैरपि क्लीब तुमुत्कर्षितहनादः ॥

अर्थात् ब्राह्मण अग्रहारों के हवनो के धुएँ की जगह भास भूमने का धुआँ उठ रहा है। सस्वर वेद-धोष के बदले अनुदास वकंता तुकें भजानें हो रहे गई हैं।

मयुरोपवनम् निरीक्ष्य द्रुये बहूनाः खंडित नारि केति पंडम् ।

परितो नृकरोरि कोटि हार प्रवसच्छूल परम्परापरीतम् ॥

अर्थात्, मदुरा नगर के नारियल के कुछ काट दिये गए हैं और उनके बदले धूलों पर नरमुण्ड लटक रहे हैं।

रमणीयतरो बभूव मस्मिन् रमणीनाम् मणिनूपुर प्रणादः ।

द्विज शृङ्गलिका सतात् त्रिधाभि कुक्षे राजपथ स्मरणांगुलम् ॥

त्रिज मदुरा नगरी की गदवों पर रमणियों के नूपुर भजनने से, वहाँ भय ब्राह्मणों के पैरों की बेढियाँ गनक रही हैं।

स्तनचंदन पांडु साययर्ष्यस्तदणो नामभयन् पुरत पदामः ।

तदस्मृग्भिदयं विशोऽणिमानम् निरुतानामग्नितगधाम् नृशंसः ॥

जिस साययर्षी नदों की भाभा पढ़ने मुषतियों के स्तन चंदन से

पादुर रहती थी, वह अब हत्या की हुई गीलों के स्मिर से लाल हो उठी है !

इतिमितानिन शोषितायराणि इत्यमीर्यायननूतं कुन्तलानि ।

बहुराज्य परिप्लुनेश्वरानि इमिद्वानाम् बदनायि दीश्य दूये ॥

आहो, मूत्रे होठों, दिवरे बातों और निरन्तर दण्डवाई घाँसों वाली इविड महिनाघों को देता नहीं जाता !

धुनिरस्तमिता नयः प्रलीनो विदता धर्म-कथा ध्युनम् चरित्रम् ।

मुहुरन्म् गन्मन्निजात्यमस्तम् किमिवाग्यन् कतिरेक एव धग्यः ॥

वहाँ की परिस्थितियों का वर्णन यदि एक वाक्य में सुनना हो तो बेशी का धन्य हो गया है, नैतिकता बिलीन हो चुकी है, धर्म की तिला-ज्वनि ही जा चुकी है, चरित्र का पतन हो चुका है, सदाचार छट्ट हो चुका है, कुमौजना का नाच हो चुका है, हाँ, यदि कोई धन्य हुआ है तो वह भक्तेला 'कनि देव' है ।<sup>१</sup>

गंगादेवी के इस वर्णन की ग्रामाणिकता के सम्बन्ध में और-तो-और स्वयं एक घरब यात्री (इम बहूना) ने, जो इन दिनों भारत को यात्रा कर रहा था, अपनी घाँसों देसी बात इस प्रकार लिखी है :

“मुलतान गयामुदीन जब मदुरा में राग्य कर रहा था तो उसने हिन्दुओं को बड़ी यातनाएँ दीं । एक बार मुलतान जंगल से मदुरा लौट रहा था । मैं (इम बहूना) उसके साथ था । रास्ते में उसे बहुत-से बुन-परसन (हिन्दु) अपनी स्त्री-बच्चों के साथ बीस पड़े । ये लोग जंगलों को बाहर मुलतान के लिए रास्ता बनाने के लिए नियुक्त किये गए थे । मुलतान ने उनके निरों पर सीढ़ी की कुकीली छड़े लटका दिये । सवेरा होते ही उन्हें बार हिम्सों में बाँटकर शहर के चारों बड़े दरवाजों पर भिन्न-भिन्न दिशा । लोहे की उन्हीं छड़ों को दरवाजों पर गड़वाकर उन अभागों को उन पर छेदकर टाँग दिया गया ।”

मुनतमानों की बदनी के कई कारण थे । एक विशेष कारण यह

१. 'मदुरा विजयम्', अष्टम सर्ग ।

था कि साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दुओं के अन्दर आपस में मनमुटाव काफी पैदा हो चुका था। कावर्तीय युग में शैव-मम्प्रदाय की बढ़ती को हम देख आए हैं। विजयनगर साम्राज्य के साथ वैष्णव धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। तब तक दक्षिण के आचार्यश्रम सुप्रसिद्ध अकराचार्य, रामा-नृजाचार्य तथा मध्वाचार्य के कर्मशर्द्धत, शर्द्धत तथा विनिष्ट शर्द्धत सत्त्वों ने लोगों के दिलों में घर कर लिया था। चौड़ों तथा जनों की कोई गिनती नहीं रही थी। शत्रु रहे शैव और वैष्णव। शैवों ने पहले वैष्णवों को जो भरकर गालियाँ सुनाईं। शिवजी के निवा किसी और देवता को मानने वालों को उन्होंने पैरो-तने कुचन डाला। ऐसी अनेक झूठ-मूठ की कथा-कहानियाँ गूढ़ डाली कि शिवजी से बर पाकर विष्णु (भगवान्) ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। स्वयं श्री कृष्णदेवराय ने अपने 'शामुकन भाष्यदा' में कहा है कि शैव प्रमुखा ने अन्य धर्मावलम्बियों पर प्रत्याचार किये तथा उनके मन्दिरों को तोड़कर उनकी जगह शैव-मठों की स्थापना की। उसमें कहा है कि विष्णुगुप्त नामक एक पाण्ड्य राजा से स्वयं रंगनाथ भगवान् ने या कहा था :

"शैव पागलपन इतना बढ़ गया है कि अब वह मेरी विनती पर कान नहीं धरता, विड्यास भी नहीं करता। हमारी मूर्तियों के प्रति कहता है कि महादेव शिव हो इसके भी आधार हैं। हमारे मन्दिरों के उरसर्षों के लिए भी अब यही नीति चल पड़ी है। देवत ब्राह्मणों की पूजा के बदले शैव जगमों की पूजा में मग्न रहता है। गुरुदेव मरसते रहते हैं और रविवार के दिन शैव कीरभद्र भगवान् को पासी चढ़ाता है। सकर दासमय्या के भक्तजनों के दिव्यान्वये धाड़ करता है। अनावि काल से चले आ रहे मंदिर धराशायी हो गए हैं और उपर वह शैव मठों की स्थापना किये जाता है। उत्तर शैव धर्म को अपनाकर यह जनेऊ तोड़ डालता है। पवित्र देवों की ही आराध्य मानकर उन्हीने उपनिषदों की कथा गुनता है। जहाँ-तहाँ जंगम की देसते हो धररा उठता है तथा शिवातिग पारण किये हुए लोग यदि कुछ बुरा भी कर घंटे तो ही-

या कि साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दुओं के अन्दर आपस में मनमुट काफ़ी पैदा हो चुका था। काफ़्तीय युग में शैव-सम्प्रदाय की बढ़ती २ हम देख आए हैं। विजयनगर साम्राज्य के साथ वैष्णव धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। तब तक दक्षिण के आचार्यश्रय सुप्रसिद्ध चक्राचार्य, रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य के क्रमशः द्रष्ट, धर्तृत तथा विशिष्ट धर्तृत सत्त्वों ने लोगों के दिलों में घर कर लिया था। बौद्धों तथा जनों की कोई गिनती नहीं रही थी। अब रहे शैव और वैष्णव। शैवों ने पहले वैष्णवों को जी भरकर गावियाँ मुनाई। शिवजी के सिया किसी और देवता को मानने वालों को उन्होंने पैरो-तपे कुचल डाला। ऐसी अनेक झूठ-मूठ की कथा-कहानियाँ गूढ़ डाली कि शिवजी से बर पाकर विष्णु (भगवान्) ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। स्वयं भी कृष्णदेवराय ने अपने 'आमुक्त मात्मदा' में कहा है कि शैव प्रभुओं ने अन्य धर्मावलम्बियों पर घरायाचार किये तथा उनके मन्दिरों का तोड़कर उनकी जगह शैव-मठों की स्थापना की। उसमें कहा है कि विष्णुगुप्त नामक एक पादय राजा से स्वयं रमनाथ भगवान् ने यों कहा था :

“शैव पागलपन इतना बढ़ गया है कि अब वह मेरी विनती पर काम नहीं धरता, विद्रोह भी नहीं करता। हमारी पूतियों के प्रति कहता है कि महादेव शिव ही इसके भी आधार हैं। हमारे मन्दिरों के उत्सवों के लिए भी अब यही नीति खस पड़ी है। बंदन ब्राह्मणों की पूजा के बढते शैव जगमों की पूजा में मग्न रहता है। गृहदेव तरसते रहते हैं और रविवार के दिन शैव औरभद्र भगवान् को वाली धड़ाता है। सऊर दासमय्या के भक्तजनों के छिमानवे धाड़ करता है। अनावि काल से घरे आ रहे मंदिर घराशायी हो गए हैं और उधर वह शैव मठों की स्थापना किये जाता है। उत्तर शैव धर्म को घपनाकर वह अनेक तोड़ डालता है। पतिव देवों की हो धाराध्य मानकर उन्हीसे उपनिषदों की कथा मुनता है। जहाँ-तहाँ जंगम को देखते हो धबरा उठता है तथा शिवालिंग धारण किये हुए लोग यदि कुछ बुरा भी कर बैठें तो ही-

था कि साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दुओं के शन्दर आपस में मनमुटाव काफी पैदा हो चुका था। कावतीय युग में शैव-सम्प्रदाय की बढती को हम देख आते हैं। विजयनगर साम्राज्य के साथ वैष्णव धर्म का प्रचार बढने लगा। तब तक दक्षिण के माचार्यय सुप्रसिद्ध अकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य के क्रमशः द्रष्ट, अर्द्धत तथा विशिष्ट अर्द्धत तत्त्वों ने लोगों के दिलों में घर कर लिया था। बौद्धों तथा जैनो की कोई गिनती नहीं रही थी। अब रहे शैव और वैष्णव। शैवों ने पहले वैष्णवों को जी भरकर गालियाँ सुनाईं। शिवजी के सिवा किसी और देवता को मानने वालों को उन्होंने पैरो-तले कुचल डाला। ऐसी अनेक झूठ-भूठ की कथा-कहानियाँ गूँथ डाली कि शिवजी से वर पाकर विष्णु (भगवान्) ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। स्वयं श्री कृष्णदेवराय ने अपने 'मामुवन भाव्यदा' में कहा है कि शैव प्रमुओं ने अन्य धर्मावलम्बियों पर अत्याचार किये तथा उनके मन्दिरों को तोड़कर उनकी जगह शैव-मठों की स्थापना की। उसमें कहा है कि विष्णुगुप्त नामक एक पाल्य राजा से स्वयं रघुनाथ भगवान् ने यों कहा था :

“शैव पागलपन इतना बढ़ गया है कि अब वह मेरी गिनती पर काग नहीं धरता, विद्वान् भी नहीं करता। हमारी मूर्तियों के प्रति कहता है कि महादेव शिव ही इसके भी आधार हैं। हमारे मन्दिरों के उत्सवों के लिए भी अब यही नीति चल पड़ी है। वेदों बाह्यलों की पूजा के बजाये शैव जगमों की पूजा में मान रहता है। गुरुदेव तरसते रहते हैं और रविवार के दिन शैव और भद्र भगवान् को पाली चढ़ाता है। सकल शासकों के भक्तजनों के द्विपानये थाढ़ करता है। अनादि काल ॥ चले आ रहे मंदिर धराशायी हो गए हैं और ऊपर वह शैव मठों की स्थापना किये जाता है। उत्तर शैव धर्म को अपनाकर वह जनेऊ तोड़ डालता है। पवित्र देवों को ही आराध्य मानकर उन्होंने उपनिषदों की कथा भुनक्ता है। जहाँ तहाँ जंगम को देखते ही घबरा उठता है तथा शिवलिंग धारण किये हुए लोग यदि कुछ बुरा भी कर बंटें तो ही-

ना, नहीं करता ! ऐसे समय में जो ब्राह्मण यह कहें कि यह सब ठीक किया, उन्हींको अपहरण आदि ग्राम दान देता है ।”<sup>१</sup>

अपने शैवाचार्य गाँजा भी पी लें तो पाऊन-नरेश देखों-अनदेखी कर देता था । पर यदि किसी ब्राह्मण ने तनिक भी त्रुटि ही जाय तो उसे पंचापन में निमटवाना और सजा दिताना था । लोगों की स्थिति यह थी कि पसन्द हो या न हो, सभी अनेक निश्चितकर निग धारण कर लेते थे, श्राद्ध माना गये में पहन लेते थे, और बगल में बीर शंख ग्रन्थों को दबाये घूमा करते थे ।

जब राजा और आचार्य प्रजा को इस प्रकार सनाया करें तब यदि लोगों में परस्पर द्वेष, राज-द्रोह और देव-द्रोह की भावनाएँ जाग पड़ें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

‘काल हस्तीश्वर शतक’ नामक एक पुस्तक है । कहा जाता है कि उसे धूर्जटि ने लिखा है । किन्तु उसकी शैली से स्पष्ट है कि वह धूर्जटि की नहीं है । खैर, किसी ने भी लिखा हो, उसका प्रचार काफी था । आज भी वह पढ़ी-पढ़ाई जाती है । उस समय की परिस्थितियों पर इन पुस्तक से अच्छा प्रकाश पड़ता है । पुस्तक विष्णु-दूषण से भरी हुई है । जैसे—  
“श्री लक्ष्मीपति सेविनांश्च युगलां श्री काल हस्तीश्वरां !” “श्री रामा-चिन पादपद्म युगलां श्री काल हस्तीश्वरां !” आदि शब्द जब विष्णु भगवान् को इस प्रकार निवजी के चरणों में ढालने लगे, तो वैष्णव धुन पोड़े ही बैठ सकने थे ? उन्होंने भी निव को विष्णु के चरणों में ना पसीटा । ताड़ना पाक तिर बैंगलनाथ ने अपने ‘परम योगी विनायक’ में निव को भरपूर गानियाँ सुनाई हैं । यह पन्थपर लिखे पद्यों तक बता कि दोनों एक-दूसरे को चाहात, पावन्शी और पापी कहने लगे । एक-दूसरे की मूर्खता नहीं देखते थे । वही एक-दूसरे में छू जाने पर स्नान करके सारे कपड़ों को धो ढालते थे ।

धर्माचार्यों ने अपने अनुयायियों को मुक्तिदान दिया । भले ही वे

१. ‘आधुन माल्यदा’, ४-४२, ४४ ।

चोर-धारू क्यों न हों, बाँजा-बाराब क्यों न पीते हों, व्याभिवार क्यों न करते हों, हत्या क्यों न करते हो ! भलग-भलग धर्माचार्यों के मुक्ति-धाम भी भलग-भलग थे । सँव मुक्ति पाकर कैलाश पहुँचता तो वैष्णव वैकुण्ठ में । आज तक यही सितसिता चर रहा है। स्वयं किया तो किया, उन्होंने देवताओं से भी नीब-से-नीब काम करवाये । वल्लिपत नयामो से लोगो के दिलों में इस प्रकार का विश्वास बिठा दिया कि देवता भी ऐसे ही हैं ।

‘बाल हस्ती रातक’ में एक पद्य यह भी है :

“हे महादेव, तुम्हें मैं किस रूप में भजूँ, छुटने के रूप में, स्त्री के रूप में, उसके स्तन के रूप में, धपवा बकरी की भेगतों के रूप में ?”

उसी प्रकार वैष्णवों ने विप्रनारायण में वेदया-श्रवण करवाकर उसे रगनाथ भगवान् के हाथों घोरी का माल दिसवाया ।

ऐसी बयामो के गढ़ने वालों ने यह भी नहीं सोचा कि अपने सम्प्रदाय का प्रचार यदि हो भी जाय तो उसके साथ समाज का नैतिक पतन किस घुरी तरह होगा । सँवो को गुड़ करके वैष्णव बनाने और पैगव्यों को सँव बनाने की परिपाटी चल पड़ी थी । विजयनगर काल में सँवो का जोर दीक्षा पड़ा । क्योंकि पड़िताराम्य सोमनाथ-जैसे प्रचारक भ्रम नहीं रह गए थे ।

फिर भी, जिन जहाँ भौरा बिना, अपना छट्टा जमाया । सँवो ने बिज्जन राज में डेरा डाला तो वैष्णवों ने विजयनगर तथा रेड्डी बेलमा राज्यों में पैर जमा निम्ने । जहाँ-तहाँ विरोधी सम्प्रदायों का जोर पक्का । अन्य सम्प्रदायों की जनता पर तरह-तरह के धमकाचार करने में किसी ने तनिक भी मनोप नहीं किया । सँवो ने जैन मन्दिरों पर बरसा कर दिया, और उन्हें शिवानयों में परिणत कर डाला । बगीमनगर (हैदराबाद) जिन के वेमुनवाडा नामक स्थान में शिवानय के सामने प्राचीन जैन मूर्तियाँ अपनी दु स्थिति का रोगा री रही हैं । गदवाल गहमीन के पूरुष धाम में पश्चिमी बानुषों के शिवा-नेत्र सबे हैं । उनी सँव में एक शिवाना भी

है। पुरानी जैन मूर्तियों को मन्दिर में बाहर रख दिया गया है। शैवों की देवा-देवी वंष्णवों ने भी जैनो को यातनाएँ देनी शुरू कर दीं। मैसूर में अभी कुछ जैन बच रहे थे। श्री वंष्णवों ने उन्हें मार-पीटकर बेल-गोया के उनके मन्दिरों को ढा दिया। राजा बुक्का देवराय ने उनमें समझौता करवाकर वंष्णवों के हाथों ढाये गए मन्दिरों की मरम्मत करवा दी।<sup>१</sup>

विजयनगर के महाराजाओं ने धार्मिक महिष्णुत्रा का प्रच्छा परिचय दिया। ऐसे समय में जब हि मुस्लिम विजेता जहाँ पहुँचते वही हिन्दुओं को मारने, धर्म-परिवर्तन करते, उनके ग्रन्थों की होली जलाते, उनके मन्दिरों को ढाते और नाना प्रकार के शोभस ताडव करते फिरते थे। तब हिन्दुओं में एकता की स्थापना ही मुख्य राजनीति-सी बन गई थी। उन दिनों जो विदेशी यानी भारत माने थे, वे विजयनगर की सम-दृष्टि देखकर दग रह जाते थे। तो भी मताचार्यों तथा जनसाधारण में इस गुण का अभाव ही था।

मदुरा राज्य में मुमनमानों के अत्याचारों के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है। उसी प्रकार आंध्र बर्गाटक के अन्दर भी उनके क्रूर कृत्य जारी थे। कृष्णादेव राय ने भी इस पर रोद प्रकट किया है :

“सनराहि दिदिन मस्सरी फाल गोपीचंदन की पुच्छुवतिलमो चाट-चाट,  
हा-हा-हू-हू कर धनुष-बोर की तरह गले में पड़े जनेऊ सोंच-सोंच घों

काट-काट,

छाया पय-रेतो से सप्तदि-रचित पार्थिव शिख की जूनों से रौंद-रौंद घों

कुधल-कुधल,

रंभा-मी मुग्गरियों के पीन पयोपर निर्दयता से धर-धर मसल-मसल  
ढामे जिमने, नाना जघन्य कृत्यों के पापी बल्लुबुरगो<sup>२</sup> मुतनानों की

१. Vijayanagar Sixcentenary commemoration Volume page 42 पर आगे इसे V. S. C. कहेंगे।

२. गुलबर्गा वाले।



वह सगरपुरी, यावनी बाहिनी तेरी' अस्ति ने काद मुत्तुमुख में भोंकी !"

महाकवि अल्लसानि पेद्दना ने चद्र को सम्बोधित करते हुए कहा है :  
"तू तो मोवष करने वाले मुसलमानों का देव है ।"

### सैनिक व्यवस्था

मुस्लिम विजय के कारणों में ने एक कारण था हिन्दुओं का परस्पर साम्प्रदायिक विद्वेष । दूसरा कारण था इनमें सैनिक व्यवस्था की कमी । इसके विपरीत मुसलमानों में एकता थी, और साथ ही अपने धर्म के प्रचार के लिए अगाध उत्साह भी था । मुसलमानों कीजों में पुद्गलवार अधिक थे और वे सैनिक दृष्टि से अच्छे थे । दक्षिण भारत में ऐसे घोड़ों की बड़ी कमी थी । अरब और फारस से उनका आयात होता था । अरबों और ईरानियों ने घोड़ों के व्यापार में अरबों रुपये कमाये थे । स्वभावतः वह पहले अपने धर्म-भाई भारतीय मुसलमानों को ही सप्लाई करते थे । विजयनगर के महाराजाओं ने अपने अस्त्रदल की कमी को आदर्भ में ही समझ लिया था । इसलिए वे अपनी पुद्गलवार सेना को बढ़ाने में तदा तत्प्रेष्ट रहे । दक्षिण में छोटे विदेशों से जहाजों पर आने थे । गमुद्र-यात्रा में जो छोटे रास्ते में मर जाने थे उनकी दुम लाकर दिग्गजों पर भी महाराजा को उसका मूल्य देना पड़ता था । एक घोड़े की कीमत बीस पौंड तक थी । कृष्णदेव राय ने पुनर्गाली व्यापारियों से वादा किया था कि बीस पौंड की रात के हिमाय में १००० घोड़ों के लिए उन्हें २०००० पौंड देंगे । हिन्दू सेना की दूसरी त्रुटि यह थी कि इनके पास तोप-सङ्का और गोल्ला-बाण्ड पर्याप्त न था । इनका प्रयोग भी हिन्दू सैनिक नहीं जानते थे । इसे उन्होंने मुसलमानों से ही सीखा । मुसलमानों की मुद्र-बना भी हिन्दुओं की तुलना में बड़ी-बड़ी थी । हिन्दू-पने-मुद्र की

१. तेरी अर्पान् विजयनगर के प्रतापी महाराज कृष्णदेवराय की ।

२. 'आधुनिकमात्मदा', १-४१ ।

३. 'मनु चरित्र', ३-४२ ।

परम्परा में पले थे। उधर मुसलमानों के पास युद्ध-धर्म नाम की कोई चीज न थी। हिन्दू अभी पुराणों के पुराने युग से निवृत्त नहीं पाये थे। तृतीय मल्लराज ने जब मदुरा के सुलतान पर चढ़ाई करके किले को घेर लिया, तो सुलतान ने निराश होकर सुलह की शर्त करने के लिए मुहलत मांगी। मल्लराज मान गया। किन्तु जब हिन्दू सेनाएँ रात में निश्चित हो रही थी, तब मुसलमानों ने सोती हुई सेनाओं पर घावा बोलकर मल्लाहों की 'सौस्तिक प्रत्यक्ष' कर डाली अर्थात् कत्ले-आम मचा दिया। अन्त में वे राजा को जीवित पकड़ ले गए। हरजाना दाखिल करने पर ही राजा को छोड़ने की राखी हुए। इस प्रकार जितना धन मिल सकता था वसूल करके उन्होंने मल्लाहों को बगाल बना दिया। और इसके बाद भी अन्त में राजा की खान जीने-जी खीच ली गई और उसकी लाश को शहर के फाटक पर टांग दिया गया। हिन्दू बार-बार मार खाते रहे। गौरी और प्रहली में लेकर औरंगजेब तर हर आक्रमण से थोड़ा-ही-थोड़ा साते रहे, पर इनमें कोई सबक नहीं सीखा। "अलाउद्दीन खिलजी ने यह जानकर दक्षिण पक्ष पर चढ़ाई की कि दक्षिण भारत के हिन्दू राजाओं के पास अपार धन-राशि है, उनमें एकता का अभाव है, सदा सबने बढ़कर यह कि हिन्दू सेना की बुनियादें कमजोर हैं।"<sup>१</sup>

हिन्दुओं की दूसरी बड़ी यह थी कि जीतने पर भी वे शत्रुओं को कुचलने से हाथ रोक लेते। ऐसा नहीं करते थे कि सदा के लिए दबा डालें, तब ही वे फिर कभी सिर उठाने का नाम न ले सकें। रामचूर युद्ध में हिन्दू जीते, मुसलमान हारपर मैदान से भागे। कृष्णदेव राय ने अपने सेनानियों के साथ गमनाने पर भी भागने वालों पर हाथ उठाने की अनुमति नहीं दी। उन्होंने कहा, यह धर्म के विरुद्ध है। यह देखकर एक यूरोपीय मात्री चकित रह गया था।<sup>२</sup>

जब उम्मुतूर को परास्त करने पर भी कृष्णदेव राय ने पराजित

१. V. S. C. पृष्ठ २६।

२. V. S. C. पृष्ठ १८३।

राजा को ही फिर से राजगद्दी पर स्थापित किया तब मुसलमानों का राजतन्त्र इस प्रकार का न था। उनकी राजनीति यही थी कि शत्रु के गिरते ही उसे पूरी तरह मिट्टी में मिला डालो तथा उसकी प्रजा का सारा धन छीन लो, उसके नगरों को तहस-नहस कर डालो तथा मनमाने भ्रष्टाचार करो !

देवगढ़, बरगल, कम्पली और विजयनगर के खंडहर ही उनकी कलकत्ते के स्यूत हैं। दक्षिणा पय छूटने के बाद मलिक काफूर सूट के माल को ३१२ हाथियों पर सादकर ले गया था। वह ६६००० मन सोना, मोतियों तथा हीरे-जवाहरातों के अनगिनत संदूकों तथा भारह हजार घोड़ों को लेकर दिल्ली लौटा था।

हिन्दू सैनिक भी मुगलमानों की तुलना में घटिया दर्जे के थे। मुसलमानों की फौज में अरब खुरामानी, तुर्क, ईरानी, पठान, हब्शी और भारत के भील आदि जंगली जातियों के लोग शामिल थे। विजयनगर के महाराजाओं ने समझ लिया था कि हमारे गिपार्ही मुसलमानों की टक्कर के नहीं होने। इसलिए कृष्णदेव राय ने अपनी फौज में मुसलमानों की भरती की थी। उनके लिए शहर में एक अलग मुहल्ला बना दिया था। उनके लिए मसजिदें बनवा दी थी। यह सब करने पर भी मुसलमान अपने महाराजाओं की मर्यादा नहीं रखते थे। राजा को सलाम तक नहीं करते थे। तब महाराजा अपनी मर्यादा को बनाये रखने के लिए गद्दी पर कुरान की एक प्रति रखकर बैठ कर लेते थे, जिससे मुसलमान यह समझें कि वे कुरान को गमाम कर रहे हैं, और हिन्दू यह समझें कि सलामी राजा की दी जा रही है। लेकिन ऐसी त्रुटिपूर्ण सैनिक व्यवस्था के बावजूद विजयनगर के राजा किसी प्रकार अपनी स्थिति में भागते रहे।

‘राजवाहन विजयम्’ एक सेतुगु काव्य-ग्रंथ है, जो कवि कावमानोम मूर्ति का लिखा हुआ है। इस ग्रंथ में मुसलमानी बन्दूकों और गदागिब राय के टंकों की चर्चा है। इस आधार पर अनुमान है कि कवि सन् १६००-५० के लगभग हुए होंगे। ‘राजवाहन विजयम्’ में मुद्र-यात्रा का विस्तार

के साथ बगुन है। यह अन्य समकालीन कवियों तथा यात्रियों के बगुन में भी मेल खाना है। इसलिए हम यहाँ पर इस कटु-वाक्य से उपयोगी कुछ विषयों के उद्धरण देंगे।

युवराज राजवाहन ने नगर-भर में घुड़-याना की डौंड़ी पिटवा दी। सारी मेना शहर के बाहर मैदान में जुट गई। युवराज कारचोवी का चोटा पहने थे। बाज्रुओं पर सोने के जडाऊ बड़े और सिर पर बरनासी टोपी पहन रखी थी। बहार युवराज के लिए पालकी लाये। पालकी के दोनों ओर फुंदनों वाले रेगमी घोहार लगे थे। दोनों के डडों पर मगर के मिर घने हुए थे। बहारों ने जो रमाल (साफ़े) बांध रखे थे, उनके पीछे खुदी लटकती थी। कमरबंद में वे बित्त-बित्त भर की बटारियाँ खोले हुए थे। उनके पैरों में चप्पलें थी। महावत ने राजहस्ती को ला सड़ा किया। गाईस एक मजा हुआ घोडा ले आया, जिस पर हरमजी खीन बसी थी। राजा ने सोने की एक फिरगी पहन ली। युवराज सुखारी घोड़े पर सवार हुआ। आगे-आगे हाथीदल चल रहा था, पीछे घुडमवार दल और फिर रथ तथा पंदल। शंख, डोल, नगाबो, हुडुका आदि की ध्वनि से दिखाएँ गुंज उठी। हाथियों के दांतों पर लम्बी-लम्बी बटारें बंधी थी। घुडमवारों में पटानों की सख्या अधिक थी, जिन्होंने अपनी जुल्फों में तेल लगाकर कंधी कर रखी थी और मिर पर जरीदार चोबी के साफ़े बांध रखे थे। उनके शरीर पर लम्बे चोगे भून रहे थे और चोगों पर पेटियाँ बसी हुई थी। उनके हाथों में रुंदे अर्मांन् रूपी तलवार चमक रहे थे। उनकी भूँछों का रंग लबि-जैसा था, आँखें सुन्न थी। पान चवाने के कारण मुँह भी लाल थे। घोडों की सफ़्त-बंदी करके उन्होंने युवराज को सनामी दी। उनके पीछे तुर्रदार भाषों, कमर में खुंसी बटारों तथा छोटे-छोटे भातों में लैम और बाज्रुओं पर बाज्र बिठाये बेतन-भोगी सरदारों की मेना चली। उनके पीछे सरदारों के साज-सामान लादे टट्टूओं का दल चला। उनके भी पीछे-पीछे धुंधरुदार वसंती आँधिये पड़ने, माये पर नजर-टोने से बचने को काना टीका लगाने, कमरबंद बसे, अर्धाक्षिची

राजा को ही फिर से राजगद्दी पर स्थापित किया तब मुसलमानों का राजतन्त्र इस प्रकार का न था। उनकी राजनीति यही थी कि शत्रु के गिरते ही उसे पूरी तरह मिट्टी में मिला डालो तथा उसकी प्रजा का सारा धन धीन लो, उसके नगरों को तहस-नहस कर डालो तथा मनमाने अत्याचार करो !

देवगढ़, बरंगल, कम्पली और विजयनगर के खंडहर ही उनकी कर-सूतों के सबूत हैं। दक्षिणा पय सूटने के बाद मलिक काफूर सूट के माल को ३१२ हाथियों पर सादकर ले गया था। यह ६६००० मन सोना, मोतियों तथा हीरे-जवाहरातों के अनगिनत सडूकों तथा बारह हजार घोड़ों को लेकर दिल्ली लौटा था।

हिन्दू सैनिक भी मुसलमानों की तुलना में घटिया दर्जे के थे। मुसलमानों की फौज में भरव खुरासानी, तुर्क, ईरानी, पठान, हम्मी और भारत के भीत भादि जंगली जातियों के लोग शामिल थे। विजयनगर के महाराजाओं ने समझ लिया था कि हमारे सिपाही मुसलमानों की टुकूर के नहीं होते। इसलिए कृष्णदेव राय ने अपनी फौज में मुसलमानों को भरती की थी। उनके लिए शहर में एक अलग मुहल्ला बना दिया था। उनके लिए मसजिदें बनवा दी थी। यह सब करने पर भी मुसलमान अपने महाराजाओं की मर्यादा नहीं रखते थे। राजा को सलाम तक नहीं करते थे। तब महाराजा अपनी मर्यादा को बनाये रखने के लिए गद्दी पर कुरान की एक प्रति रखकर बैठ कर बैठे थे, जिससे मुसलमान यह समझें कि वे कुरान को सलाम कर रहे हैं, और हिन्दू यह समझें कि सलामी राजा को दी जा रही है। लेकिन ऐसी झुटिपूर्ण सैनिक व्यवस्था के बावजूद विजयनगर के राजा किसी प्रकार अपनी स्थिति संभालते रहे।

‘राजवाहन विजयम्’ एक तेलुगु काव्य-ग्रन्थ है, जो कवि बालकृष्णायाम भूति का लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ में मुसलमानों बन्दूकों और सदाशिव राय के टंकों की चर्चा है। इस आधार पर अनुमान है कि कवि सन् १६००-५० के लगभग हुए होंगे। ‘राजवाहन विजयम्’ में मुद्र-भाषा का विस्तार

के साथ वर्णन है। यह अन्य समकालीन कवियों तथा यात्रियों के वर्णन से भी मेल खाता है। इसलिए हम यहाँ पर इस कटु-काव्य से उपयोगी कुछ विषयों के उद्धरण देंगे।

युवराज राजवाहन में नगर-भर में युद्ध-यात्रा की डौंडी पिटवा दी। सारी सेना शहर के बाहर मैदान में जुट गई। युवराज कारचोखी का घोड़ा पहने थे। बाजुघो पर सोने के जडाऊ कड़े और सिर पर वरसाही टोपी पहन रखी थी। बहार युवराज के लिए पालकी लाये। पालकी के दोनों ओर फुंदनों वाले रेशमी झोहार लगे थे। दोनों के डंडों पर मगर के सिर बने हुए थे। बहारों ने जो रमास (साफे) बाँध रखे थे, उनके पीछे धुँदी लटकती थी। कमरबंद में वे बिल्ले-बिल्ले भर की बटारियाँ खोसे हुए थे। उनके पैरों में चप्पलें थी। महावत ने राजहस्ती को सा खड़ा किया। साईस एक सजा हुआ घोड़ा ले आया, जिस पर हुरमजी जीन बसी थी। राजा ने सोने की एक किरगी पहन ली। युवराज तुलारी घोड़े पर सवार हुआ। आगे-आगे हाथीदल चल रहा था, पीछे घुड़सवार दल और फिर रथ तथा पैदल। घाल, डोल, नगाडो, हुदुका आदि की ध्वनि से दिशाएँ गूँज उठी। हाथियों के दाँतों पर लम्बी-लम्बी बटारें बँधी थी। घुड़सवारों में पठानों की संख्या अधिक थी, जिन्होंने अपनी कुल्हों में तेल लगाकर कपी कर रखी थी और सिर पर जरीदार चोबी के साफे बाँध रखे थे। उनके शरीर पर लम्बे चोगे झूम रहे थे और चोगों पर पैटियाँ बसी हुई थी। उनके हाथों में रुँदे धर्यान् रुमी तलवार चमक रहे थे। उनकी मूँछों का रंग ताँबे-जैसा था, धौलें सुग्गें थी। पान चवाने के कारण मुँह भी लाल थे। थोड़ों की मफ-बंदी करके उन्होंने युवराज की सनामी दी। उनके पीछे सुरेदार साफो, कमर में खुंसी बटारो तथा छोटे-छोटे भानों में लँग और बाजुघो पर बाज बँटाये बेदन-भोगी सरदारों की मेला चली। उनके पीछे सरदारों के साज-सामान लादे टट्टूओं का दल चला। उनके भी पीछे-पीछे घुँघरुदार बसती जाधिये पहने, माघे पर नजर-टोने से बचने को कात्ता टीका लगाये, कमरबंद बसे, धर्यालिचो

तलवारों के साथ म्यानों लटकाये पैदल सेना चम रही थी। सबसे पीछे काले रंग की पेटियाँ कसे, रंगीन जाँघिये पहने, चाँदी-मढ़े तीर ताने, पीठ पर तरकस बाँधे, तलवारें खींचे, साफ़ों के साथ मटकते, भूमते, काले सेरों-जैसी कर्नाटकी बेंडर-सेना बढ़ रही थी।

प्यादे तीर-कमान सजामे, कलाइयों पर लोहे के कड़े खनखनाते, आवश्यक युद्ध-सामग्री से भरे छोटे-छोटे बोंकचे पीठ पर लादे चल रहे थे। उनके पीछे घोटरी (एकाकी) बहलाने वाले बीर सिपाही कमरबन्दों के बीच तिरछी तलवारें कसे, सिर की चोटियों को इन्हरे लते से लपेटे, माथे पर टीका लगाये, चमकते दाँतों पर सोने के फूल जड़े, गले में ताबीज़ लटकाये, बढ़ रहे थे। पहुँचाने भाई हुई अपनी पत्नी को सैनिक धातुरता के साथ विदा कर रहे थे। कुछ महिलाएँ साथ चलने की हठ कर रही थी। मुसलिम सैनिकों का जनाता टट्टुओं पर सवार होकर चला। उनके मुख पर घुरके घोर पैरों में छल्ले थे। बाहर कई कर्नाटकी स्त्रियाँ चाँदी के कड़े घातुओं में पहने, माथे पर बिभूति मले, कुप्यों में दूध-दही-पी भरकर बेलों पर लादे और आप भी उमों पर मयार सेना के साथ-साथ चल पड़ी। सैनिकों के हाथ दूध-दही बेचने के लिए युव-राज की बेश्या भी पहरेदार पालकी में बैठकर खाना हुई। वह अपनी सहेलियों द्वारा दिये जाने वाले पान-बीड़ी को परदे से बाहर हाथ बढ़ा-बढ़ाकर लिये ले रही थी। परदे से बाहर निकली उन तातुङ उँगलियों वाली सुन्दर कलाइयों को देख-देखकर बहुतेरे रोग भावस में यह घन्दाजा लगा-लगाकर चकित रह जाते थे, कि सचमुच वह कितनी सुन्दर होगी। रानी भी एक पानगी में बैठी थी। रानी की पालकी के पीछे-पीछे दो तिलकधारी वैष्णवाचार्य 'राघवाष्टकम्' का पाठ करने चल रहे थे। रानी की मेविकाएँ उन्हें कई "कालंजो, एडपमु, तालुवृत्तमु, कंडि, कुञ्चे और बिजामरो" के साथ खेती चली। रानी की रक्षा के लिए रानी का भाई भी उसी पालकी में बैठ गया। दोहे गा-गाकर कथा कहने वाले तिलकधारी कथाकार साथ में ही थे। रनिवास की स्त्रियों की

रक्षा के लिए उनके माथ कुछ राखा त्तिपाही रख दिये गए । रास्ते-भर मूंग, क्वली, ईन्ध, वाजरे आदि के भेनो में से छीमियां, फल, छड़ियां, बानें आदि तोड़-तोड़कर खाती, किसानों को खेती तबाह करती सेनाएं चली जा रही थी । थोड़े की टापों से धान की मर्ली फमलें टूट-टूटकर भूसी हो गई । रख और हाथियों के चलने से खेतिपां बरबाद हो गई । किसान रो रहे थे, भेना बड़ रही थी । सेनाओं ने शरद् ऋतु में बूख किया था । भोजन से बचने के लिए सैनिक नीचे बंदर बिछाकर ऊपर से चढ़र छोड़कर सिबूड जाते थे । भेना के खर्च-बर्च का लेखा रखने के लिए कर्णम् पट्टारों भी माथ थे । बहून मारी वेदमाएँ भी सेना के साथ होकर रमितों से एव-एक रात के पन्द्रह-पन्द्रह रके (रपये) बटोरती चल रही थी । इस प्रकार युद्ध-यात्रा पर युवराज की सवारी चली ।<sup>१</sup>

भाग पचम आद्वाम में जो बर्चा है उसमें पता चलता है कि कम्मा जानि तथा बैलमें जानि के जिनेदार, पाँच हजार अशर्फी पाने धाने पटान कौजदार, माह्वार बेगन पाने बाने राची और दैनिक भत्ता पाने वाले एकाकी मिवाही आदि ने युद्ध में भाग लिया । युद्ध-रंग में शत्रु की 'गडल पीज' गडबडा गई । एक ओर बहूवची दुश्मन पर गोली बला रहे थे । जिने के पाटकों को तोड़ने के लिए हाथी लगा दिये गए । कुछ सैनिक तीरों की बीछार कर रहे थे । कुछ लोग जिले की दीवारों के नीचे सुरंग लगाकर जिने में दरारें डाल रहे थे । कुछ सीढ़ी लगाकर जिने की दीवारों पर लटक रहे थे । शत्रुओं द्वारा उनमें से कुछ तो गिरा-गिरा दिये जाते थे । शत्रुओं की डिठाई को देखकर राजमाहन ने एलाज किया कि "कल 'सर्वलम्' होगा ।" (सर्वलम् कोई आक्रमण बिधि रही होगी ।) यह सुनकर शत्रु ने सुनह कर ली ।

कम्पनराय के दक्षिण की दिग्विजय-दण्डयात्रा के बारे में भी इसी प्रकार का विवरण मिलता है : योर कम्पनराय ने सवेरे उठकर सेना-नायकों को सेंपारों का आदेश दिया । डोंडी पिठवाकर नगर-भर में

१. 'युवराज विजयम्', द्वितीय आद्वाम ।



इसका एसान किया गया। हाथी-घोड़े धा खड़े हुए। कवचधारी सैनिक कृपाण, फरसे, 'कुन्त' तथा तीर-कमानों से सुसज्जित होकर एकत्र हुए। कूच की वरदिया पहनकर सामन्त, सेनानी समय पर धा उपस्थित हुए। भडे उठाये गए। पुरोहितों ने पत्रे देखकर कूच के लिए महरत बनाई अथर्व वेद के मन्त्रों के साथ ब्राह्मणों ने हवन किये। फिर राजा अपने लिये सजाये गए विशेष घोड़े पर सवार हो गए। सेनानी जय-घोष करने लगे। सामन्त राजा के आगे-आगे चले। नगर-नारियो ने दूतों पर चढ़-चढ़कर सावे बिलेरे। सेनाएं रवाना हुईं। कूच के पाँचवें-छठे दिन चम्पा राजा की राजधानी 'मुल्बायिनी' पहुँचे। लड़ाई में चम्पा राजा हारकर भाग खड़ा हुआ और राजगम्भीर नामक किले के अन्दर जा छिपा। चम्पराय ने उस किले पर घेरा डाल दिया और तीरों से शत्रु-सेनाओं को नष्ट कर डाला। किले के अन्दर से मंत्रों द्वारा फेंके गये बड़े-बड़े बगद (परवर) से चम्पराय की सेना की भारी क्षति हुई। अन्त में सीढ़ियाँ लगाकर वे किले में दाखिल हुए। चम्पराय को घेर लिया गया।<sup>१११</sup>

महाराजा विजयनगर के पास लाखों की सेना थी। तालीकोट की लड़ाई में रामराज ने अन्दाजत छः लाख फौज इकट्ठी की थी। विजयनगर ने सेना पर, विरोधकर छोड़ो पर, बहुत लक्षं किया। बहमनी सल्तनत के पाँच टुकड़े हो गए। अहमदनगर, गोसजीडा, बीदर, बीजापुर और बरार में पाँचो टुकड़ो ने अपनी अलग-अलग हजूमने कायम कर ली। पाँचो सुलतान विजयनगर के लिए बगल की जुरियाँ पन गए थे। जरा भी मौका मिल जाता तो वे विजयनगर-साम्राज्य का ध्वस्त कर छोड़ते। इसीलिए विजयनगर की सैनिक-शक्ति पर इतना ध्यान देना पड़ता था। विजयनगर ने पहले ईरानियों से और फिर पुर्तगालियों से घोड़े खरीदे। अच्छे बड़े घोड़े के लिए ३०० से ६०० इकेटें कीमत होती थी। (एक इकेटें पाँच रुपये के बराबर होना था।) सम्राट की सवारी

१. 'मदुरा विजयम्', सर्ग ४।

का घोड़ा १,००० डकेट का था। विजयनगर के पास कुल चालीन हजार घोड़े थे। पैदल सेना के पास तनवारें और भाले होने थे। सेना की मर्यादा दस लाख थी।”

विन्सेन्ट स्मिथ ने अपने हिन्दू देश के ‘आक्रमणों के इतिहास’ में लिखा है—“१५२० ई० में महाराजा कृष्णदेवराय ने रायचूर-मुठ में ७०३००० पैदल सैनिक, ३२६०० घुड़मवार और ५५६ हाथी लगाये थे। सेना के साथ साईसों, नीकरो-चाकरो और व्यापारियों की भी एक भारी भीड़ थी।” इसी प्रकार पीन नामक विदेशी लेखक ने भी लिखा है कि ‘कृष्णदेवराय से पहले ही रघों को सेना से हटा दिया गया था। कृष्णदेवराय के समय केवल संरक्षा-शक्ति ही अधिक थी। फिर भी उसकी सेना मुसलमान योद्धाओं से घबराती थी। राय के अधिकतर सेनानी व्यक्तिगत रूप से दूरबीर तो ज़रूर थे, किन्तु युद्ध-कला में निहम्मे से ही निकले।”

“दुन्दु मुठ विजयनगर में ही परवान चड़ा था। ऐसे युद्ध के लिए उन्हें राजा अथवा मन्त्री से आज्ञा सेना पड़नी थी, औरतों वाले को हारने वाले को जायदाद दिसा दी जाती थी।” (उक्त बार्न ‘मिहसल-इतिहास’ की प्रामाणिकता की निंदा करना है।)

पीन नामक विदेशी लेखक ने लिखा है कि—“सैनिक रंग-बिरंगी पोशाकें पहनते थे। ये पोशाकें बड़ी कीमती होती थीं। ये अपनी रेशमी ढाँकों पर सोने के फूल जड़वाया करते थे, चाप और सिंह की आकृतियाँ उकेरवाया करते थे। ढाँके शीशे की तरह चमकती थीं। उनकी तनवारों पर भी सोने का काम होता था। सेनानी तीरंदाज भी थे। उनके धनुषों पर भी सोने का काम होता था। तीरों के छोरों पर पंख लगे रहते थे, कमर में ‘दूरी’ (कैंटा) बंधी होती थी, जिममें बटार, फरसे आदि खुले होते थे। भरमार बंदूकियों का भी एक दल था। भोल, कोवा आदि

जंगली जातियों को भी फौज में भरवा लिया जाता था।" (Salatore)

पैदल सिपाही अपने प्राणों की परवाह नहीं करते थे। वह केवल चड़्डी (जांघिया) पहनते और बदन भर में तेल मलकर मैदान में उतरते थे। यह उपाय वे शत्रु के भिड़ने पर फिसल निकलने के लिए करते थे। युद्ध-रंग में वे 'गरुडों मरुडों' के नारे लगाते थे।

घोड़ों को खूब सजाते थे। उनके सिरों पर सोने-चांदी की पट्टियाँ बाँधते थे। घुड़सवार रेसामी बपड़े पहनते थे। १००० का हाथी-दल था। हाथियों को चित्र-विचित्र ढंग से रंगा जाता था। प्रत्येक घम्वारी में चार सैनिक बैठा करते थे। धैर्यों, लज्ज्वरों तथा गधों से बारबरदारी का काम लिया जाता था। (Salatore)

युद्ध के शास्त्रास्त्रों का वर्णन तेलुगु-साहित्य में जगह-जगह मिलता है। कुमार इर्भट्टी ने अपने 'कृष्णराज विजयम्' में जेय-यात्रा का वर्णन यों दिया है :

“बंदूकें छुटतीं धड़धड़, गुञ्जित हो-हो उठते दिगंत  
भराती चलती बाणों की बीछार, दूर तक लक्ष्य भेद  
सब घोर बिलर जाती; भाते छुटते मुरस्त,  
छुटते ईंटे, सुन पड़ती जहाँ लड़क, बस जाते वहीं छेद !  
हल्ले-पर-हल्ला जो मचता, अरिदल में मच जाती भगदड़,  
जो दारण मोगने था जाता, उस पर कहरा होती वितरित,  
इस तरह दुर्ग-पर-दुर्ग, कोट-पर-कोट, विजय-यात्रा में पड़,  
आक्रांत हुए, फिर अधिकृत भी हो गए स्वरित !”<sup>१</sup>

विजयनगर में बन्दूकों की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। रायचूर में तीर तैयार होने लगे थे। 'नवनाम चरित्र' में पृष्ठ ३६ पर रायचूर के तीरों की चर्चा है। वैकटनाथ ने 'पञ्चतन्त्र' में—“स्वप्न में भी दूट न सजने वाली रायचूर की अमोघ तलवारें” कहा है। इसमें पता चलता है कि रायचूर उस समय दशत्रु-निर्माण के लिए प्रसिद्ध था।

१. 'कृष्णराज विजयम्', ३-५।

वहने हैं कि कृष्णदेवराय की मेनाओं को देखकर मुमनमानो ने यों कहा था :

“एक लाख बुन्देलों, एक लाख पंडारियों, एक लाख मुसलमानों आदि को मिलाकर उस नरेश के सैनिकों की संख्या द्यः लाख है। घोड़ों की गिनती द्वािसठ हजार है और हाथी दो हजार हैं। सोचो तो सही, सगता है कि जिस राजा के पास ऐसी फौजें हो और तिस पर बेलमें तथा कम्मा जाति की समर्थ प्रजा भी हो, तो या खुदा हम कभी जीत भी सकेंगे।”<sup>१</sup>

बुद्ध शम्भ्रास्त्रों के नाम ऊपर आ चुके हैं। इनके घलावा बुद्ध और भी नाम मिलने हैं। जैसे, पटेलागोबुलु (गोफन) जवरजग, किरग (तोप), ठमामी (बन्दूक) इत्यादि। तीरों के फल तथा पत्थरों का भी प्रयोग होना था।<sup>२</sup> ‘दचना’ को बुद्ध लोग तोप मानते हैं और बुद्ध ने इसे जजीरो ने बाँपकर परस्पर फेंकने वाला पाषाण-यंत्र कहा है।<sup>३</sup> सम्भवतः ‘दचना’ शब्द ‘ध्वसना’ से विगड़कर बना है।<sup>४</sup> सेना के आगे एक सेनानी, उसी प्रकार एक सेनानी पीछे-पीछे भी चला करता था। इन पीछे जाने की “दुमदार दोरा” कहा जाता था।<sup>५</sup>

“.....बाह्यीक, पारसीक, शक घट्टा भारण घोटाण।”<sup>६</sup>

उक्त उद्धरण के शब्द घोड़ों की किस्मों पर प्रकाश डालने हैं। ‘बाह्यीक’ माने बह्व्य देश का घोड़ा; ‘पारसीक’ ईरान का, ‘शक’ सीथियन, मागधिया, यूनान के उस प्रान्त का, जो ईरान के पश्चिम में है। पर घट्टा कौन है? पता नहीं, पर ऐसा थी वेद बेंकटराय शास्त्री का मत है कि ‘टट्ट’ शब्द इसीसे बना होगा। भारण पंजाब प्रान्त में

१. ‘कृष्णदेवराय विजयम्’, ३-२६।

२. वही, ३-२६।

३. ‘धामुवन मात्पदा’, २-६।

४. ‘मनु चरित्र’, ३-५४।

५. ‘धामुवन मात्पदा’, ७-२०।

होगा। युद्ध के लिए उपयोगी घोड़े दक्षिण भारत में नहीं होने थे। इसीलिए दूर-दूर से मँगवाये जाते थे। उत्तम घोड़ों के लिए मध्य एशिया के ताशार, खुतन या खोतान, खुरासान, ईरान, यरब और अफगानिस्तान आदि इलाके तथा सिंध, पंजाब आदि प्रसिद्ध थे। 'अमर कोश' के घोड़े के सभी पर्यायवाची शब्दों की कोई-न-कोई व्युत्पत्ति देने के फेर में 'सिन्ध-भट्टीयम्' नामक ग्रंथ में बहुत-कुछ खोजातानी की गई है। फिर भी हमारा खयाल है कि 'अमर कोश' के सभी नाम किसी-न-किसी देश के नाम पर लिखे गए हैं। अफगानों का प्राचीन नाम 'अश्वकान' था। वही आह्वकान और फिर अफगान बना। अश्वकान का अर्थ शब्दार्थ होगा घोड़े रखने वाले। मध्य एशिया के खोतान प्रदेश के घोड़े ही घोटक कहा-लाये। कृष्णदेवराय ने 'घोटाल' का प्रयोग किया है। यह शब्द भी विचार करने योग्य है। तेलुगू में 'साम्रणि' घोड़े का प्रयोग भी है। अर्थात् समारान (ईरान) के घोड़े। खुरासान के घोड़े खुरासानी कहलाते थे। तुर्किस्तान के तुर्की घोड़े की खर्चा बहुत मुनाई पड़ती है। इसके लिए तो भलग पुस्तक ही लिखनी पड़ जायगी।

घाघ्रो के अपने जमी मोहो का न होना एक भारी कमी थी। विजयनगर, रेड्डी और बेलमें राजाघो ने इस अभाव को न पहचाना। इसीसे उन्होंने दाम की परवाह न करके जहाँ से जिस दाम अच्छे घोड़े मिल सके, खरीद लिये। फिर अच्छे सवारों की भी कमी थी। कुछ को छोड़कर साधारण सैनिक अच्छी सवारी करने और घोड़ों पर चढ़कर युद्ध करने में सधे नहीं थे। यह कमी घाघ्र सेनाओं में थी ही। इसीलिए अघिनगर मुस्लिम शुद्धवार ही रहे जाते थे। हिन्दू शुद्धसवारों को तैयार करने के लिए भी मुमलमान उस्ताद रने जाते थे।

सैनिकों को कुश्ती, तीरदाजी, सन्वार चमाने और घोड़े की सवारी का अच्छा अभ्यास कराया जाता था। स्वयं कृष्णदेव राय रोज सवेरे कुमुम का कटोरा-भर तेल पीता, शरीर पर उसी तेल की मालिश कर-

वाजा, कुस्ती लड़ता और फिर धुड़सवारी के लिए निबल पड़ता था ।<sup>१</sup>

उस जमाने में स्त्रियाँ भी व्यायाम करती और कुस्तियाँ लड़ती थी । भक्कमर मराहूर कुस्तीबाज पहलवानिने निबलती थी । सन् १४४६ के एक शिला-शासन का अभिलेख है कि 'हरि भक्का' नाम की एक स्त्री के पिता कुस्ती में मारे गए थे । उसने खुद कुस्ती लड़कर अपने पिता को मारने वाले पहलवानों को पछाड़ा था और उन्हें भार डाला था ।<sup>२</sup>

इस प्रकार उसने अपने बाप का बदला लिया था । बन्दूक की खोज चल पड़ी थी, फिर भी तलवार और भाते का महत्व ही अधिक था । इसलिए लोंग व्यायाम तथा कुस्ती के साथ साठी तथा तलवार चलाने तथा घोड़े की सवारी का अभ्यास करने थे । मुहल्ले-मुहल्ले में पहलवानों के भ्रमोत्सव थे, इसे तालीम-खाना कहते थे । व्यायामशाला को सेनुगू में सामु गाले [साम्न = व्यायाम, साले = शाला] कहते हैं । व्यायामशाला की जमीन गहरी खोदकर उसमें रेत भरा जाता और फिर उपरले बाघों में लाल मिट्टी भर दी जाती थी । उनमें गदा, मुग्गर, सगड़ी आदि रखे रहते थे । सगड़ी को उर्दू में सित्तोला [संगतील] कहा जाता है । एक घुरी के दोनों ओर दो गोल-गोल पत्थर के चक्र सजे होते थे । जट्टी या होतवार [पहलवान] का नाम भी उसीको मिलता था, जिमने कुस्ती में कुशलता प्राप्त कर ली हो । हमने यह निष्कर्ष 'मनु चरित्र' (५, ५६) में आये मूर्यास्त के वर्णन से निकाला है । 'राधामाधवम्' <sup>३</sup> से भी इसीकी पुष्टि होती है । अम्बाटो की आज भी प्रायः यही मर्यादा है । ऐसे वीरों की दाशगार में जगह-जगह 'वीर कल्लु' (वीरों के कीर्ति-स्तम्भ) खड़े किये जाने थे, जो आजकल भक्कमर गाँवों में पाये जाने हैं ।

जिनी बड़े काम को शुरू करने समय सोम नगुन देखा करते थे । राजा तो घुड़-यात्रा में भी सवेरे शहर की सड़कों अथवा बस्ती से बाहर

१. Salatore II

२. वही

३. १-७६७.

निकलते समय सगुनों पर ध्यान रखते थे। इसे उपश्रुति कहने से। कटक पर घावा बोलने से पहले कृष्णदेव राय ने एक उपश्रुति विचारी थी। उस दिन सबेरा होने से पहले कोई घोड़ी घाट पर कपडा छटिते हुए गाता जा रहा था—“कोंडाबोझ है हमारा, रोड़ापल्ली भी हमारी, ना माने कोई तो कटक भी हमारा रे।” कृष्णदेव राय के कानों में इन शब्दों का पड़ना था कि उन्होंने कूच का हुकुम दे दिया। एक साधारण घोड़ी का यह देशभिमान प्रशंसनीय है।

बीदर नगर में बरीदशाह के जमाने के किले के अंदर रंगीन महल और खीनी महल नामों के महल भी मौजूद हैं। रंगीन महल मुलतान अलीबरीद ने बनाया था। उस किले के अंदर मिले हुए लोहे के कुछ कांटों का सरकारी पुरातत्त्व-विभाग ने सुरक्षित किया है, और उसे ग्रन्थ दस्तखत आदि मुद्र-सामग्रियों के साथ रखा है। इन कांटों को ‘गोखरू’ कहते हैं। कन्नड भाषा में इसे “लगनमुल्लु” [सगन कांटा] कहते हैं। इसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों कांटों के साथ दो-दो इंच है। इसे चाहे जितम और से जमीन पर डाल दे एक कांटा सीधा ऊपर की ओर खड़ा होगा, बाकी तीन जमीन पर टिके रहेंगे। कोई पैर रख दे, या कोई भारी चीज उस पर आ पड़े, तो नीचे के कांटे जमीन में घँसकर और मजबूत बैठ जायेंगे। कांटे मृजा के समान मोटे होते थे। जब किसी दुश्मन का हमला होने को हो तो किले के चारों ओर यह गोखरू लाखों की तादाद में बिखेर दिये जाते थे। पैदल, घोड़े, हाथी, चाहे जो भी देखे-परसे बिना उधर से निकलने की भूल कर बैठे, उसके पैरों में ये गोखरू घँस बिना नहीं रह सकते थे। यह एक अपूर्व पद्धति थी। ऐसी चीज और कहीं देखने में नहीं आई। तेलुगू साहित्य में इसका नाम-निशान भी नहीं है। यहमनी फौजी में भी इन गोखरूओं का प्रयोग होता था। [गोखरू वास्तव में जमीन को पकड़कर, फैलने वाले गोखरू पोथे के कांटेदार फलों के नमूने पर बने थे। तेलुगू में इसे ‘पल्लेरू काय’ कहते हैं। ऐसा लगता है कि लोहे के गोखरू उत्तर भारत में सैनिक सामग्रियों के आवश्यक भण

ये। वही गोरुरू को भ्राजकस शायद 'लोहे का सिंघाड़ा' कहते हैं। सिंघाड़े के काटे भी ऐसे ही होते हैं।—अनु०]

कवि चिन्तलपूडो एन्तनाय ने अपने 'तारक बहाराजीयम्' में राजा प्रच्युत देव राय के गुण गाये हैं। उसमें एक स्थान पर एक शब्द 'गद्यासार लेखक' का प्रयोग हुआ है। इसीको 'कन्दासारम्' कहा गया है। असल में यह संस्कृत 'स्वन्धासारम्' का तद्भव रूप है। इन सबके माने हैं—सेना के खर्च का हिसाब-किताब रखने वाला।

### सिक्के

बालुक्य और कावतीय काल के सिक्के ही कुछ हेर-फेर के साथ विजयनगर-काल में भी चलते रहे। सोने, चांदी और ताँबे के सिक्कों का प्रचलन था। राजाओं के साथ सामन्तों को भी सिक्के ढालने का अधिकार था। जाली सिक्कों भ्रमवा नवली सोने-चांदी के सिक्कों को परखने के लिए मुनार नौकर रखे जाते थे। 'भामुक्त माल्यदा' के अनुसार 'वष्पु' भी इसी काम के लिए नियुक्त रहते थे।

मिनुकु, कामु, माडा, बीसमु और वरहा उस समय के चालू सिक्के थे। पहले तीन सिक्कों के नाम 'परम योगी विलासम्' में आये हैं, और बाद के दो-तीन सिक्कों के नाम 'भामुक्त माल्यदा' में। जहाँ सिक्के टनते थे उस स्थान को 'टकसास' कहा जाता था। वरहा सबसे बड़ा था और वह सोने का होता था। कावतीय-काल में 'वरहा' पर वराह और उसके सामने एक लड़ी तलवार बनी होती थी। यही कावतीयों का राज-चिह्न था। उसीको विजयनगर के राजाओं ने भी अपनाया था। [वराह का चिह्न होने के कारण उसका नाम वराह पड़ गया था। वही बाद में 'वरहा' हो गया।] वराह का टप्पा सब सिक्कों पर नहीं होता था। विजयनगर के सिक्कों पर हनुमान, गरुड, नन्दी, हाथी, उमा-महेश्वर, लक्ष्मीनारायण, सीताराम, वैद्येश, बानकृष्ण, दुर्गा, गंल-



चक्र आदि चिह्न भी हुआ करते थे ।

लोग जिस प्रकार बनिये या महाजन के पास कर्ज लेते थे, उसी प्रकार अपना धन उसके पास भ्रमान्त भी रखते थे, जिस पर उन्हें कुछ सूद भी मिल जाता था । उन दिनों बैंक नहीं थे । बनिये ही बैंको का काम करते थे । इस लेन-देन में अक्सर तकरार हो जाती और मामला पचास तक पहुँचता ।<sup>१</sup>

‘पराशर माघवीथम्’ नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि विजयनगर के राजा हरिहरि राय ने सगान आदि करो को सिक्के में वसूल करने का आदेश दिया था । अर्थात् उससे पहले लोग जिमी या भावली रूप में भी करो का भुगतान करते थे ।

### प्रधान सिक्कों के नाम और उनके मूल्य

सोने के सिक्के—ग्याण, वरहा, प्रताप अथवा भाडा, पणम्, बाटा, हागा ।

चाँदी के सिक्के—तारा, चिह्न अथवा चिन्ना ।

लोह के सिक्के—पणम्, जीतल, कामु इत्यादि ।

द्वितीय देवराय के सिक्को के मध्यग्य में ईरान के राजदूत अब्दुर्रज्जाक ने सन् १४४३ में जो लिखा था उससे पता चलता है कि—

२ प्रताप = १ वरहा

२ बाटी = १ प्रताप

१० पणम = १ प्रताप

६ तारा = १ पणम

३ नाणम = १ तारा

हुआ करता था ।

माधारणतया एक वरहा की तोल ५२ धुमकी के बराबर होती थी । जान पड़ता है तेलुगु में जिसे माहें कहते थे, उसीको बम्रड़ में

१. ‘ग्रामुवत मात्मदा’, ६-६१७ ।

बढ़ा जाता था। उसका मूल्य दो रुपये में कुछ कम होता था।  
वरहा का आठवाँ भाग था। अतः उनका मूल्य सान आने के  
होता था। 'हागा' का दूसरा नाम 'वाकिरी' था, वह 'पणम' का  
ई भाग होता था।

गजा तिरमल राय ने 'रायटंक' चालू किये थे।<sup>१</sup> कवि-मार्कण्डेय  
को देवराय के दरबार में ही दीनारों से स्नान करवाया गया  
किन्तु मिट्टी के विगेषजों में से किसी ने भी 'दीनारों' अथवा  
'टंक' का उल्लेख नहीं किया है।

ऊपर गिनाये हुए सिक्कों में से आग्न में 'माड' ही अधिक प्रच-  
रित था। यह उस समय के साहित्य से निश्च होता है। लोग माडों को  
या ताँबे के वरतनों में भरकर घर के अन्दर, पिछवाड़े या बाहर  
के अन्दर गाड़ रखते थे। पीड़ी-दर-पीड़ी गड़े बने आए धन का  
अपने बच्चों को मताने से पहले ही बूड़ों का भर जाता और बच्चों  
ठे होकर उनकी खोज में परेशान होना एक परिपाटी-सी थी।  
अजन अजिब धन के स्नान का पता लगाने वाले मन्त्र-नन्त्रकार  
हुए। [अब भी कुछ व्यक्ति ऐसे मन्त्र जानने का दावा करते हैं।  
हैं कि हिमाचल के पहाड़ी जिलों में ऐसे व्यक्ति 'धन सूँघ'  
सकते हैं।] भाग्यवश गढ़ा हुआ धन प्रायः परायों के हाथ ही पड़ता  
है। पैसा गाड़कर रखने की आदत गाँव वालों में अब भी पाई  
गई है।

शादी-व्याह में बर-मुल्क [दहेज] और बन्धा-मुल्क [जो वधू के  
बाप को दिया जाता है,] में माड ही दिये जाते थे। शादियों में  
-मन्त्रगंधी आदि भेंट में भी माड ही देने थे। आश्चर्य तो यह है कि  
व भी जब कि 'वरहा' का नाम-निशान तक नहीं है और लोग केवल  
ये ही भेंट चढ़ाने हैं, पुरोहित जी महाराज विवाह के चढ़ावे के मन्त्रों  
माथ नहीं बहने जाते हैं कि अमुक व्यक्ति ने वधू को अथवा वर को  
पंचमुखी का अभिलेख

इतने 'वरहा' [रूपये] भेंट दिये हैं। विजयनगर के सिक्के का ठप्पा इतना बलौ था कि अब तक लोगों के दिनों पर उस ठप्पे का सिक्का जमा हुआ है।

प्राचीन इतिहास की खोज में पुराने सिक्कों से अत्यधिक सहायता मिलती है। इसके सिवा उसने यह भी मालूम होता है कि उस समय भिन्न-भिन्न धातुओं का मोल क्या था। एकसाल की विधि क्या थी, और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का रूप क्या था। पाश्चात्य जातियों प्राचीन सिक्कों को बड़ा महत्त्व देती हैं। पच्छीह में लोग बड़ी-बड़ी कोमियों से उन्हें इकट्ठा करने हैं। किन्तु हम हैं कि पुराने सिक्के यदि कहीं मिल भी गये तो उन्हें गमा-गलाकर खर्च कर लेने हैं। हमारे यहाँ प्राचीन सिक्कों की अच्छी जानकारी रखने वाले इतिहासज्ञ विरल ही पाये जाते हैं। आन्ध्र में चामुण्य, वाकतीय, रेड्डी तथा विजयनगर राज्य-काल तथा गोलकोंडा राज्य-काल के सिक्कों की प्रयत्न-पूर्वक एकत्र करके उन पर एक खोजपूर्ण सवित्र ग्रन्थ लिखा जाना जरूरी है।

### व्यापार

यह तो हम बता ही चुके हैं कि देश और विदेशों में आन्ध्र का व्यापार वाकतीय-काल की अपेक्षा रेड्डी-काल में कहीं अधिक बढ़ गया था। विजयनगर-काल में उसकी और भी बढ़ती हुई। भारतीय वामधेनु तथा कल्पवृक्षा की मायाएँ यूरोप के कोने-कोने से गुँज उठी। 'कल्पवृक्ष' को वे पगोंडा वृक्ष [Pagoda tree] कहते थे। यूरोप वाले मनचाने रहते थे कि वे किसी तरह हिन्दुस्तान आयें और उन कल्पवृक्षों को हिला-डुला कर मनचाही धनराशि जहाजों में भर-भरकर ले जायें। अपने-अपने देश के धनी-मानियो की सहायता में अनेक साहसाँ व्यक्त जहाजी बंडे ले-लेकर समुद्र में उतर पड़े थे, पर उन्हें यह पता नहीं था कि भारत पहुँचने का समुद्री-मार्ग किधर से है। स्पेन और पुर्तगाल वालों में होड़-गो लग

गई थी कि वीन पहुँचे भारत पहुँचे। स्पेन वाले कोलम्बस के नेतृत्व में भारत की खोज में चलकर अमरीका के तटवर्ती द्वीपमाला में जा पहुँचे, और उसीको उन्होंने हिन्दुस्तान, (इण्डिया) समझ लिया। न जाने उन द्वीपों के पुराने नाम क्या थे। उन नामों का तो कोई अन्त-पता नहीं, किन्तु स्पेनियों ने वहाँ के निवासियों को रेड इण्डियन [ लाल हिन्दुस्तानी ] का नाम दे दिया। शायद उन्होंने पहले सुन रखा था कि भारत के लोग काले होते हैं, अतः हिन्दुस्तानी नाम में लाल का विशेषण जोड़कर उन्होंने अपनी भूल सुधार ली। पुर्तगाली वास्कोदिगामा के नेतृत्व में अफ्रीका का चक्कर बाटकर भारत के पश्चिमी तट पर उतरे। श्रीकृष्णदेव राय के शासन-काल में ही वे विजयनगर पहुँचे और भारत के साथ व्यापार शुरू कर दिया।

अरब देश रेगिस्तान है। वहाँ के निवासी व्यापार से ही जीविका चला सकते हैं। इसलिए प्राचीन काल से ही अरब लोग भारत के साथ व्यापार करते रहे हैं। हमारे अति निकटवर्ती देश ईरान ने भी अधिकतर हमारे ही साथ व्यापार किया है। हस्तमुद्र के मुहाने के बन्दरगाहों से ईरानी जहाज सदा से भारत आने-जाते रहे हैं। वहाँ का मोती प्रसिद्ध था, जिसे भारतवासी हस्तमुद्र मोती कहा करते थे।

पूर्व में बर्मा, मलाया, इण्डोनेशिया तथा चीन के साथ हमारा व्यापार चल रहा था। विजयनगर का विस्तृत साम्राज्य पूर्वी तट पर कटक से रामेश्वर तक और पश्चिमी तट पर गोवा से कन्याकुमारी तक फैला हुआ था। अधिकांश व्यापार गोवा, कालीकट और मद्रास के बन्दरगाहों से होता था। अष्टदुरंजय ने लिखा है कि—“विजयनगर राज्य में कालीकट के समान बन्दरगाहों की संख्या ३०० तक थी।” बारबोसा लिखता है कि—“होरे, जवाहर, मोती, मूँगा, जेवरात, घोड़े, हाथी, रेशमी व सूनी भात, मुगान्चमी, सोहा, चाँदी तथा औषधियाँ आदि वस्तुएँ व्यापार-मामूरी थी। व्यापार में पूर्णतया न्यायोचित बरताव होता था, इसलिए पुर्तगाली

तथा अरब यहाँ खूब आया करते थे ।”<sup>१</sup>

स्वयं कृष्णदेवराय ने अपने ‘आमुक्त माल्यदा’ में लिखा है—  
“विदेशों से हमारे बन्दरगाहों पर घोड़े, हाथी, हीरे-जवाहर, मोती और चन्दन आते हैं । उन्हें लाने वाले विदेशी व्यापारियों को हमने सभी सुविधाएँ दी हैं । अकाल-पीड़ित विदेशियों को हमने आदर पूर्वक आश्रय दिया है ।” आगे कहा है—“दूर-दूर के देशों से विदेशी व्यापारी हमारे देश में हाथी और बड़े-बड़े घोड़े ले आते हैं । हमें चाहिए कि उनका आदर-सत्कार करें, रहने-सहने के लिए अच्छे मकान दें, बसने-बसाने के लिए गाँव दें, और राज-दरबार में सम्मान दें, ताकि उनके हाथी-घोड़े दुश्मनों के हाथ न लगें ।”

कृष्णदेवराय ने इस नीति का अक्षरशः पालन किया । ईरानी राज-दूत ने लिखा है कि—“सम्राट् ने उसे अपने दरबार में विशेष सम्मान दिया और बाजारों में भी जहाँ कहीं हमें देखता तो अपने हाथियों को रोककर हमारी संरक्षित मूर्छता और बड़े प्रेम से पेश आता ।”

पाण्ड्य के अन्तर्गत ताम्रपर्णी नदी के सम्बन्ध में लिखा है कि उसमें अपूर्व मणि-मोती प्राप्त होते थे ।<sup>२</sup> अल्लसानि पेद्दना ने भी लिखा है—  
“ताम्रपर्णी के सुविस्तृत तट पर मोतियों के ढेर जगमगाते हैं ।”<sup>३</sup>

भारत के पूर्वी देश पेंगु और मलाका से सात समुद्र जाने वाले जहाज कालीकट के बन्दरगाह पर रुककर मास सादने थे । उन दिनों सारा व्यापार मुसलमानों के हाथों में था, और उनमें भी अधिकतर अरबों के हाथों में । वे पश्चिम में अफ्रीका के निकट मडगास्कर से लेकर पूरब में मलाका तक के सभी बन्दरगाहों में ठहरते और अपना व्यापार चलाते थे ।

सीजर फर्डेरिक ने लिखा है कि गोधा के बन्दरगाह पर धरम से

१. V. S. C. पृ० ३६ ।

२. ‘आमुक्त माल्यदा’, ४-२५८ ।

३. ‘मनु चरित्र’, ३-८ ।

घोड़े और मखमल, मटगास्कर से ढपड़े और पुर्तगाल से अरमोनिन का आयात होता था ।

‘मनु चरित्र’ में एक घुड़सवार का वर्णन कुछ यों दिया है—  
 “हुरमुञ्जी घोडा, उस पर ईरानी चारबामा, बागडोर और पट्टा, पंठन के धनुष-बाण तथा शमदियों से कोरदार तरास, दायाँ हाथ में सोने की छुरी अर्थात् सोने का पत्तर चटी हुई छुरी और बायें में ढाल, इसी प्रकार शीराजी छुरी कमर में लगी हुई.....” इनमें से धनुष-बाण वाला पंठन हैदराबाद के अन्नगंत औरगाबाद जिले में है और शेष सारी वस्तुएँ शीराज ईरान की हैं, जो प्रचुर मात्रा में आती थीं । कच्ची (तमिलनाडु) में सोलह हाथ की साड़ियाँ आती थीं, जिन्हें श्री वेंप्पुव स्त्रियाँ पहनती थी ।<sup>१</sup>

घनियों के घर गहने-जेवर रखने को हाथी-दाँत की पेटियाँ होती थीं जिनमें सोना पिनाया हुआ होता था ।<sup>२</sup>

विजयनगर से सूती माल, चावल, लोहा, शकर तथा सुगन्धियों का निर्यात होता था । द्रविड देश के पुलिकट बन्दरगाह से मलाका, पेगू, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपों को रगोन किनारीदार ‘कळमकारी’ (सूती माल) आती थी । बसूर, बारबूर और मगलूर के बन्दरगाहों से मलाबार, माळदीव, हुरमुञ्ज, अदन आदि पश्चिमी देशों को यहाँ का चावल आता था । मटकळ से लोहे और गन्धक का निर्यात होता था ।

आयात—घोड़े, हाथी, मोती, मूंगे, सीप, ताँबा, पारा, बेसर, रेशम और मखमल का आयात विदेशों से होता था । हाथी सिंहल (सीलोन) से और मखमल मक्का से आता था ।<sup>३</sup> मक्का से आने के ही कारण शायद इसका नाम मखमल पड़ा । उस समय के ‘पलाटि वीर चरित्र’ आदि तेलुगू साहित्य में मखमल की चर्चा कई जगह पाई जाती है ।

१. ‘कृष्णदेवरायविजयमु’, २-२ ।

२. ‘रापारायत्रमु’, ४-१७२ ।

३. V.S.C. २२१-२ ।

व्यापार में मुसलमानों के बाद दूसरे नम्बर पर कोमटी सेठ ( वनिया ) और मलाबारी थे । सेट्टियों में तमिलनाडु के चेट्टी ही अधिक थे । किन्तु इन लोगों ने विदेशी व्यापार में हिस्सा कम ही लिया । ये लोग विजयनगर साम्राज्य के भन्दर-हो-भन्दर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में, और एक जगह से दूसरी जगह माल लाया करते थे ।

देश में एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए सड़के बहुत कम थी । जो रास्ते थे भी, उन पर बैलगाड़ियाँ तक चल नहीं सकती थी । व्यापारी अपना माल बैलो, टट्टुओं, गवों, खच्चरों और वहँगियों पर लादा करते थे । इस बात को हमारे माहित्यकारों ने तो लिया ही है, पीस, बारोसा, अमंद आदि विदेशी यात्रियों ने भी अपनी आँखों देखी बातें लिख रखी हैं । जब सड़कें न हों और जगल अधिक हो तब चोर-डाकुओं का अधिक होना भी अवश्यम्भावी था । 'परमयोगीविलासमु' में परकाल नामक एक वैष्णव के जगलों में घात लगाकर व्यापारियों को लूटकर, भन्दरगाहों पर डाके डालकर देश-भर में लूट-भार मचा रखने की विस्तृत चर्चा है ।<sup>१</sup> चोरों के डर के भारे व्यापारी टोली बनाकर चलते थे । पीस ने लिखा है कि "विजयनगर से भटकल तक जाने वाले एक-एक फारयाँ में पाँच-पाँच छ-छ हजार सद्दू बैल एक साथ चलते थे । ( सद्दू बैलों को ताड़ा कहा जाता था । ) बीस या तीस पशुओं पर एक आदमी के हिनाब से व्यापारियों के अपने आदमी होते थे ।"<sup>२</sup>

कुछ लोग उस समय की कीमतों को लिख गए हैं । उनको देखने से पता लगता है कि उस समय मभी चीजें बहुत सस्ती थी । पीस ने लिखा है—

"विजयनगर-जैसे कपड़े संसार में कहीं भी मिल नहीं सकते । चायल, गेहूँ, दास, ज्वार, सेम आदि अन्नों को यहाँ इफरात है, और ये

१. 'परमयोगीविलासमु', आश्विन ६-७ ।

२. V.S.C. १० २४४ ।

बहुत सस्ते हैं। शहर में डेढ़ आने में तीन भुरगियाँ मिलती हैं और देहानों में चार। डेढ़ आने में १२ या १४ कबूतर विकते हैं। एक पण (सात आने) में चंगूर के तीन गुच्छे देते हैं और दस अनार। एक बरहा देकर शहर में बारह धकुरियाँ मोल ली जा सकती हैं और देहातों में पन्द्रह। एक सिपाही अपने एक घोड़े और एक नौकरानी का माहवार राजी ४-५ बरहा में खता सकता है।”

गोल मिर्च (बाली मिर्च) पर चुङ्गी लगती थी। उन दिनों काली मिर्च पर बहुत मुनाफा था। अभी हमारे देश में दक्षिणी अमेरिका से आज की मिर्च नहीं आई थी। तेलुगू में गोल मिर्च को ‘मिरियम’ कहते हैं। इनके साथ सात या बाला विशेषण शब्द नहीं है। हरी या लाल मिर्च को ‘मिरपकाय’ (मिर्च का फल) कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि मिर्च के स्थान पर हमारे पूर्वज गोल मिर्च का ही प्रयोग करते थे। गोल मिर्च मलयाल देश अथवा केरल में मृदु उगती थी। पूर्वी द्वीपों में भी इसकी इफ़रात थी। व्यापारी इन दूर-दूर के प्रदेशों से मिर्च मँगवाकर देखा करते थे। मिर्च पर लगने वाले महसूल से राज्य को भारी आमदनी होती थी।

‘नयनाय’ में एक गाथा वर्णित है : “एक बनिया लद्दू सादे रास्ते में खता जा रहा था। रास्ते में चौरंगी मिली। पूछा क्या है ? बनिया डर गया कि वहाँ चुङ्गी खाता न हो। महसूल से बचने के लिए उसने कहा—ज्वार है। उसे यह देखकर बड़ा पछतावा हुआ कि सचमुच उसकी सारी-की-सारी मिर्च बदलकर ज्वार हो गई थी।”

ज्वार की क्या संज्ञान पड़ता है कि उन दिनों मिर्च पर तो चुङ्गी लगती थी, पर ज्वार पर नहीं।

व्यापारी अपनी गुप्त भाषा बोलते थे। आज भी मद्रास में व्यापारी एक-दूसरे की हथेली पर अंगुनियाँ फेरकर चीजों की कीमत को बतला देते हैं। उस समय एक कोमटी भाषा (व्यापारी भाषा) थी, जिसमें उस



ग्रान्ध के अन्दर ही ऐसे लोग पाये जाते थे, जिनका पेशा फूल-मालाएँ गूँथना और बुक्का-अबीर आदि सुगन्धियाँ तैयार करना था। जिस नगर में वेश्याओं के घर हजारों की संख्या में हो, वहाँ सुगन्धियों की कमी कैसे हो सकती है ? बुक्का, गुलाल आदि के साथ पद्मीर (गुलाब जल) भी चमड़े की मशकों में भर-भरकर बिकता था।

ग्रान्ध देश आदिकाल से हीरो की खान के लिए प्रसिद्ध था। गुत्ती जकशन से बीस मील की दूरी पर एक गाँव 'बज्ज कहर' है, जो अंग्रेजों के आगमन तक हीरो के लिए मशहूर था। गुत्ती का किलेदार बज्ज कहर के हीरे ले-लेकर सम्राटों के पास भेजा करता था। उस समय के यात्रियों के कथनानुसार देश के अन्दर हीरो की ऐसी तीन-चार खानें थीं भी थी।<sup>१</sup>

सुनार, लुहार, बडई, बसार, राजगीर आदि की कृतियाँ खूब चलती थीं। इन्हें पाचाणों के नामों से याद किया जाता था। पाचाण माने शिल्पकार। आज भी कहीं-कहीं देहातो में लोहार, बडई आदि को पाचाणी कहा जाता है।<sup>२</sup>

जहाँ साधारणतया १० लाख की सेना रहती हो और जखरत पड़ने पर २० लाख सिपाहियों को इकट्ठा किया जाता रहा हो, उसे विजयनगर राज्य में लुहारों को काम की कमी कैसे हो सकती थी ? उन दिनों के लुहार अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों के अच्छे कारीगर थे। राजा-महाराजा, सरदार और महाजन लोग मन्दिर, धर्मशाला और किले आदि खूब बनवाया करते थे। इसलिए राजगीरों को काम की कमी नहीं थी।

कपड़ों पर देशी रंग चढ़ाया जाता था। विशेषकर नील का प्रयोग अधिक होता था। मजीठ, इगलीक और हरे आदि से विविध रंग तैयार किये जाते थे।<sup>३</sup>

१. V.S.C., पृष्ठ २१८।

२. 'परमयोगीविलासम्', पृ० ५२३।

३. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१०।

## जन-साधारण का जीवन

विजयनगर राज्य में आन्ध्रों का बोल-बाला था। आन्ध्र देश धन-दोलत से मातामाल था। आन्ध्रों ने अपने उत्साह और कला-प्रियता के कारण देश-विदेश में नाम कमाया। आन्ध्र के लिए वह एक प्रबन्ध-युग था, जिसमें प्रवृद्धाइयों के साथ बुराईयाँ भी सम्मिलित थी। सुन्दर वस्तु-निर्माण, मनोहर चित्र-लेखन तथा अन्य कलाएँ देश-भर में फली-फूली। घनिक वर्ग के बीच विलासप्रियता ने इसी युग में सिर उठाया। विजयनगर एक मनोहर नगर बन गया। विजयनगर की उसी उन्नति के भीतर भावी पतन के संकेत विद्यमान थे। लोगों के घर-द्वार, उनकी वेश-भूषा उनके बनाव-शृंगारों और उनके आचार-विचारों के सम्बन्ध में हमें अच्छी जानकारी मिल गई है। अब हम राजाओं और सरदारों के रहन-सहन और उनके जीवन-विधान के सम्बन्ध में भी जानने की कोशिश करेंगे।

सज-धज और ठाट-बाट से रहना उन्हें अधिक पसन्द था। वे पन्नीर (गुलाब जल) में चन्दन और वस्त्रों मिलाकर शरीर में लेप किया करते थे। सिर पर ऊँची-ऊँची तुर्रदार टोपी पहना करते थे। बानों में बड़ी-बड़ी दासियाँ और गले में मोतियों के हार धारण करते थे। सुलं किनारीदार घोतियाँ पहन-घोड़कर हाथों में सोने की मूठ वाली तलवारें धरते थे। पीछे-पीछे दासियाँ हाथों में चाँदी के पान-दान लिये चलती थी। जब राजा साहब विनोद के लिए वेश्या के घर की ओर चलते, तब इस प्रकार सज-धज कर चलते थे।<sup>१</sup>

राजमहलों के भीतर मोर भी पाले जाने थे। आराम से सोने वाले राजा साहब दिन में देर से ही जागा करते थे। फिर शरीर पर खुशबू-दार फूलों से तैयार किये हुए गंधराज की मालिश करवाते और गरम पानी से देर तक नहाते थे। तब सफेद धुनी धोनी पहनकर अनेक प्रकार के कीमती हारों और मालाओं से सुसज्जित होकर वे माने पर बैठने

१. 'भामुक्त माह्यदा', २-७५।

ये । वारीक चावल, शिकार से लाई गई जंगली चिड़ियों और मक्खन से तैयार गाय के ताजे घी का व्यालू होता था । भोजन के बाद मुख में कस्तूरी, ताम्बूल डालकर वे जीने द्वारा कोठे पर पहुँचते थे, जहाँ छोटे-छोटे पहिपेदार कुण्डों में अगुरु धूम की सुगन्धियाँ होती थी । उन्हें सूँघते हुए वे अन्त पुर की सुन्दरियों के साथ ध्यानन्द करते थे ।<sup>१</sup>

पान की महत्ता बहुत गार्ई गई है । राजे-महाराजे और धनी-मानी व्यक्तिों का पान सदा सुपारी, सोठ, हरे बप्पूर, कस्तूरी आदि बहुमूल्य पदार्थों से भरा होता था ।

अश्वमेधक ने आश्चर्य प्रकट करने हुए लिखा है कि : “पान का सेवन सभी धेंसी के लोग करते हैं और पान भी बड़ा ही उत्तेजक प्रभाव करता है । शायद इसी कारण महाराजा अपनी दो सी गै अभिक पत्नियों के भलाया अनेक उपपत्नियों के साथ भी विषय-भोग करते हैं ।”

सोने-चाँदी के सुन्दर पानदानों के ऊपर सोने की वारीक पक्कीकारी भी होती थी । उसे जाम-मस्तिष्क कहते थे ।<sup>२</sup> धनी लोग स्नान के समय शरीर पर मज्जने के लिए हल्दी, चाँवले तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों के साथ तैयार किये हुए विदोष प्रकार के घाटे का उपयोग करते थे । इसके लिए मूँग और चने का बेसन काम में लाया जाता था । यह स्त्रियों के लिए होता था । पुरुषों के लिए उसमें चन्दन का चूर्ण भी मिलाया जाता था ।<sup>३</sup> स्नान के बाद स्त्रियाँ बाराँ को अगुरु धूम से मुखरती थी और फिर उनमें जव्वाजी मलती थी ।<sup>४</sup> स्त्रियाँ नाखूनों पर लाख (रंग) चढ़ाती थी ।

मासाहारी विलासी पुरुष यमियों में भी आम की कैंरी के साथ तेल में तली मछली की बोटियाँ दिन के समय जो राखर सो रहते थे,

१. 'आमुक्त मात्यवा', ४-१३५ ।

२. 'पारिजातापहरण', २-२० ।

३. यही, ५-५६ ।

४. 'राधामाधवीयम्', ४-१६३-६८ ।

तो शाम को उठते थे और उठकर गीले बालू के नीचे दाबकर रखे हुए नारियल को निकालकर उसका पानी पीते थे। इस प्रकार मछली की दुर्गंध को दूर करने के दाद बाहर निकलते थे। जान पड़ता है कि कृष्ण-देवराय ने यह अपने ही अनुभव का बरान किया है।<sup>१</sup>

ब्राह्मणों को वैभवानन्द की कोई कमी न थी। ब्राह्मणों की भोजन-प्रियता तो प्रसिद्ध है ही। गरमियों में वे बेला, कटहल, खीरा, मीठे आम, अंगूर, अनार, भोगी हुई सूँगे की दात और गरवत लिया करते थे।<sup>२</sup>

यामुनादास के सम्बन्ध में लिखा है कि 'मुनचिना' का साग उन्हें अधिक प्रिय था। उसे मस्तिष्क के लिए अच्छा माना जाता था।<sup>३</sup>

राजाओं और उनके सम्बन्धियों में शिकार का मूढ़ शौक था। सघे हुए चीने छोड़कर वे हिरनों का शिकार करते थे।<sup>४</sup>

शिकारी कुत्ते भी रखते थे। वर्षा होने पर उन कुत्तों को जंगल में ले जाते और जहाँ वही हिरनो का झुण्ड देखते, उसे कुत्तों को चारों ओर में छोड़कर घेर लेते थे। जब हिरन भाग-भागकर दक जाते और कीचड़ में भागने की शक्ति उनमें नहीं रह जाती और वे कीचड़ में फँस जाते, तब कुत्ते उन्हें धर दबोचते।<sup>५</sup> कवि पेरुना ने तो बताया है कि ऐसा शिकार हिमालय पर्वत पर होता था। पर यह कैसे सम्भव है? हिमालय पर्वत पर चिकनी कानी मिट्टी थोड़े ही है कि हिरन उसमें फँस जायें? वास्तव में कटपा, कर्नाट और बल्लारी प्रान्तों की मिट्टी कानी और चिकनी है और वहाँ आज भी बरसान में हिरन का शिकार किया जाता है।

१. 'यामुना मात्मदा', २-६८।

२. वही, २-८३।

३. वही, ४-१६५। 'परमयोगोवित्तमम्', पृ० ५८१।

४. 'यामुना मात्मदा', ४-१६३।

५. 'मनु चरित्र', ४-२०।

## भील जाति

कडपा प्रान्त के उन इलाको में, जिन्हे मिट्टी के सान या काली होने के कारण एरॉमला (लाल जंगल) और नल्लमला (काला जंगल) कहते हैं, जंगली भील बसते हैं। उनका गुजारा प्रायः शिकार पर ही होता है। उनके सम्बन्ध में इमति ने अपने काव्य 'हस्ती-शतक' में बहुत-कुछ लिखा है।

पोता पिनाडु और उडुमूर की वस्तियों में पहले भील बसते थे। ये दोनों गाँव अब भी मौजूद हैं। पहला गाँव आजकल कडपा जिले की राजमपट सहसीस में है। उडुमूर आजकल 'उडुमूल पाड' कहलाता है। भील उन दिनों सगोटी के बड़े कमर में बड़े-बड़े पत्ते बाँध लेते थे, यही उनकी पोशाक थी। आज भी कोया आदि जंगली जातियों के स्त्री-पुरुष दोनों ही प्रतिदिन सवेरे लम्बे-चीड़े पत्ते तोड़कर करधनी से घागे और पीछे एक-एक पत्ता बाँध लेते हैं। स्त्रियाँ फूल-पत्तों की मालाएँ बड़े प्रेम से पहनती थीं। बदनजूर से बचने के विचार से वे सींगदार जानवरों के सिर एक डंडे से बाँधकर नेतों में गाड़ रखते थे। वे जंगल के फल, कद-मूल, शहद, चिरींजी आदि खाया करते थे। स्त्रियाँ अपने भूरे बालों में मोर-पंख सजा लेती थीं। भीलों के लिए तीर-कमान ही खास हथियार थे। वे अपने तीरों से जंगली जानवरों का शिकार करके उनका मांस खाते थे। आम, जामुन, कुदर, करीदा, बेर, तेंदू, मोहा, गुलर, ककौट, तरोई, कोम्मी, गोजी आदि फल उनके आहार थे।<sup>१</sup>

जंगलों में रहने वाले थे भील और कोया नाम के लिए तो ग्रहोस-पडोस के किसी-न-किसी राजा के अधीन समझे जाते थे, पर वास्तव में वे एकदम स्वतन्त्र होने थे। वे बड़े सच्चे होते थे। "जब वे किसी की अभयदान करते हैं, तो उसे एक तीर या मूत का टुकड़ा निशानी के रूप में दे डालते हैं, जिसे दिखाने पर जंगल के दूररे लोग चोर आदि उसे

१. 'श्री कालहस्तीश्वर माहात्म्य', अ० ३, प० १-१३०।

नहीं छेड़ते ।” “अगर इन पर्वतीयों की दोस्ती बनाकर न रखें तो ये बड़े दुश्मनी सिद्ध होते हैं । प्रजा को तरह-तरह से सताया करते हैं । इसलिए उन्हें घरनी मेना में भर्ती कर लेना ही उचित है । अविश्वाम हो अथवा विश्वाम, नाराजों में या खुशी में कड़ी दुश्मनी या गाड़ी दोस्ती अन्धों में सहज ही हो जाती है ।”<sup>१</sup> भीम आदि को एक बार दूध भी पिना दो तो वे वन मर पाद रखेंगे । किन्तु यदि तनिक भी सन्देह हो जाय तो वे जीना नहीं छोड़ेंगे ।”<sup>२</sup>

तेलुगु साहित्य में इस तथ्य का जगह-जगह वर्णन है कि गिफार की बात आने पर जंगली जातियाँ राजा के पास जाकर जंगली विभिन्न (पुनर्गपिल्लों), बारहसिधे, हाथीदाँत, बघनसे, हिरन की छाल, जिरौनी, काजू, गहद आदि भेंट दिया करती थीं । इनमें बट्टर के और क्या कर सकते हैं ? हमारी बगल में ही अनादि काच से रहने-महने वाले और हमारी ही भाषा को भई भाँड़ रूप में बोलने वाले गोडों, भीलों, कोसा आदि पर्वतीयों के जीवन-विधान तथा उनके इतिहास की जानने और उनका सुधार करने की प्रवृत्ति हम लोगों के अन्दर धाज तक जाग्रत नहीं हो पाई है । पाश्चात्यों ने तो उनके सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिख डाले । हाल की ही बात है कि एडमंड ड्राउ नामक एक जर्मन नागरिक हैदराबाद राज्य के जंगलात-विभाग में नौकर हुआ और उसने भीलों तथा गोंडवरी-उडवनों विषय कौडा पहाड़ी की रेड्डी-नामधारी जंगली जातियों के सम्बन्ध में कई पुस्तकें लिख डालीं और हमारा यह हान है कि हमारे यहाँ कोई उन्हें पढ़ने वाला भी नहीं ! तेलुगु भाषा न जानने के कारण उन जर्मन ने कई जगह भूलें की हैं । भीलों के सम्बन्ध में निगने के बाम्बविर अधिकारी तेलुगु ही हो सकते हैं । हमारे भीलों के सेन-कूट, नाव-गाने, आचार-विचार, वेश-भूषा, रहन-सहन,

१. वेदम् की व्याख्या ।

२. ‘धामुस्नमात्यदा’, कृष्णदेव राय ।

३. वेदम् की व्याख्या, ‘धामुस्नमात्यदा’, ४-२२३ ।

रूप-सिगार, उद्योग-धन्यो, उनकी औपधियों, मन्त्र-तन्त्र, उनकी धनुर्विद्या, तीर-कमान और छुरी-कटार, उनके खान-पान, उनकी भोंपड़ियों, उनके विश्वासों तथा उनके देवताओं आदि के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए कुछेक सिधित युवकों का आगे बढना और मेहनत करना जरूरी है ।

सरदारों के घरों में छपर-पसग होते थे जिनमें तोतो, हंसों और बेल-बूटों की बारीक खुदाई का काम होता था । पसग पर मच्छरदानी भी लगी रहती थी । दरवाजों पर दरवान, पहरेदार और चौकीदार रहते थे । सिपाहियों के बड़े जमादार को 'नकीब' कहा करते थे । यह फ़ारसी शब्द है । राजा जब कभी (दौरे या शिकार पर) उनके गाँव की ओर जाता, तब वे राजा का सम्मान करने बहुत दूर तक जाते और दूल्हे के समान स्वागत करके उन्हें ले आते थे । दिन के समय भी मशातो के जलूम और गाजे-बाजे के साथ उसका ग्राम-प्रवेश कराते थे ।

विजयनगर के महाराजाओं को अपने और राज्य के सब खर्च के भाद सालाना एक करोड 'माठा' (सोने के सिक्के) की बचत हो जाती थी । मभियों, सामंतों और सरदारों को भी वेतनों की जागीरों से सालाना पन्द्रह हजार से ग्यारह लाख भादा तक की भामदनी होती थी, जिसमें से एक तिहाई को राज्य के देय के रूप में चुकाकर बाकी दो तिहाई में वे अपना और अपनी फौज का खर्च चलाते थे । उन्हें निश्चित संख्या में सेना रखनी पड़ती थी, और जरूरत पर अपनी सेना को सरकारी सेनाओं के साथ युद्ध-भूमि में उतारना पड़ता था । परन्तु वे सरदार उस निश्चित संख्या में सेना तो प्रायः नहीं ही रखते थे । इसके बदले वे ऐसा बंदोबस्त रखते थे कि गाँव वाले बुलावा होते ही सिपाही बनकर हाज़िर हो जायें । इस तरह सब बचाकर और भामदनी बढ़ाकर वे मनमाना खर्च करते थे ।<sup>१</sup>

विजयनगर शहर का घेरा समग्र ६० मील का था । राजमहन के

अन्दर घनेक भवन बने हुए थे। बड़े-बड़े दालान और बड़े-बड़े फाटक बने हुए थे। शहर के अन्दर बड़े-बड़े मैदान भी थे। जगह-जगह पानी की कृत्रिम झीलें थीं। मंत्रियों और मण्डलाधीशों ने भी अपने लिए उसी प्रकार के भवन बनवा रखे थे। महाराजा के महल के आस-पास ही सामन्तों के भी बड़े-बड़े भवन पाँतों-पाँत खड़े थे। सभी भवन सुन्दर सजे थे, और इस कारण आँखों को आकृष्ट करते थे। विरूपाक्ष मन्दिर के सामने वाली विशाल सड़क और उसके दोनों ओर भवनों की सुन्दर कतार देखते ही बनती थी। नागुलपेट (होमपेट=नई बस्ती) के अन्दर मकान एक भजिले, किन्तु विशाल और सुन्दर बने थे।<sup>१</sup>

सामन्तों तथा सरदारों की पोशाक के बारे में बारबोस नामक यूरोपीय यात्री ने इस प्रकार लिखा है :

“ये कमर में कमरबंद बाँधते हैं। उनके झँगरले कोई बहुत लम्बे नहीं होते। कुछ छोटे और चारोंक सूत या रेशम के होते हैं। इन झँगरलों की सामने की ओर से खोला और बाँधा जा सकता है। (अर्थात् उनमें बंद लगे होते थे।) बँठते समय झँगरले के पल्लों को रानों के बीच दबाकर बँठते हैं। सामन्त-सरदारों के साफे छोटे-छोटे होते हैं। कुछ रेशमी तथा कारचोबी की टोपी भी पहना करते हैं। पैरों में छप्पलें या जूने पहनते हैं। कंधों पर भारी-सी चादर पड़ी रहती है। उनकी स्त्रियाँ चारोंक मलमल या रंगीन रेशम की साड़ियाँ पहनती हैं, जो पाँच गज लम्बी होती हैं। ये रेशमी तथा कारचोबी जूतियाँ भी पहनती हैं।”<sup>२</sup>

मूनिय नामक एक विदेशी ने विजयनगर के महाराजाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि वे गौरैया, बिल्ली, चूहा और छिपकली भी खा जाया करते थे। हमारे देश के अन्दर आज भी परम नीच चाहाल कहलाने वाले तक बिल्ली-छिपकली नहीं खाने। उन सम्राटों की स्वादिष्ट भोजनों की कौन कभी सो, जो इस प्रकार की अशुद्ध वस्तुओं के लिए तार टप-

१. V. S. C., पृष्ठ २२६।

२. वही, पृष्ठ २२७।



बाते? यह सफेद झूठ है। पाश्चात्यों ने जान-बूझकर या अनजाने ही ऐसी घनेक उतटी-सीधी बातें लिख छोड़ी हैं। 'वीसन्ना वेदम' के समान काक-भापा को काक ही समझे।

अब जन-साधारण के जीवन-विधान पर ध्यान दें। राजाघो के बाद समाज में रेड्डियों का विशेष स्थान था। कोडा बीडू राजा के साथ अपनी बेटी स्याहने के बाद भी कृष्णदेवराय और रेड्डी राजाघो में कभी नहीं बनी। आये दिन लड़ाइयाँ चलती रही। निदान, रेड्डी-राज्य का पतन हो गया। विजयनगर साम्राज्य के अन्दर रेड्डी लोग गाँव के मुखद्म-मुखियों की हैसियत से रहकर, सेना में भरती होकर अपना खेत जोतकर गुजारा करते रहे। राजा कृष्णदेवराय ऊँचे दरजे का कवि भी था। उसने इन रेड्डियों की बार-बार हंसी उड़ाई है—(भावार्थ) "घंटी की इकन्नी को आठ बार खोलने और बाँधने में घलसाते न रेड्डी हैं।" अर्थात् रेड्डियों की दशा इतनी गर्द-गुजरी थी कि कहीं से इकन्नी का सिक्का पा जाते तो बारह गाँवों में बाँधकर रखते थे। जरूरत पड़ने पर भी बार-बार खोलते तो थे, पर खरबने की हिम्मत नहीं कर पाते थे या न चाहते पर भी रख कर पड़ जाता था। गरीबों के लिए तो एक आना ही भारी खजाना है। रेड्डी लोग अपने खेतों में मवान डालकर दिन-भर चिड़ियाँ हुदाकाते और रात-भर चोरो से खेतों की रगवासी करते थे। रेड्डी, स्त्रियाँ सावन-भादों की ऋद्धि में भी सिर पर गट्ठा के मटके डलिया में रने और उन पर से मरपत का छाता ओढ़े खेतों के रखवाले पतियों को खिलाने जाती। रखवाले को ज्वार-बाजरे के हरे मुट्टे खाने को भूब मिलते थे। कृष्णदेवराय ने वर्षा में रेड्डियों की दशा को इस प्रकार बखाना है :

"गुनुग, चंबसी, तुम्मी, तगिरिसों : मेड़ों की बरसातो साग,  
या इमली के दूँते को ही खूब तेल में धोंक-बघार  
ज्वार-बाजरे के डलिये सँभ लाकर लेते हुए डकार  
घलते हैं खेतों की रेड्डी, गायें-बछड़े लेते घाट

उनमें धंगों को । ऐसी सरदी में गरमाने को खाट,  
तले धनन्य मित्र बकरी की मेंगनी को झंगीठी डाल  
तान लगाते हैं.....”<sup>१</sup>

इस पद्य का तात्पर्य यह है कि सावन में घास-पात तो उगती ही है; रेड्डी सब तरह के सागों की कुट्टी-सानो बनाकर खिचड़ी-साग तैयार करने थे और तेल, नमक, मिर्च आदि डालकर उसे पकाते और खाते थे । किसान होने के कारण उनकी गायें-भैंसें और बकरे भी होते ही थे, घान के खेतों में वे खाट पर पड़कर कौड़ा तापते थे ।

समय की गति देखिये, जिनके सम्बन्ध में सम्राट् कृष्णदेवराय ने ऐसे उद्गार प्रकट किये, एक सौ वर्ष के बाद उन्हीं रेड्डी प्रमुखों के बारे में तजावर के रघुनाथ राम ने यो लिखा है -

“भोजन कर कपूर्ंरी भोग सुगन्धित चावल,  
कंधे पर लम्बी-खोड़ी-सी उमदा चादर  
और उंगलियों में सोने की नग-झंगूठियाँ  
ऐंठे धँठे रेड्डी प्रभु कचहरी लगाकर !”<sup>२</sup>

रेड्डी लोग ग्रामाधिकारी होते थे । खोरो को पकड़कर उन्हें दण्ड देना, भगड़े चुकाना, गाँव की रक्षा करना आदि उनके कर्तव्यों में से थे ।<sup>३</sup>

इस सन्दर्भ में कृष्णदेवराय ने रेड्डी शब्द के कई पर्यायों का प्रयोग किया है । राष्ट्रकूट, रट्टकूटि, रट्टि रेड्डी आदि सभी एक ही शब्द के बदले हुए रूप हैं । उन् १६५० ई० के बाद से ‘रेड्डी’ शब्द ही सुस्थिर हो गया । तेनात्ती रामकृष्ण तथा चेमकर वेंकटपति की कविताओं से भी इसकी पुष्टि होती है ।

रेड्डियां ने मेती को अपना जात-पेशा बना लिया । धान्ध्र देश के

१. ‘भामुक्तमात्यदा’, ४-१३४ ।

२. ‘रघुनाथ रामायण’ ।

३. ‘भामुक्तमात्यदा’, ७-१६ ।

अन्दर उनकी अच्छी साख थी। पेटा मँलार रेड्डी बहुत प्रसिद्ध था। बहुत-से रेड्डी ग्रान्ध से बाहर दूर-दूर के प्रान्तों में भी जा बसे थे। आज भी कितने ही रेड्डी तिरुचनापली, कोयम्बतूर, सेलम आदि में बसे हुए हैं।<sup>१</sup>

कृष्णदेवराय और रेड्डी राजाओं के बीच शत्रुता किस सीमा तक पहुँच गई थी, इसी सम्बन्ध में एक गाथा सुनने योग्य है। कृष्णदेवराय की ओर से रामभास्कर नामक एक ब्राह्मण कोडावीडु पहुँचा। वहाँ पर उसने भगवान् गोपीनाथ के पुराने मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया। फिर राजा और उसके सम्बन्धियों को देव-दर्शन के बहाने मन्दिर पर बुलाया तथा मन्दिर के भीतरी भाग में से जाकर एक-एक करके उन सभी को कत्ल करवा डाला (सम्भवतः कृष्णदेव राय के गुप्तचरों द्वारा)। उसके बाद कृष्णदेव राय ने कोडावीडु पर चढ़ाई कर दी और उसे हस्तगत कर लिया।<sup>२</sup> कुछ और ग्रान्धों ने भी इस घटना की पुष्टि की है। फिर भी इसकी सत्यता पर विश्वास कम ही होता है।

उस समय की खेती-बाड़ी के सम्बन्ध में बरबोसा ने लिखा है—  
 “कन्नड़ देश में धान की खेती होती है। बुवाई सम्बन्धी-सी जाती चलाकर करते हैं। सूखी जमीन में ही बीज बिखेर देते हैं।” एक सौ वर्ष पूर्व ‘सर टॉमस री’ नामक अंग्रेज ने रायल सीमा के तालाबों (बाँध) के बारे में कहा है—“इस प्रान्त में नये तालाबों के निर्माण का प्रयास करना धर्म्य है। पूर्वजों ने प्रत्येक सुविधाजनक स्थान पर बाँध बाँध रखे हैं। कड़पा जिले की एक तहसील के अन्दर ३५७४ तालाब बने हुए हैं।”  
 विजयनगर के सम्राटों ने भी अनगिनत तालाब बनवाये और इस प्रकार किसानों को प्रसन्न करके देश में अन्न की समृद्धि कर दी। कृष्णदेवराय की यह सुनिश्चित नीति थी। उन्होंने स्वयं लिखा है—“छोटी-छोटी

१. Salatore II, पृ० ३७।

२. वही, पृ० १३३-४।

३. V.S.C., पृ० १६।

जगहों (इलाकों) पर भी ताताब और नहरें खुदवाने तथा किसानों को कम लगान पर जमीन देने से उन्हें सुविधा होगी और वे उन्नति करेंगे। उनकी उन्नति से राज-कोष भी भरेगा और वे राजा को धर्मार्थमा कहकर मद करेंगे।”<sup>१</sup> तूनिज नामक एक समकालीन व्यक्ति ने लिखा है कि “नागुलापुर (होसपेट) में कृष्णदेवराय ने एक बड़े ताताब का निर्माण करवाया। उसके पानी से धान के खेतों और बागों को सिचाई होती थी। किसानों को अपनी धोर आकर्षित करने के लिए राजा ने लगातार आरम्भ के नौ बरसों तक उन जमीनों से कोई लगान नहीं लिया। उसके बाद जो बीस हजार माडों की बमूली हुई, उससे उसके एक मंडलाधीश कोंडमा रावु ने उदयगिरि में अनन्त सागर के नाम से एक दूसरा ताताब बनवाया।”<sup>२</sup>

कृष्णदेव राय ने किसानों को अनेक सुविधाएँ दे रखी थी, पर उनके सरदारों ने अधिक लगान बमूल करके किसानों को खूब तंग किया। परिणामस्वरूप बहुत-से किसान अपने गाँव छोड़-छोड़कर ऐसी जगह चले जाते थे जहाँ लगान का भार कम हो। उत्तर सरकार में लोगों पर लगे हुए ३३ प्रकार के करों में से केवल एक कर विजयनगर की केन्द्रीय सरकार को पहुँचता था। बाकी ३२ कर देव-स्थान वाले हड़म कर जाते थे। कृष्णदेव राय ने ब्रह्मराय, देवाराय और भूम्याराय नाम के कई करों को रद्द कर दिया। चिदम्बरम् के किसानों ने अधिक लगान के विरुद्ध हाथ-तोबा मचाई तो वहाँ के मंडलाधीश ने लगान घटा दिया था। एक और स्थान के किसान भुण्ड-के-भुण्ड कृष्णदेवराय के पास पहुँचे। राय ने उनकी प्रार्थना सुनी और उनका लगान कम कर दिया।<sup>३</sup>

देग-भर में हर वही काँदी होन यें। इसे नदेल दोडुी कहते हैं।

१. ‘ग्रामुक्तमाल्यदा’, ४-७३६।

२. V.S.C., ५० २१७।

३. V.S.C., ५० २२८।

दूसरों के पशु खेत चरे तो उन्हें घेरकर इस दोड़ी या बाड़े में बन्द कर दिया जाता था ।<sup>१</sup>

रेड्डी की पोशाक एक कवि के शब्दों में सुनिए :

“सिर पर गोल बसंती पगिया,  
मोटी-सी चादर से उभरी मोटी गरदन,  
छोटी-सी दाढ़ी है, मूँछें तावदार हैं,  
देवदार का उज्झा, हाथों में अरिमर्दन,  
और उंगलियों में बाँकी भ्रूण्ठियाँ पहने,  
चला जा रहा है रेड्डी “.....”

यही कवि एक कापु के बारे में लिखते हैं :

“काँधे पड़ी लकड़िया, जिससे लटक रहा है पया पीठ पर  
सिर पर पड़ी हुई है चुन्नट—बँधी गाँठ लटके कम्बल की  
फूलछाप धोती है कसो कमर से लटक रही, हाथों में  
लटका है भटका गटके से भरा हुआ भारी-सा, हल्की  
सूठ जुए से लटकी है उलटी, जो पड़ा हुआ कंधों पर  
पनियल घेलों के, जिनको हाँकता हुआ वह चला आ रहा.....”<sup>२</sup>

रेड्डी भी कापु कहलाते हैं । उन्हें पंट-चापु भी कहते हैं, जिसका मतलब है खेतिहर । यर्षात् खेतिहर रेड्डी कापु कहलाते थे । यह नाम दूसरी जाति के किसानों के लिए रहा होगा, किन्तु जब रेड्डीयों ने खेती की वृत्ति अपना ली तो यह नाम रेड्डीयों के लिए ही रह गया ।<sup>३</sup>

सिर्वाई वाली जमीनों में धान की फसल अच्छी होती थी । धानों की कई किस्में थीं । कृष्णदेवराय ने कुछ नाम ये गिनाये हैं :

वेला, लज्जर, पुष्पमंजरी, मामिडीगुत्ती, कुसुम, सपणी, पञ्चगन्नेर, पाला, राजान्न आदि ।

१. ‘मनु चरित्र’ ।

२. ‘परमयोगीवितासमु’, पृ० ४७८ ।

३. वही ।

यह तो हुई रेड्डी काश्तकारों की बात । अब अन्य जातियों के बारे में विचार करेंगे :

### पटवारी की पोशाक

“सामने तर्होतह जमी हुई उजलतो घोती  
है झूब रहो । माये पर छोदो-सी पगिया ।  
अधबहिया ‘कुप्पुसमु’, मानो कोई धंगिया ।  
सामान बगल में दबा; दफ्तियो का बस्ता ।  
घो’ छु’सी कान पर सेलम-खरिया की बत्ती ।  
झूमते हुए चल पड़े कहीं पटवारी जो ।”<sup>१</sup>

(लेखक ने ‘कुप्पुसमु’ का अर्थ अंगरखा किया है। यह शब्द वन्नड में चोली के लिए आज भी चलता है। पुरानी अधबहियों की शक्ल चोली की शक्ल से मिलती-जुलती है।) दफ्तियों का बस्ता तीस-चालीस साल पहले तक बनिये इस्तेमाल करते थे। पाँच-सात दफ्तियों को डोर से जालीनुमा सीकर उस पर कोयले और हरे पत्ते से काला पोत ढका देते थे। सेलम खरिया की बत्तियों से उस पर हिसाब-किताब लिखा जाता था। चाहे जितनी दफ्तियाँ लगी हों, तह करने पर सभी एक दफ्ती के बराबर में आ जाते थे और जमकर बड़े पोचे के-से हो जाते थे। उन दिनों पटवारी इन वस्तुओं में रजम-बमूली का हिसाब रखते थे। वे उन्हीं वस्तुओं को बगल में दबा, कान में खरिया बत्ती खोसे चला करते थे। यही उनका दफ्तर था। बी० सूर्यनारायण ने एक जगह लिखा है कि पटवारी काले कपड़े पर ‘बही’ लिखा करते थे। उस समय जमीन दवामी पट्टे पर नहीं दी जाती थी। किमान सालाना कोल अधवा बटाई पर गेत लिया करते थे। भंडलाधीश रकम बमूल करके अपना हिस्सा रख लेते थे और बाकी राज्य का हिस्सा सम्राट के पास भिजवा दिया करते थे।

१. ‘परमयोगीवितासमु’, पृ० ४५८ ।

## राजगीर

“गले में जनेऊ, काँस-तले शिल्प-शास्त्र पड़े,  
टेढ़ी पाग, बाँहों में रेखांकित सोहे के कड़े ।”

उनके औजार कुमुद, चंदरपान, कप्टुचूर, कम्बवान, पयकम्, महा जगति, उग्रजगति आदि होते थे । उपर्युक्त पद्य पढ़ने पर बहुतों को आश्चर्य होगा कि उस समय राजगीर जनेऊ पठनते थे । ऊपर के चार-छ पद्य मारे-के-सारे ‘परमयोगी विलास’ के हैं । लेखक भी वही है । आश्चर्य इस पर होना है कि दाहण आदि के लिए भी जिसने जनेऊ का वर्णन नहीं किया, उसने इन राजगीरों को ही जनेऊ क्यों पहना दिया है ? दूसरी बात आश्चर्य की यह है कि उस समय एक शास्त्र इसका भी या और राजगीर उस शास्त्र के अच्छे ज्ञाता होते थे । जिन औजारों के नाम दिये हैं वे घन-हथौड़े आदि नहीं बल्कि माप, दिशा आदि यत्नाने वाले कोई विशेष यन्त्र ही रहे होंगे । इनमें से एक भी शब्द तेलुगू ‘स० रा० निघटु’ ग्रन्थवा मस्केन कोश ‘सब्द वलपट्टम’ में नहीं है । हो सकता है कि ‘वास्तु-ग्राम्थ’ में इनकी खर्चा हो ।

मरनाशमरी की पोशाक है :

तेल पिघे चमड़े की अधर्माही, सिर पर ‘टेबकी’ टोपी,

पोतल की दाब-चक्र धालियाँ, हिरन के सींग,

लाल की चंसी, केवड़ों के पत्तों का छाता,

घोड़े के बालों के तार वाली चाँदालिका, {थोणा}

मंजीरा, जगल भग्ना, श्री तुलसी की माला,

धार्मिक गायत्रियों के गायक कयक कयक-जन का,

ऐसा या पहनावा, ऐसी भी रूप-भग्ना, ।”<sup>१</sup>

बेगार की प्रथा भी उन दिनों मौजूद थी । ताहल्लेवाकों ने वेह तिह-मन्गव्य-रवित माने जाने वाले ‘बेकटेश-शनकम्’ में लिखा है कि :

“बेगार और विमन पुण्य विचार ।

१. ‘आधुवन मात्यदा’, ६-६ ।

इन दोनों में भला क्या सरोकार ?

बेगार तो बस बेगार है !

मजूरी न उसको दरकार है !”

इनी ताइलें पाकें ने कहा है कि -

“पुण्य न जाने भट्टिमारिन

जात न माने दोम्मारिन ।”

लेखक ने इतना ही बहुरर बस कर दिया है। इसके बाद ही वेश्याओं का वर्णन शुरू होता है। इस वर्णन से पहले ठीक भट्टिपारी तथा दोम्मारी स्त्री का नाम आ जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामे जिम वृत्ति का वर्णन है, उसके साथ इन दोनों का समावेश करना उन्होंने अनुचित नहीं समझा।

### वेश्या

“चन्द्रकान्त कन्धे से केदा-कलाप सँवारे,  
डोली छोटी गुँघे, सीधी माँग निकाले,  
रेशम की साड़ी पहने, जम्बादि<sup>१</sup> बसाये,  
गले मोनियों की लड़ियों की नाला डाले,  
पत्ते-जैसे हरे रंग का टीका माये,  
उस पर से कूम्भाण्ड-बीज-सा कुंकुम-टीका,  
ताटक, हीरक-हार बीच मोती की झालर,  
कंगन पर फिर कसावन्द भी मोती ही का,  
बाजूबंद, घेंगूठी घुण्डीदार मेलला,  
सोने की सांकल, ताबोज, जड़ाऊ काँचो,  
घालों में नगजड़ा सौंय-टीका, ललाटिका,  
वन-ठनकर निकली वेश्या नागर-मन-राँची ।”<sup>२</sup>

१. इत्र ।

२. 'परमयोगीविलासमु', पृष्ठ २७३-४ ।



दिनों के सातनियों की वेश-भूषा का वर्णन इस प्रकार है :

"मुन्दर तिलकधारी कौल-तले ताडपत्रों के बस्ते भुजाओं पर शंख चक्र की छापें....." १

वस्ती के बाहर चमारों की असंग वस्ती होती थी। अब भी यही हाल है। चमार चमड़े की चप्पलें तैयार करते थे। वे चमड़े का बड़ बड़ की पत्ती में दबाकर नरम करते थे। [चाम को कमाने की देसी पद्धति अब भी यही है।]

विजयनगर शहर में वेश्याओं की संख्या अत्यधिक थी। उन पर कर लगता था, जिसे गणचारी पट्ट (महमूल) कहा जाता था। (इस कर शब्द के साथ 'मुत्ता' यानी ठेके के शब्द का प्रयोग किया गया है। तो क्या इसकी यस्मूनी ठेके पर होती थी ?) इस कर से इतना धन बसूल होता था कि नगर की रक्षा के लिए जो ६२००० रक्षक भट रसे गए थे, उनका सारा वेतन इसीसे पूरा हो जाता था। राजा, सामंत, धनी, सरदार आदि वेश्याओं को रख निधा करते थे। यह काम वे छुले-धाम करते थे, और इसमें अपनी सरदानगी मानते थे। अच्छे-अच्छे राजाओं, सामंतों और सरदारों ने अपने दरबारी कवियों द्वारा इन वेश्याओं पर कविताएँ लिगवाईं। सिंगमनायडू ने तो अपनी वेश्या का लक्ष्य करते हुए पूरे 'भोगिनी दडकम्' की रचना करवाई। (मजा तो यह है कि आज बहुत-से साधक जन और ब्राह्मण इस 'भोगिनी-दडक' का दैनिक पाठ करने हैं अनु०)। बड़े-बड़े अधिकारी इन वेश्याओं को जगमो और उत्सवों में अपने साथ बिठाने थे। और बीच-बीच में उनसे दिल्लगी करके मन बहुलाने थे, अपना भी और दर्शकों का भी। २

बासरी की खर्चा ऊपर की जा चुकी है। ये 'मध्यागोपालभिरता' से आजीविका पेंदा करने थे। अर्थात् मध्या समय कृष्णगोपाल के गीत गाने हुए घर-घर भिरता माँगते थे। (गोपालम् की मिथ्या का गमाज में

१. 'कृष्णराघवचरित्र', २५।

२. 'आमुक्त माल्यदा', ४-३५।

आदर था, ब्राह्मणों के बच्चे भी, सावन के हर सनीचर को नाक की जड़ से बालों की मांग तक 'दासरी'-तिलक मानी लम्बी-चोड़ी कूकुम-रेखा लगाकर, सब द्विज जातियों के घर भीख मांगने जाते हैं।) दासरी भीख मांगने थे, चमारों की श्रेणी के थे, फिर भी बड़े आदर की दृष्टि में देखे जाते थे।

ब्राह्मण अपनी विद्वत्ता अथवा पूजा-पाठ से निर्वाह करते थे। पुरोहिती या जमीन आदि न होने पर भी ब्राह्मणों की गुजर-बसर अच्छी ही होती थी। मन्दिरों और क्षेत्रों में उन्हें भोजन मुफ्त मिल जाता था। (यह प्रथा द्रावड़कोर कोचीन में अब भी है। त्रिवेंद्रम के पन्ननाभ मन्दिर में शहर के सारे ब्राह्मण, अपने बाल-बच्चों के साथ दोनों शाम भोजन कर सकते थे। पता नहीं अब भी यह प्रथा चालू है या नहीं।) उन दिनों ब्राह्मणों को हर सनीचर तैल-स्नान के लिए तेल भी दिया जाता था। पूजा-व्रतों की भी कमी नहीं थी। अनेक प्रकार के दान-धर्म पाने के अधिकारी ब्राह्मण ही थे। विशेषकर षोडश दान पर तो हेमाद्रि ने एक पूरा ग्रन्थ ही रच डाला था। यह ग्रन्थ एक प्रामाणिक धर्म-शास्त्र बन गया। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि रेड्डी राजा हेमाद्रि के सभी नियमों का विधि पूर्वक पालन करते थे। ग्रहण, सक्क्रमण आदि अवसरों पर शान्ति के लिए ब्राह्मणों को दान दिये जाते थे।

'ग्रामुक्त मान्यदा' के अनुसार ऐसे बहुत-से पुरोहित ब्राह्मण थे जो झूठ-झूठ बानें बनाकर जाप-पाठ करके ठगते थे। वहीं किसी के घर कोई मरे या पैदा हो, ब्राह्मण देवता समदूत बनकर हाजिर रहने। दान-दक्षिणा के लिए ठेला-ठाली करते। वहीं मुर्दों को ढोकर पैसा लेते, तो वहीं उनके नाम पर डटकर खाते। इस प्रकार आदर-धनादर, पाप-पुण्य की परवाह न करके पेट-पूजा करने वाले ब्राह्मणों की कमी नहीं थी।

सभी ब्राह्मण ऐसे न थे। पर कम-से-कम कुछ ने तो ऐसा जरूर किया। ब्राह्मणों ने अनेक विद्याओं का अभ्यास किया। विशेषकर वेद, वेदांग, भीमासा, न्याय, पुराण, धर्म-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, कर्म-काण्ड आदि

सभी पर ब्राह्मणों ने अधिकार प्राप्त कर लिया था। ब्राह्मण खेती नहीं करते थे। यदि की भी तो बहुत कम ने खेती की है। 'ऋणम् कृत्वा धृतम् पिबेत्' के न्यायानुसार यदि कर्जदार बन गए, तो जमीन-जामदाद रहन रखकर काम चलाते, पर खेती या मेहनत-मजदूरी का नाम न लेते।<sup>१</sup>

दरबारों में विद्वानों की सभाएँ होती थी, जिनमें शास्त्रार्थ चला करते थे। प्रसिद्ध विद्यापीठों के अन्दर भी शास्त्रार्थ होते थे। मदुरा में दक्षिण देश का प्रसिद्ध विद्यापीठ था। पहले भी कची (काचीवरम्) काशी व काश्मीर, तक्षशिला, नालंदा, नवद्वीप, अमरावती आदि अनेक स्थानों में ऐसे विश्वविद्यालय विद्यापीठ रह चुके थे। अध्ययन पूरा करने के बाद विद्यार्थी गुरु की आज्ञा से किसी विद्यापीठ में पहुँचते थे। वहाँ की पण्डित-परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते थे और जय-पत्र (डिप्लोमा) प्राप्त करके वहाँ से निकलते थे। "राजसभाओं में विद्याधिकारी नियुक्त रहते थे। किसी विद्वान् अथवा कवि के आने पर राज्य के विद्याधियों के सामने वाद-विवाद चलते थे। जो जीतता, उसे पुरस्कार दिया जाता। हारने वालों की तो बुरी गत बनती थी। सज्जा के मारे उनके होश उड़ जाते थे और वे सभा से उठ भागते थे। जाते-जाते झूठे भूल जाते, और इस-लिए फिर लौट आते। अपनी ही भूल से क्यों न हो, झूठा-चप्पल ढूँढ़ न पाने पर राजा को ही दो-चार सुना बैठते और इस प्रकार तरह-तरह से परेशान होते।"<sup>२</sup>

'ग्रामुक्त माल्यदा' में यह भी लिखा है कि ऐसी पण्डित-सभाएँ राज-भवन के चतुःशाला भवन में हुमा करती थी। जीतने वाले पण्डितों और कवियों को राजा आदर-महमान के साथ भेंट (टंक) देकर विदा करते थे। भेंट में "तरोई के फूलों-जैसी चमकती टंक धूलियों में भर-भरकर दी

१. 'मनु चरित्र', ३-१२६।

२. 'ग्रामुक्त माल्यदा', ४-४।

जाता।"१

जिन विदोषजों ने प्राचीन सिक्को का अनुसंधान किया है, उन्होंने यह वही नहीं लिखा कि विजयनगर में सोने के टंक चालू थे। वह निश्चय ही सोने का सिक्का था। नये टंक तरोई के पीले फूलों की तरह चमका करते थे। कवि-सावंभोम को इसी विजयनगर के सभा-भवन में टंक से स्नान कराया गया था। ऐसे प्रमाण होते हुए भी न जाने क्यों सिक्कों के विरोध इस विषय पर चुप हैं।

कवियों के बैठने के आसन को संलपीठि कहा जाता था। यह तमिल देश का आचार था। श्री राजपल्लि का मत है कि तमिल देश में कवियों के संधम् नामक पीठ-स्थान थे। उसी 'संधम्' को 'कालहस्तीस्वर शतरु' के रचयिता ने 'सधम्' कहा है।

अपनी कवि भल्लसनि पहना कृष्णदेव राय के दरबारी कवि थे। राजा ने स्वयं अपने हाथ में कविवर के पैरों में 'गडेपेंडेरमु' (पुरस्कार-सूचक स्वर्ण आभरण) पहनाये थे। स्वयं अपने कंधों पर उनकी पालकी ढोई थी। जब कभी राजा की सवारी निरन्त्री होती और उन्हें रास्ते में कहीं भल्लसनि दीव जाते, तो तुरन्त हाथी को रोक्कर राय-राजा कविराट्ट को अपने साथ भ्रम्यारी में बिठा लेते थे। ये प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। रामराज भूषण ने लिखा है कि : " 'भंरयो कविताता' (कविवर दादा भंरवी) को राजगदियों पर स्वयं राजाओं को बगल में बैठाया गया है। राजाओं के मन्त्री, सेनानी और मंडसापीश के पदों पर प्रायः ब्राह्मण ही नियुक्त होते थे। इस प्रकार ब्राह्मण प्रत्येक क्षेत्र में महान् अधिकारी माने जाते रहे।"

कृष्णदेव राय की पोशाक के जो वर्णन उनके समकालिकों ने दिये हैं, उनमें पता चलता है कि राजा बारचोबी की हाथ-भर लम्बी टोपी पहना करते थे। युद्ध-भूमि में सिर के मूती साफे में जवाहराट्ट पहना करते थे। शरीर में उजली बारचोबी के कगड़े और गले में बीमती

जवाहर के द्वार होते थे । राज-भवन के नौकर-चाकर भी टोपी पहना करते थे ।

न्यूनिज ने लिखा है कि : “राजा एक बार के पहने कपड़े दूसरी बार नहीं पहनते । वह केवल बारीक कारचोबी के कपड़े ही पहना करते हैं । उनके ताज या टोपी को ‘कुलाई’ कहते हैं । तिरुपति क्षेत्र में कृष्ण-देवराय की मूर्ति उनकी दो पत्नियों के साथ खड़ी है । उसमें राजा के सिर पर फुंदके की तिरछी टोपी रखी है । अलिया रामराजु की पुढ-पात्रा का जो चित्र मिलता है, उसमें भी हाथ-भर की टोपियाँ बिछाई गई हैं । हो सकता है ऐसी टोपियों का रिवाज कर्णाटक में रहा हो ।”

यह उस समय के मुसलमानों की पोशाक नहीं थी । उनकी तस्-धीरो में ऐसी टोपियाँ नहीं हैं । तेलुगू देश में भी इनका प्रचलन नहीं था । श्रीनाथ को भी प्रौढ देवराय के दरबार में जाते समय उसे कर्णाटकी दरबारी पोशाक पहननी पड़ी थी । वह सिर पर यही ‘कुल्ला’ या ‘कुलाई’ रखकर, महा कूर्पासन नामक चोगा पहनकर और उसके ऊपर से एक बड़ी चादर डालकर दरबार में गये थे । कर्णाटकों ने फारसी के कुलाह (टोपी) शब्द को मुसलमानों से लिया होगा । अप्रुद जनता में भी यह शब्द तेलुगू है । विनोदकर छोटे बच्चों की तिकोनी या चौकोनी टोपी को कुल्लाई या कुल्ला ही कहते हैं । इसके लिए तेलुगू में दूसरा कोई शब्द नहीं है । अस्तु, विजयनगर के कर्णाटकी राजाओं की लम्बी टोपी के अनुकरण पर आज भी कर्णाटकी भित्तारी हाथ में भिक्षा-पात्र के साथ-साथ सिर पर लम्बी टोपी भी पहनकर रामदास के भजन गाया करते हैं ।

माधारण लोंगो की वेश-भूषा के सम्बन्ध में अन्दुरंजनाक ने लिखा है—“इस देश में घनी-भानी लोण कानों में बालियाँ, गले में हार, पाशुओं में कड़े और हाथों में अँगूठियाँ पहनते हैं ।”<sup>१</sup>

निकोलोडी माटी नामक पादचात्य यात्री ने लिखा है—“पुदय दाड़ी

तो नहीं रखते, किन्तु सिर पर चोटी बढ़ाते हैं और उन बालों में गाँठ देते हैं। यूरोप की तरह यहाँ के लोग भी ऊँचे और स्वस्थ होते हैं। भारीदार दरियों पर जरी के किनारे वाली सफेद चादर बिछाकर सोने हैं। कुछ स्त्रियाँ पतली तली की जूतियाँ पहनती हैं, जिन पर सुन्दर कारचोबी का काम किया होता है।”

बारबोसा नामक एक दूसरे पाश्चात्य यात्री ने लिखा है—“युरप छोटे-छोटे साफे बाँधते हैं, या रेसमी टोपी लगाते हैं। मध्यमवर्गीय चप्पलें पहनते हैं। स्नान के समय शरीर पर मसने के उबटन में चन्दन, केसर, कपूर, बलूरी तथा घीबुझार मिलाकर पनीर या गुलाब-जल के साथ पीसकर मालिश करते हैं।”<sup>१</sup> विजयनगर के निवासी मुसलमानों की तरह चट्टी या जपिया पहनते हैं, जिसे ‘घण्डातकम’ कहते हैं।<sup>२</sup> टोपियाँ दो प्रकार की होती थीं। हाथ-भर की टोपी को चर्चा पहने हो की जा चुकी है। दूसरी टोपी कपड़े की बन्ददार होती थी, जो मिर ने चिपकी रहती थी। सिर के बालों के साथ बान और गालों को भी छिपाकर ठोड़ी के नीचे बन्नों में बाँध दी जाती थी। बनटोप इसीसे कहते हैं। [तेलुगू में हान-हान तक ‘बानटोपी’ और ‘कुल्लाई’ ये दोनों शब्द चालू थे।]

राजा किसी अधिकारी के काम से खुश होने पर उसे नई घोड़ी, चादर, धंगी और टोपी पुरस्कार दिया करते थे। मुमलमान बादशाहों ने इसे ‘गिन्धत’ कहा है। धंगरने के लिए ‘कच्चाई’ या ‘गच्चाई’ शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। कुछ कवियों ने इसे कवाई कहा है।<sup>३</sup> कच्चाई के घसर्ना उच्चारण का सही पता नहीं लगता। कुन्नाई की तरह यह भी विदेशी शब्द हो सकता है। कवि विगनी मूरना ने पहली बार इन शब्दों का प्रयोग किया है। उसमें पहले कवियों की रचनाओं में यह शब्द देने में नहीं आया ! [ यह कवाई, कच्चाई या गच्चाई

१. Salatore, भाग २।

२. ‘धामुवन मात्पदा’, ४-३५।

३. ‘परमयोगीविनायकम्’, ४८२।

असल में धरवी का शब्द 'कूवा' है ।]

सवारियों में बैलगाड़ी, बैल, घोड़ा, अन्दलम् और पालकी के नाम आते हैं । पालकी तथा अन्दलम् सभानार्थक शब्द माने जाते हैं, किन्तु यहाँ पर कविता में दोनों शब्द साथ-साथ आये हैं । इसलिए इनके अर्थ भी अलग-अलग होवे ।<sup>१</sup> 'अन्दलम्' वह पालकी है जिसमें उत्मयो के अवसर पर ठाकुरजी की सवारी निकाली जाती है । और पालकी शायद 'भ्याना' है । पालकी में परदे भी लगते थे, 'अन्दलम्' खुला होता था । धनी वर्ग अपने घरों में छप्पर-पलग रखते थे, जिसमें मच्छरदानों भी लगी रहती थी । प्रायः झूला-पलग भी पाये जाते थे । इन पलगों पर खुदाई का सुन्दर काम किया होता था । ये पलग कैसे थे ?

"सोने की जंजीरों, भूँगा पिताये हुए पायों, हीरे-जवाहर जड़े तोतों और हंसों आदि से तथा सोने के फूलों, चित्र-विविध बेल-बूटों, सूत के किवाड़ों, रंग-बिरंगे मोल लम्बे-छोटे तकियों तथा केसरिया बिछीनों से उन पलगों के चारों ओर की दीवारें जगमगा रही थीं । कमरों में बड़े-बड़े लड़े और छोटे हाथ के आइने थे । उनके बीच राजा अपने अन्तःपुर की स्मृतियों की सेवाएँ स्वीकार करते हुए ....."<sup>२</sup> सुप्रामाण्य मानने वाले आचार्यान् लोग शीशे की मिट्टी या बना समझकर काल के शीशे का प्रयोग करते थे, जो खूब माँजने पर चमक उठते थे और उनमें लोग अपने चेहरे देख लिया करते थे ।<sup>३</sup> जाली के बटुओं में रुपये-पैसे भरकर उसे कमर से बाँधा जाता था ।<sup>४</sup>

गरीबों के घर फूस के होते थे । 'आमुक्त माल्यदा'<sup>५</sup> के अनुसार मिट्टी के घाये भी होते थे । विदेशी यात्रियों ने लिखा है कि जन-साधारण की

१. 'कलापूर्णोदयम्', २-७ ।

२. 'परमयोगी विलासम्', पृ० ४८२ ।

३. 'आमुक्त माल्यदा', ४-१८० ।

४. 'परमयोगी विलासम्', पृ० ५०३ ।

५. ४-१२३ ।

अपेक्षा वेद्याघो के घर ही अधिक सुन्दर तथा वैभवपूर्ण हुआ करते थे। पोक ने लिखा है कि वेद्याएँ बड़ी धनवाद होती थी और उनके घर बढ़िया होने थे।

### प्रजा के आचार-विचार

सोगों को कुश्ती खेलने और देखने का बहुत शौक था। 'मल्लमुद्रा-दिक्म् दृष्ट्वा'<sup>१</sup> तेल मलकर नहाने पर तेल छुड़ाने के लिए शष्पी का प्रयोग करते थे।<sup>२</sup> 'मरुनुतीगा' अथवा 'मर्नुमातगी' एक प्रकार की घेल है, जिसकी पतियाँ बारीक और फन साल घुमची [रत्ती] के समान होने हैं। उसके अन्दर दो बीज ककड़ी के बीज की तरह, पर एक-दूसरे से उलटी दिशा में होने हैं। सोगों का विश्वास था कि इस बूटी पर पैर पड़ जाने से घादमी राह भटक जाता है। एक बटोही माँझ के समय मर्नुमातगी पर पैर पड़ने से रास्ता भटक गया। रात-भर जंगल में भटकता रहा और सबेरा होने पर अपने को एक घने जंगल में खलता हुआ पाया।<sup>३</sup> तान्त्रिक लोग इस बूटी का प्रयोग प्रेमियों को एक-दूसरे की ओर आकृष्ट करने के लिए करते थे। स्त्रियाँ अपने पुरुषों में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करने और उन्हें अपने वश में रखने के लिए तान्त्रिकों से जड़ी-बूटियाँ प्राप्त करती थी और पुरुषों को भोजन आदि के साथ मिलाकर पिलाया करती थी। कभी-कभी यह दवा जान-सेवा भी सिद्ध होती थी। 'महाभारत' के अरण्य पर्व में सत्यभामा ने द्रौपदी से इस वशीकरण के सम्बन्ध में पूछा है कि पतियों को वश में करने के क्या-क्या मन्त्र तन्त्र अथवा जड़ी-बूटियाँ हैं। इससे पता चलता है कि वशीकरण की तान्त्रिक विद्या भारत देश में प्राचीन काल से प्रचलित है। वात्स्यायन में नेवर बाद के सभी काम-शास्त्रियों ने वशीकरण-प्रयोगों के सम्बन्ध

१. 'आकाश भैरव कल्प'।

२. 'आमुक्त माल्यदा', १-८३।

३. यही, ४-१२५।



में लिखा है। किन्तु इन प्रयोगों के सफल होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। यदि कहीं कोई प्रमाण मिलते भी हैं तो मरण के मिलते हैं, वशीकरण के नहीं। 'स्वमागद चरित्र' में लिखा है कि ब्राह्मणी ने अपने पति को अपने वश में रखने के लिए किसी तान्त्रिक में जड़ी लेकर खिला दी। खाते ही पति मर गया।

“एक स्त्री ने किसी सिद्धा से पूछा, ‘मेरा पति मुझसे प्रेम नहीं करता, उसे मैं छोड़ नहीं सकती। अब मेरा कौन सहारा है?’ सिद्धा ने एक जड़ी देकर कहा कि इसे दूध के साथ घिसकर अपने पति को पिला दो, यह तुम्हारे वश में हो जायगा। उसने ऐसा ही किया। पर, वश में होने के बदले उसका पति एकदम मर गया।”

रेड्डी-राज्य-नाल वाले अध्याय में चोरो की करतूतों के विषय में काफी चर्चा की जा चुकी है। विजयनगर-काल के कवियों ने भी लगभग उन्हीं बातों को दुहराया है। ताडल्ले पाकें चिन्नना ने ‘परमयोगीविलासमु’ में चोरो के सम्बन्ध में लिखा है। इससे पता चलता है कि चोर तब भी वही इकहरे तल्लू की चप्पलें, काले कपड़े, रेत, नरुव-छुरे, दिया-बुझाऊ कीड़े, चीलनस, सेल्लेम सरिया, गेंद कांटे आदि उपकरणों का उपयोग भी करते थे। उसी पुस्तक में<sup>१</sup> लिखा है कि—“सोने की एक बड़ी-सी मूर्ति को चोरों ने जंजीर से बांधकर उसे हिलाया। ऊपर धन वाले चोर ने कुएं से पानी का डोल निकालने के समान उसे ऊपर खींच लिया। उसी प्रकार उस चोर को भी उसके साथ बाहर निकाल ले गए।”

मृटेरां श्रीर वदमाओ की चोर-विधि के सम्बन्ध में कृष्णदेवराय ने विस्तार में लिखा है। एक ब्राह्मण अपनी पत्नी के पास समुराल बैठा। चोरो श्रीर वदमाओ के डर के मारे लोग अवेने-दुकेने यात्रा नहीं करते थे। ब्राह्मण साधियों के लिए पूछ-ताछ करने लगा। स्वयं एक चोर

१. ‘ग्रामुवन मात्यदा’, ३-२३६।

२. यही, पृ० ५०६।

उसका माथो बन गया और कहा कि मुझे भी चलना है। दोनों ने तय कर लिया कि कोई यात्री-दल आये तो उसके साथ चल पड़ेंगे। वह दिन भी आ गया। दिन-भर रास्ता चलकर वे मध्या समय कहीं ठहर जाने थे। दो-एक दिन राह चलने के बाद, एक रात चोर राही ने अपनी टोली वालों को सूचना दे दी, और आप स्वयं सबेरे जब दस बजा तो सड़को रास्ता दिखाना आगे-आगे बढ़ना काफी आगे निकल गया। यात्री-दल जब एक पहाड़ी नाले पर पहुँचा तब चोर ने सीटी बजा दी। सीटी चोरों का इशारा होता था। यह इशारा नदी, नाले, पाटी आदि स्थलों पर किया जाता था। ये चोरी के लिए अनुकूल स्थान होने थे। सीटी बजने ही पहाड़ी पर से एक तीर आ गिरा। फिर ककड़-पत्थर बरसने लगे। यात्री-दल में गड़बड़ मच गई। कुछ भागे, कुछ भागते हुए गिर पड़े, कुछ ने अपनी पोटली-पाटली आड़ियों के पीछे छिपा दी। कुछ अपने तीर तानकर सड़े हो गए। जिनके पास कुछ न था, उन्हें छोड़ दिया। आड़ियों में छिपे हुए लोगों पर चोरों ने भाले भोंके, उनके कपड़े-बैंगे, कपड़े-भस्ते धीन लिये और उन्हें नगा करके एक सगौड़ी दे दी। चोरों ने यात्रियों की चप्पलें जमा करके उनके तल्लों को फाड़-फाड़ कर देखा कि चन्दर कुछ रखा तो नहीं है। इसी तरह स्त्रियों की चोटियाँ भी तुलवाकर देखी। ब्राह्मण की बारी आने पर वह अपने स्त्रियों की पैरों के साथ भाग गया हुआ। जो चोर उसका माथो बनकर चला था, उनसे उसका पीछा किया और सुरी धारकर ब्राह्मण की एड़ियों पर घायल कर दिया। फिर कमरबन्द बीचकर उसके नीचे से 'बराहों' (प्रगरकिर्मा) की धँती धीन ली। चोर पड़ोसी गाँव का था। ब्राह्मण ने यहाँ भी अपनी भूमि का परिचय दिया। बोला—“घरे तू वही प्रभुक गाँव का है अच्छा, देख सुँगा बचेगा कैसे? पहचानने आने को प्राणों से न छोड़ना चोरों की नीति है। चोरों ने ब्राह्मण की गत बनानी शुरू कर दी। वह घबरा-सा हो रहा था कि यात्रियों का एक और दल आ निकला। चोर वहाँ से भाग निकला। इस दूसरे दल

गई है। यदि इसी तरह उपेक्षा की जाती रही तो बची-बुरी परिचित संज्ञाएँ भी यो ही मिट जायगी।

अपराधों के लिए घोर दण्ड दिये जाते थे। छोटी-मोटी चोरी-चकारी करने पर चोर के एक हाथ और एक पैर को काट दिया जाता था। बड़ी चोरी करने वालों को गले में लोहे का काँटा देकर पेड़ों से लटकाकर मार डाला जाता था। कुसीनाओं अथवा अविवाहित बन्धुओं का मान-भंग करने पर सूतियों पर चढ़ा दिया जाता था। सामन्तों और सरदारों की राज-द्रोह के अपराध में पेट में भाँसा भोजकर सूती पर चढ़ा दिया जाता था। नीच जाति वालों के अपराधों में साधारणतया गरदन उड़ा दी जाती थी। कुछ अपराधों में हाथियों से रौंदवाया जाता था। मामूली अपराधों पर ग्रामाधिकारी अपराधी को धूप में खड़ा करके अथवा झुकाकर सिर या पीठ पर पत्थर लाद देते थे।

शासन-व्यवस्था के लिए देश को २०० मण्डलों में बाँट दिया गया था। प्रत्येक मंडल एक मंडलाधीश के अधीन होता था, जिसे 'पालेगार' कहते थे। पालेगारों के तीन कर्तव्य होने थे : समय पर नियमित कर राज्य को पहुँचाना, अपने पास नियमित संख्या में सेना रखना और जब बुलावा हो तब अपनी सेना के साथ युद्ध पर जाना।

होटलों की प्रथा तेलुगु देश में कावतीय काल में ही चली आ रही है। होटल का पुराना तेलुगु नाम 'पूटकुट्ट' है जिसके अर्थ हैं, 'पहर (शाम का) भोजन'। इन होटलों में आहार-विहार की व्यवस्था रहती थी।<sup>१</sup> विजयनगर में इन होटलों की संख्या काफी बड़ी थी। उनका उद्देश्य वम किसी भी तरह पैसा कमाना ही होना था। इसलिए वे खराब खाना पिलाते थे। वे मुबह का वासी शाम को और शाम का वासी परम करके फिर मुबह को परोस दिया करते थे। खराब धी, पनियाली छाछ आदि देने की दुष्टताएँ करने थे। इसीलिए तेलुगू में एक कहावत हो है कि 'पूटकुली वाली' (भटियारिन या होटल वाली) पुण्य नहीं जानती।

१. 'प्रापुषत मात्पदा', ८-७।

(स्त्रीनिग के प्रयोग से जान पड़ता है कि होटलों को स्त्रियाँ ही चलाती थीं)। 'अक्कल वाड' शब्द के प्रयोग से अनुमान होता है कि होटलों के मुहल्ले अलग रहे होंगे। 'अक्का' बहन को कहते हैं और 'वाड' मुहल्ले को। तो क्या मचमुच होटलों के अलग मुहल्ले हुआ करते थे? औरतों के होटल की मालकिन होने से अनुमान होता है कि वे बिघबाएँ होती होंगी। शहर में होटल खोलकर वे गुजारा कर लेती रही होंगी। पहले घर वालों के लिए पकाना था, अब बाहर वालों के लिए। 'क्रीडाभिरामम्' में भी होटल जाने के बजाय 'अक्कलवाडा' जाने की बात आई है। आज भी खाना पकाने वाली को 'बटलक्का' कहते हैं।

शहरों में 'औरतलाएँ' (हजामनघर) भी होती थीं। विजयनगर में इनकी तादाद काफी बड़ी थी।

बिरासे पर चलने वाले स्नानागार भी होने थे, जहाँ पर उनके मालिक स्नानों का पैस लेकर तेल की मालिश करते और गरमपानी से नहलाने थे।<sup>१</sup>

नगरों में भ्रष्टाचार की भी कमी नहीं थी। धूम लेकर झूठी गवाही देने वाले धमका रिदवत लेकर धन्याय करके झूठा फैसला देने वाले बुजुर्ग भी काफी थे। विजयनगर में इन भ्रष्टाचारों का बोल-बाला था।<sup>२</sup>

कृष्णदेवराय ने एक जगह कहा है—“गर्भ मंडप का गदा घोवन, जो नानी की राह से बाहर एक पयरी में इकट्ठा होता, उसे शूद्र के देने पर भी वैष्णव मक्कनजन बड़ी श्रद्धा से पीने थे।”<sup>३</sup> इससे स्पष्ट है कि वैष्णव मन्दिरों के पुजारी शूद्र होने थे। मन्दिर के बीच का वह छोटा-सा मंडप, जिसमें भगवान् की मूर्ति होती है, 'गर्भमंडप' कहलाता है। वैसे उसे गर्भगुडि (गर्भ मन्दिर) भी कहते हैं। उस मंडप के अन्दर घोवन इकट्ठा होने के लिए पत्थर को काटकर होज की शरन का बना लिया जाता था। तीर्थ (चरणामृत) के नाम पर उस जल को शूद्र

१. 'आमुषन मात्यदा', ७-७।

२. 'ताइल पाकेनोनिती पञ्चशतकम्'।

३. 'आमुषन मात्यदा', ६-२।

पुजारी भक्तों को देते थे और उसे ग्राह्य भी ग्रहण करते थे। अब तो यह प्रथा नहीं रही। उस समय वीर शैवों के मुकाबले में मोर्चा जीतने के लिए वीर वैष्णवों ने जाति-भेद को मिटाने के ये साधन अपनाये थे। जाति-मुधार की यह प्रवृत्ति अब एकदम लुप्त हो चुकी है।

गडा हुआ धन बताये बिना ही बड़े बूढ़ों के घर जाने पर, उनकी संतानें तन्त्र-जाल के जालामो की सहायता से घनाजन लगाकर और धन पर बैठे भूत-प्रेतों की बलि देकर, धन की खुदाई करती थी। खुदाई के पहले पूरब की घोर भूतों के लिए बलि-रक्त के बरतन रल दिये जाते थे। उसके बाद ही खुदाई करके धन निकाला जाता था।<sup>१</sup>

शादी-ब्याह में आज की तरह उस समय भी बर-बधू को दोनों कुलों के सगे-सनेही और बधु-बाधव साड़ी, धोती, गहने, रुपये (बरहा) आदि भेजते थे। मन्त्रोच्चारण के साथ पुरोहित यह भी कहता था कि किसने किसको कीन-सी चीज बितनी भेंट की। समुर अपने दामादों को मूल्यवान वस्त्र और आभूषण भेंट करते थे।<sup>२</sup> धनी माता-पिता अपनी बन्ध्यामो को पलग, बिस्तरे, थाली, पटियाँ, झूले, घड़े, लोटे, पानदान, सोने के जडाऊ जेवर, रेशमी कपड़े, अगर, वस्तूरी, जव्वासि, केसर, चन्दन, हरा बपूर, दूध, पनीर आदि दहेज में दिया करते थे। बेटी के साथ मेवा के लिए दासी अथवा दासियों को भी भेजा जाता था।<sup>३</sup>

लोग छोटे-मोटे रोगों का इलाज आप ही कर लेते थे। हाल-हाल तक गाँव की बूढ़ी औरतें घर के अन्दर अजवायन, कुलजग, पीपल, सोठ आदि दवाओं की खैली बांधे रखती थी। अधिकतर घरों में तुलसी का पेड़ होता था। ज्वर में तुलसी-रस दिया करते थे। अधिक जानकारी रखने वाले घरों में बारहसिंघे के सींग, गोरोचन, वस्तूरी,

१. 'मनु चरित्र', ३२१।

२. वही, ५, ८६-८७।

३. 'भामुक्त माल्यदा', ५, १०१।

केसर, वैष्णवी तथा भंरवी की गोलियाँ पड़ी होती थी। फोड़ा न फूटने पर गेहूँ का आटा पकाकर बाँधते थे। सिर-दर्द में कंवर की भाप देते थे। दर्द में नीम का सेवा देते थे। आँखों के इलाज का भी कुछ वरुण मिलता है :

“पल्लू की तर्हें करके मुँह की भाप दे-देके आँखें बफारना,  
नौबू की पत्तियों के रस में तड़वड की पत्ती पीस, लेप सिर पर  
पसारना।

बैंगल फूल को निचोड़ना, जमे घी या दही की सत्ताई फेरना।

घौरत के यन का दूध डालना, इसमें हो जाय कहीं बेर ना !”<sup>१</sup>

‘ग्रामुक्त मान्यदश’ में एक जगह लिखा है कि “चमार के बड़े टेढ़े धुरे से एक व्यक्ति का कन्या कट गया था। बंधों ने उस पर टाँके लगाये थे। मिर के फटने पर पुराने सत्तों की राख धाव में भरकर तत्काल इलाज कर लिया।”<sup>२</sup>

प्रकाल पड़ने पर पुराने जमाने में लोग दाम्ण दुख उठाते थे। बहुत सारे भूख से तड़प-तड़पकर मर जाते और बटुनेरे तो पेट भरने के लिए अपने छोटे-छोटे बच्चों तक को बेच दिया करते थे। आजकल के रैनों और मोटरों के जमाने में जब सन् १९४१ ई० के प्रचल में अकेले बंगाल में बीम लाग्न व्यक्ति काल के कौर बन सकते हैं, तो सब क्या दशा रही होगी, इसका अन्दाजा सहज ही किया जा सकता है। एक पद्य के अनुसार लीगो ने अनाज न मिलने पर घास-पान, कद-मूल, ताड़ का मगज आदि नाकर भी गुजर की। कहते हैं कि कुछ किसानों ने भूखे पेटों को बाँधकर ६० दिन के अन्दर फसल तैयार होने वाली रागी बोकर उमड़े कलियों में मीचा, जिनु उममें भी बोड़े पड़ गए और फसल सड़ गई। बड़े बस्वों में साप्ताहिक हाटें लगती थी। वर्षा में हाट अच्छी नहीं

१. ‘कालहस्तीमाहात्म्य’, अ० ३-११०।

२. ७-२१।

भर पाती थी ।<sup>१</sup> इन हाटों में घुमकड़ व्यापारी आया करते थे । टट्टुओं पर लादो लादकर वे हाटो-हाट फिरते थे ।<sup>२</sup> विजयनगर के राजाओं ने जगह-जगह धर्म-सत्र खोल रखे थे, जहाँ ब्राह्मणों को मुफ्त भोजन दिया जाता था ।<sup>३</sup>

### मनोरंजन

पर्व-त्योहार उत्सव के दिन होते थे । त्योहार तो उस समय भी वही थे, जो आज हैं । कोई अधिक अन्तर नहीं है । 'एरवाक पौणिमा' (जैठ पूर्णिमा) किसानों का खास त्योहार था । कुछ विद्वानों ने इसे 'एर' (नदी) + वाका = (यहना) अर्थात् नदियों के भरने का त्योहार कहा है । पर यह अर्थ ठीक नहीं है । वास्तव में 'एर' हल को कहते हैं और 'वाकू' खलाने या चासू करने को । अर्थात् एरवाक हल चासू करने का त्योहार था । उस दिन किसान अपने बैलो, हलो और दराती आदि को धो-धाकर गेरू और चूने से रंगते थे; तेल मलकर नये कपड़े और गहने पहनते थे । अच्छे-अच्छे भोजन का भोग लगाकर सभी किसान मिलकर जलूस निवालते थे । जब जलूस पूरे गाँव में घूम चुकता तो सभी अपने-अपने नेतों में पट्टीबद्ध जुताई का मुहरत करके घर लौट आते थे । यह निश्चय ही वेदोक्त त्योहार है—“ज्येष्ठ मासस्य पौर्णिमा-स्याम् बलीवर्षात् अभ्यर्च्य घाबन्ति सोमम् उद् बृधभयम् ।” (यह त्योहार गाँवों में आज भी उसी धान से मनाया जाता है । इसे मनाने में हिन्दू, मुसलमान या जात-पात के भेद का कोई विचार नहीं होता । मुसलिम घरों में भी उस दिन वही पूरण्णाली आदि खाने पकते हैं और गोشت नहीं पक सकता ?—अनु०)

‘ग्रामुक्त मात्यदा’ का पद्य है :

१. ‘ग्रामुक्त मात्यदा’, ४-१२३ ।
२. वही, ४-३५ ।
३. ‘राधाराधनम्’, ३-८५ ।

“दशहरे का त्योहार सम्राट् तथा सामन्तों के दरबारों में महा वैभव के साथ मनाया जाता था। यह क्षत्रियों का त्योहार है। सेना को सबसे अधिक महत्त्व देने वाले राजा-महाराजाधों का दशहरे को बढ़ावा देना स्वभाविक ही है।” आग्र देम के त्योहारों में से दशहरा भी होती विदेशियों की दृष्टि में विशेष त्योहार थे। अन्दुर्गञ्जाक ने दशहरे का आन्दोलन-वर्णन इस प्रकार किया है :

“सम्राट् ने अपने सभी सामन्तों और सरदारों को अपनी राजधानी पर बुला लिया। उनमें ऐसे सरदार भी थे, जो तीन-चार महीनों का रास्ता चलकर पहुँचे थे। एक हजार हाथियों को चित्र-विचित्र रंगों से रंगकर मैदान में खड़ा किया गया था। एक रमणीय विशाल मैदान में पाँच-छः मंजिला बंगला खड़ा किया गया था। प्रत्येक मंजिल में बीमारों पर रंगीन चित्र बने हुए थे। मनुष्यों, पशुओं, मक्षियों और पौधों तक के चित्र बने थे। चित्र अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण थे। उसी मैदान में बड़े-बड़े खम्भों पर एक नौ मंजिला महल खड़ा था। उसकी शोभा अद्वितीय थी। सम्राट् का सिंहासन नवीं मंजिल पर था। बड़ा-सा रत्न-लक्षित स्वर्ण-सिंहासन। उसकी सुन्दरता पर लोग मुग्ध थे। उसी सिंहासन पर बैठकर सम्राट् दशहरे का समारोह देख रहे थे। उत्सव तीन दिन तक चलता रहा। बहुरूपियों के विनोद, बाजीगरों के तमारे तथा वेद्याधों के नाच-गान सभी प्रदर्शन सम्राट् के सामने हुए।”

पीम नामक यानी ने भी इस उत्सव का विस्तृत वर्णन दिया है। उक्त बातों के भन्वावा उसने यह भी कहा है कि :

“पहलवानों ने कुत्तियों का प्रदर्शन किया। रास्ते में आतिशबाजी हो रही थी। आतिशबाजी में भाँति-भाँति की आकृतियाँ आकाश में उड़ाई जा रही थीं, जो ऊपर जाकर धड़क से फटतीं और आकाश में फैल जातीं। जाली शक्ति (महाकाली) नवरात्र के नवों दिन २६ भँतों और १५० बकरों की बलि चढ़ाई गई। अन्तिम दिन २५० भँतों और ४०० बकरों की बलि चढ़ी। बाह्यण दिन में कई-कई बार देवी की



पूजा करते थे। घोड़ों को सजाकर जलूस निकाला गया।”

एक बार स्वयं कृष्णदेवराय शिकार से एक अरना भैंसा पकड़ लाये थे। उसे नवरात्र में देवी को बलि चढ़ाने का उन्होंने आदेश दिया। प्रचलित प्रथा के अनुसार एक ही बार में भैंसे का सिर घड़ से अलग हो जाना चाहिए। अरना भैंसा हाथी-जैसा भारी था। उसके रींग पीछे की ओर दुम से छू जाते थे। ऐसे भारी जानवर को एक ही बार में खत्म करने में बड़े-बड़े वीर आगा-पीछा कर रहे थे। तब विश्वनाथ नायडू ने आगे बढ़कर एक ही बार में भैंसे के सिर को घड़ से अलग कर दिया।

होली के त्योहार को कृष्णदेवराय के समय वसन्तोत्सव कहा जाने लगा था। निकलो काटी नामक एक विदेशी यात्री ने लिखा है

“सड़कों पर लाल रंग से भरे घरतन रसे रहते थे। वसन्तोत्सव के दिनों में सड़क से गुजरने वाले हर व्यक्ति पर रंग फेंका जाता था। यहाँ तक कि उस रास्ते से निकलने पर स्वयं सम्राट् या महारानी के लिए भी रंग से बचना सम्भव न था। इस उत्सव पर दूर-दूर के प्रान्तों से आये हुए कवियों की कविताएँ सुनकर उन्हें पुरस्कृत किया जाता था।”

कवि भुवकतिमग्ना ने सम्राट् को इन शब्दों में सम्बोधित किया था :

“प्रतिपर्य-वसन्तोत्सव-कुतुकागत-भुक्वि-निकर शुम्भिसृति-लोमांच-दिशंकित-चतुरान्त-पुरवधू प्रसाद नरसिका।”

दिवाली के सम्बन्ध में हमारे लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। भण्डारकर मस्वा के अष्टमस्क पी० के० गौडे ने लिखा था कि विजयनगर राज्य-काल (मन् १४५०-१५५०) के लगभग ‘आवाज भैरवी’ के नाम से एक सस्कृत-ग्रन्थ की रचना हुई थी, जिसमें दिवाली का सुन्दर वर्णन है। उसमें लिखा है : “राजा को चाहिए कि कार बदी चौदस को सवेरा होने से पहले, ग्रह मुहूर्त में उठकर शीचादि से निवृत्त होकर ग्राहणों का प्राप्तीर्वाद ले। उसके बाद बाहर मंगल-वाद्य बजें और

१. ‘पारिजातापहरणम्’, १-१३६।

सुवासिनिश्रीं आकर उन्हें स्नान के लिए तैयार करें। पहलवानों से तेल मलवाकर गुनगुने पानी में उन्हें नहलाया जाय।”

“नदत्तु पंचवाद्येषु बाह्य कक्षांतरे तत

ववण्ड कंकणया वध्वादरवल्गदुरोजया,

अन्यत्रते स्नापितो महर्तः कश्चितकोप्यणोण वारिणः।”

सूर्योदय से पहले इन सबसे निबटकर दरबार में बैठकर नाच-गाने का आनन्द लेना चाहिए और सबको इनाम आदि देकर भोजन करना चाहिए। संध्या के बाद पटाखे जलाने चाहिए।<sup>१</sup>

आम्र में उस समय जो विनोद होने थे, उनमें से कुछेक मुख्य-मुख्य विनोदों का लोप हो चुका है। उनमें से ‘सीढ़ी’ भी एक है। सीढ़ी को हम मनोरंजन-मात्र की वस्तु नहीं कह सकते। वह एक अत्यन्त भक्ति-प्रधान तथा आत्म-हिंसात्मक प्रदर्शन था। लोग अपनी मन्त्रों पूरी होने पर सीढ़ी पर चढ़कर टँग जाते थे। लम्बे बाँस के सिरे पर लोहे के बड़े में लोहे का एक ऐसा काँटा (कुण्डा) लगाया जाता था, जो चारों ओर धूमता रहता था। उस कुण्डे को स्त्री या पुरुष अपनी पीठ की घमड़ी धरवा रंगों में से निकालकर उससे सटक जाते थे और तब बाँस के चारों ओर गोल घुमाये जाते थे। बारबोसा ने इन प्रक्रिया का आलो-देखा वर्णन इस प्रकार किया है :

“इस देश (विजयनगर) की स्त्रियाँ अत्यन्त साहसी होती हैं। मानने पूरी होने पर वे भयंकर कार्य करती हैं। प्रेमी से विवाह हो जाने पर प्रेमिका सीढ़ी से लटक जाती है। निश्चित दिन पर एक बँतगाड़ी समाकर उस पर लोहे के कुण्डे के साथ एक बड़ा रस्सा ले जाते हैं। बाजे-गाजे के साथ प्रेमिका चल पड़ती है। केवल उसकी पंजर पर ही बपड़ा होता है। सीढ़ी के पास पहुँचने के बाद रस्से के कुण्डे को उसकी पीठ में धुनो दिया जाता है और सीढ़ी उठा दी जाती है। उसके बायें हाथ में एक छोटी-सी फटार भी होती है। फिरकी को सीढ़ी के लम्बे

१. ‘आकाशभैरवीकल्प’।

से लगाकर युवती को रस्से के द्वारा ऊपर खींच लेते हैं। युवती कुण्डे पर हवा में लटकती रहती है। पीठ से एड़ी तक खून आरों रहता है, पर यह धूँ तक नहीं करती, बल्कि किलकारी भरती, कटार घुमाती हुई अपने प्रेमी पर नीबू मारती रहती है। थोड़ी देर बाद उसे उतारकर घाबो पर पट्टी बांध दी जाती है। फिर वह सबके साथ पैदल मन्दिर में जाती, दर्शन करती और बाह्यालों को दान-धर्म करती है।<sup>१</sup>

सीढ़ी का आकार-प्रकार कुछ ऐसा होता था : गड़े हुए लम्बे के सिरे पर लोहे की कील से एक बाँल पत्थर लगा होता और उस पत्थर वाली कील पर घूमने लायक एक घाड़ी बल्ली लगी रहती। बल्ली के एक सिरे पर खरखी होती। रस्से को खरखी से उतारकर लोहे का कुण्डा स्त्री को पीठ पर लगा देने के बाद युवती हवा में टँगी रहती।<sup>२</sup>

पहले तेनालि रामकृष्ण को भी कृष्णदेवराय के भट्ट-दिग्गजों में गिना जाता था, पर भय पता लगा है कि वह बाद के कवि है। उन्होंने भी अपने 'पांडुरंगमाहात्म्य' में इस सीढ़ी का वर्णन दिया है : "काले बादलों में कौंधती बिजली की तरह एक युवती सीढ़ी पर झटक गई।"<sup>३</sup> जान पड़ता है कि यह प्रथा रेड्डियों में अधिक प्रचलित थी। 'मीठी' की प्रथा आजकल नहीं है। चार सौ वर्षों के अन्दर ही इतना अन्तर हो चुका है।

कोलाटम खेलने (नाचने) में भी लोग बड़ी आसक्ति रखते थे। रायस-सीमा में आज भी, विशेषतः चांदनी रातों में, कोलाटम चला करता है।<sup>४</sup> इसके अतिरिक्त मुर्गवाड़ी, भैंसा-युद्ध, बाज का शिकार, चीपड आदि में भी लोगों की विशेष अभिरुचि थी। (पाश्चात्य यात्री पीस)। कृष्ण-राय देव ने लिखा है : "लंगोटी बांधना, तलवार धामना, कूक-वाक-

१. Salatore, I.

२. 'पांडुरंगमाहात्म्यम्'।

३. सोराष्ट्र के डंडे वाले गरबों से अन्तर दस इतना है कि यहाँ मर्ब नाचते हैं।—अनु० व सं० हि० सं०।

पुद्गल...

शतरंज का खेल सम्राट् से लेकर साधारण जन तक सबको प्रिय था। विख्यात है कि मूसल से पहले ही भारतीय इस खेल का पता लगा चुके थे। जब ईरान के प्रसिद्ध बादशाह नौशेरवां ने इस खेल की महिमा सुनी तो उसने बड़ी आरजू से भारत में अपने आदमी भेजे। यहाँ से शतरंज की बिसात और नई-मुहरे ही नहीं मँगाये, उस्ताद भी बुला लिये। बाणभट्ट तथा रुद्रभट्ट ने अपने काव्यों में इस खेल का वर्णन किया है। कृष्णदेवराय के समय बौद्ध, तिम्मना इस खेल में बड़ा निपुण माना जाता था। तिम्मना 'कबीरद्वारदिगदति' की पदवी पाकर कृष्णदेवराय के पास रहता था और उनके साथ शतरंज खेला करता था। खेल में कभी-कभी तो हजारों-हजार की वाजी भगती थी और तिम्मना जीत जाता था। सम्राट् ने प्रसन्न होकर उसे सर्वाधिकारों के साथ कोप्पल ग्राम पुरस्कार में दिया।<sup>१</sup> तिम्मना की प्रशंसा में एक पद्य भी है :

“भले बौद्ध-तिम्मना ।

चाहे बस केवल हो एक नई

फिर भी जुट जाता है जवामर्द

कृष्णदेवराय के साथ,

जिनकी भरी बिसात

को भी देता है सदा मात पर मात ।”

कुछ कवियों ने उस समय के कुछ बाल-सेलों की भी चर्चा की है, किन्तु उन नामों से आज हमें इस बात का भी कुछ पता नहीं चलता कि वे खेल आखिर थे क्या चीज? कोशकारों ने 'बालक्रोडा-विशेष' लिखकर अपना पिंड छुड़ा लिया है। पिंगलमूर कवि ने तथा इमंटी ने बालक-बालिकाओं के खेलों के नाम कवितावद्ध किये हैं। पर मेद है कि वे खेल अब लुप्त हो चुके हैं। हमें उनका बोध नहीं हो पाता।

१. 'ग्रामुक्त माह्यदा' ।

२. स्थानीय रिपोर्ट ।

फिर भी यहाँ उनका नाम दे देने में कोई हर्ज नहीं ।

‘कला पुर्णोदय’ में वर्णित बालिकाओं के खेल ये थे :

गोम्मापेंडिस—गुट्टो-गुट्टियों की शादी

गुज्जनगूडस—खाने-पकाने का खेल

अच्चनगड्डु—हथेली पर उल्टे-सीधे ककर उछालने का खेल

पिपड्डु—घोठ बजाते हुए उकड़ू बैठकर खेसने का खेल

कुच्चित्—बालू की नाली में बीज छिपाने का खेल

गीरतागिजा—                 "                 "                 "

ओमनगुम्डल—लकड़ी के पाट पर चौदह गठे बनाकर उसमें इमली  
के बीज भरने और खाती करने का खेल

कनुमृत्तिगतनस—

कम्बालाटा—चार खम्भों पर भागने और पकड़ने का खेल ।

बालकों के खेलों के नाम इम्फटी ने ये गिनाये हैं :

(१) चिट्तापोटलाकाम, (२) सिरि सिगणावत्ति, (३) गुडु-गुडु  
गुञ्चालु, (४) कुदेन गुडि, (५) दागिति मृञ्चुमु, (६) कञ्चानायमु,  
(७) वेन्नेलाचिप्पुमु, (८) तम्बु बिल्ला, (९) तूरननुबालु, (१०) गीरन-  
गिजु, (११) पिल्लादीपालु, (१२) अकि बल्लिपोडु, (१३) चिट्टुगुडु,  
(१४) अम्बना पोटी, (१५) चेट्टुगट्टिनायोडि, (१६) उप्पन घट्टे,  
(१७) अप्पलानु, (१८) लोटिल्ल, (१९) चिरम्नाबिल्ला, (२०) चिदर  
आदि ।<sup>१</sup>

आगे लिखा है कि बँदय कन्याएँ रतनों से कुच्चिल आदि खेलती थीं ।

गोलाफोटुमु, बिल्लागोड्डल, इरना गोला, अन्दतम्बुमु, पुन्दि-  
वाट्टु ।<sup>२</sup>

खेलों में से अधिकतर के अर्थ आज हमें मालूम नहीं । कोशकारी  
ने भी उन्हें केवल ‘बानजोडा विशेष’ लिख छोड़ा है ।

१. ‘कालहस्ती महात्म्यमु’, ३-३३ ।

२. ‘विष्णु पुराण’, आश्रवास, ७ ।

शादी-ब्याह की दावतों में नान-भाजी, चटनी-अचार, चावल-भाटे की चीजें, खीर-मिष्ठान्न आदि जो-जो साद्य पदार्थ बनने पे, उनके नामों की एक लम्बी सूची है। निश्चय ही और नाम होंगे। किन्तु जो नाम दिये हैं, वे साद्य भी आज नहीं दिखाई-मुनाई नहीं पड़ते।

शब्द-कोष भी मूक हैं। 'बलापूर्णादय' में दिये हुए नाम ये हैं—  
बुटेलु, नेनेमोलु, चापडु, मडिगा, ओव्वटु, बडालु, कुडुमुलु, मुक्कियलु, जडियुडुटलु, वेन्नपायलु, बडियमुलु, मप्पडालु, वोंगरमुलु, सोज्जेबूदे, सागुलु, सेवेनु, उवकेरलु, अरिमेनु, चक्किलमुलु, खर्ज़ूर, गोस्तनी, बडतिका, महवार, कोव्वरि (नारियल), पनसा (कटहल के बीजे), सेने, डुल्लु, भीगड, आनवानु, पानकम, रसावल, पच्चडलु, पप्पुलु, कूटलु आदि अनुपम अन्न।

लेद का विषय है कि हम अपने परम्परागत खानों से भी अनभिज्ञ हैं। उबन भोजन बाह्यणों के हैं। अन्य जातियों में इतने नहीं होते। फिर मामाहारियों के भी कुछ होंगे। कृष्णदेव राय ने कुछ और नाम गिनाये हैं—

१. पोरविलंगाय, २. पेरुगुडियमु, ३. पच्चिवरगु।

ये बिगड न सजने वाले सफरी खाने हैं।<sup>१</sup>

धर्या में—

कलमाग्न, यनिचनपप्पु, चारपांचपोगसिम, कूरलु, वरगुलु, पेरगु, बडियमुलु, नेच्चि।

गमियों में—

उलिवेच्च अन्नमु, निर्यनि चारलु, मज्जिम पुनुत्त, पनुचनि अम्बलि, चेरनुपालु, एडनीर, रसावल, बडिपिदला, ऊरुत्तायनु, नीरुचला तथा सदिपों में—

पुनुगुविच्चपुअन्नमु, मिरियप्रपोडितोउडुकूरलु, मुक्कुवेक्कु अरवपाटु

१. 'बलापूर्णादय', १-८०-८२।

पक्वहुतु, उरयायतु, पायमान्मुतु, उदुकुनोचि, गूव पका हुषा दूध आदि खाते थे ।<sup>१</sup>

मेलो-ठेलो पर जाने वाले 'पेरुगु चसरी' दही-चावल साथ लेकर नदी-नालो और कुयो-तालाबो पर बैठकर खाते थे । भैंस के दही में नीबू निचोड़कर, अदरक काटकर डालते थे । इसमें चावल मिलाने पर 'दध्यन्लमु' कहवाता था ।<sup>२</sup>

(वृष्णदेव राय ने भोजनों का ऋतुओं के अनुसार वर्णन किया है । इसमें देश की शीतोष्ण स्थिति के साथ भोजनों में परिवर्तन किया गया है । यहाँ तक कि सदियों और गर्मियों के अचार भी अलग-अलग हैं ।)

### कलाएँ

विजयनगर साम्राज्य में कलाओं की उन्नति पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी । सम्राट्, सामन्त, सरदार तथा धनी-भानी सभी ने मन्दिरों तथा भवनो का निर्माण करवाया, जिससे शिल्प-कला अत्यधिक उन्नत हुई । राजा और प्रजा ने चित्र-लेखन, कविता, संगीत और रंगरेजी का पोषण किया । अच्युतराय वृष्णराय के बाद विजयनगर का पतन हो चुका था । फिर भी, बैटपतिराय तक के शासन-काल में चित्रकार मौजूद थे । उन्होंने भवनो तथा देवालयो की दीवारों पर मनोहर चित्र बनाये । अनन्तपुर के लेपासीदेवी के मन्दिर के चित्रों को बाद के लोगों ने अपनी मूर्खता से बिगाड़ डाला । जो कुछ बचे हैं, वे यन्त्रे ही सुन्दर हैं । उस मन्दिर में अच्युत राय के शिला-शासन मौजूद हैं । छत पर भी चित्र बने हुए हैं । छम्भो पर शिल्पकारी है । परन्तु बाद वालों ने उन पर चूना और गेरू पोतकर अपनी भोंडी चित्रकारी का प्रदर्शन किया है । खुदे हुए चित्रों में कई महादेव—शिव से सम्बन्धित चित्र अत्यन्त सुन्दर हैं । तञ्जोर

१. 'ग्रामुक्त भाष्यदा', १-६७ ।

२. 'कलाप्रणोदय', ४-३५ ।

के वृहदीश्वरायल के चित्र भी विजयनगर-साम्राटों के बनवाये हुए हैं।

पीम ने लिखा है : "कृष्णदेवराय के अन्तपुर भवन (रनिवास) में दीवारों पर स्वयं उनके और पिता के चित्र हैं। चित्र उन राजाओं की आकृतियों से खूब मेल खाते हैं। उन्हीं दीवारों पर भाँति-भाँति के अग्न्याग्न्य सोर्गों की प्रतिरूपियाँ भी हैं। ये चित्र पुर्तगालियों के हैं। इन चित्रों से रनिवास की नारियों को संसार-भर का ज्ञान प्राप्त होता था।" अष्टदुर्गज्जाक ने लिखा है कि वेद्यों के घरों की दीवारों पर गेर-द्वार आदि जाननरों की तस्वीरें होती हैं। ये जानवर सचमुच मजीब जान पढ़ते हैं। प्रौड बयि मल्लना ने कहा है कि दीवारों पर कृष्ण-लीलाएँ चित्रित होती थीं।

कृष्णदेवराय के शासन-काल में जो साहित्य-मृज्जन हुआ, उसमें और स्वयं कृष्णदेवराय की 'आमुक्त माल्यदा' में तत्कालीन सामाजिक इतिहास छूट-छूटकर भरा है। यदि पाश्चात्य यात्रियों का व्योरा हमें उपलब्ध न होगा तो हम अपने साहित्य की कदाचिन् 'कल्पना-मात्र' समझेंगे। उन दिनों स्त्रियाँ भी शास्त्रोक्त रीति में 'तूनिक्का' में चित्र बनाती थीं। कूची को तूनी-वागरा भी कहते थे। उसीको मम्हृत में एयिक्का तथा मूनिक्का कहा है। कृष्णदेवराय ने लिखा है कि पक्के छूने की दीवारों पर कूची में चित्र उरेहं जाते थे।

"पूवोडी (कुमुमांगी) शास्त्र सरजिन तूनिन हरिन् ।"<sup>१</sup>

भागें चक्कर मन्ना-नवन की छूने की दीवारों की चित्रकारी का दर्शन है।<sup>२</sup> पक्के छूने को तेलुगु में 'गञ्जू' कहते हैं। मज्जून गन्ध तैयार करने के लिए महीन बालू, गुड का पानी, तेल और छूना मिलाकर 'दगु' में पीगा जाता था।<sup>३</sup> इतना तो हमारे साहित्य में मिलना ही है।

१. 'आमुक्त माल्यदा', १-१४६।

२. वही, ४-१८।

३. 'मनु चरित्र', ५-३२।



किन्तु उसमें गोद, हरड, भेंडी, अमृतवल्ली, बबूल की छाल आदि और मिला दी जाती थी। ऐसा चूना बड़ा टिकाऊ होता था।

अब यह सुनिये कि सार्वजनिक भवनों में किस प्रकार के चित्र खींचे जाते थे :

“आदि नारायण भगवान् का अमृत-मग्न्यन करके श्री लक्ष्मी से, चन्द्रशेखर श्री शंकर भगवान् का पुष्पधर कामदेव को भस्म करके श्री पार्वती से, श्री रामचन्द्र का शिष्य-धनुष तोड़कर श्री सीताजी से, तथा राजा नल का देवताओं को लज्जित करके भीमापीड को दमयन्ती से विवाह करने की कथाओं तथा चित्तमन्त्र केति-बंध विविध गतियों, हस्त-कलरव कीर-रसोग कुगतियों आदि का चित्रण करके सार्वजनिक महास्यतातिक-स्वर्ण-सौध कथ्य ” १

इसके विपरीत वेद्याओं के घरों के भीतर दीवारों पर उनकी अपनी वृत्ति के अनुकूल चित्र चित्रित होते थे।

“ये रम्भा-कुबेर पुत्र, उर्वशी-पुच्छरा, मेनका-विश्वामित्र, गोपी-कृष्ण, मालिनी-रावण, मत्स्यलोचना-शृङ्गभृश, मत्स्यगधा-पराशर, तारा-चन्द्र, इन्द्र-ब्रह्मन्, द्रौपदी-पाण्डव इत्यादि अपने घरों की भीतों पर भी उदेहवातीं, जिनमें स्वयं उनकी बेटियाँ रहती थीं। इतना ही नहीं उनमें काम-शास्त्र के सिद्धान्तों का चित्रण भी सम्मिलित रहता था।” २

विजयनगर के मन्नाटो में भी कृष्णदेवराय ने ही उत्तमोत्तम मन्दिरों का निर्माण करवाया था। हजारारामालय तथा विट्ठलालय के मन्दिरों की शिल्प-कला की प्रशंसा अच्छे-बुरे शिल्पवेत्ताओं ने भी की है। कृष्णदेवराय का मन्ना-भवन अथवा ‘दरबार’ ‘भुवनविजय’ कहलाता था और राजमहलों को ‘मनयूट’ कहते थे। ‘मनयूट’ की दीवारों की चित्रकारी बहुत प्रसिद्ध थी। उनमें राजदूतों, नर्तकियों, बन्दीजनों, शूद्रों और गिहार तथा नाट्य-मण्डली के दृश्य भी चित्रित थे। मानो

१. ‘राघवमयम्’, १-१४८।

२. ‘काल हस्ती माहात्म्य’।

राज-भवन की चित्रकारी उन समय के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब रही हो। विजयनगर के विध्वंस से हमारे इतिहास को अपार हानि पहुँची है। राज-भवन के बड़े फाटक पर 'घटिका-मन्त्र' लगा हुआ था। घटियों के हिसाब से दिन-रात घंटे बजाये जाने थे।

कृष्णदेवराय को साहित्य में ही नहीं संगीत-कला में भी दक्षता प्राप्त थी। सम्भवतः विजयनगर-सम्राटों के शासन-काल में ही दक्षिणी भाषाओं, तेलुगू, कन्नड़ और तमिल के संगीतों का मनागन हुआ, और उन सबके लिए एक ही नाम 'कर्णाटक संगीत' पड़ा। कृष्ण नामक संगीतज्ञ ने कृष्णदेवराय को संगीत सिखाया। उसने राय को बीणा बजाना भी सिखाया था। कर्णाटक के नारायण कवि-रचित 'राघवेन्द्र विजयम्' में लिखा है कि 'राजा ने गुरु-दक्षिणा के रूप में मोती और हीरे ॥ हारों की भेंट दी थी। शास्त्रीय संगीत की सूत्र उन्नीस हुई। विशेष श्रुतियों में विशेष रागों की प्रधानता रहनी थी। कहा जाता है कि पुर्नगाली राजदूतों के द्वारा अपना पुर्नगामी राजा भेंट करने पर राजा बहुत प्रसन्न हुए थे। इस सम्बन्ध में बारबोसा ने लिखा है कि म्त्रिदां गा-गाकर नृत्य धनगिनत घड़े पानी से राजा को महताती थीं। दरबार लगने पर भी गाता होता था। उस युग की चित्रकारी में भिन्न-भिन्न नृत्यों, वाद्यों आदि को प्रदर्शित किया गया है। वेद्यों ने नृत्य और संगीत की विशेष कृष्टि की। वह अपनी लड़कियों को दम बर्ष की धातु से पहने ही नृत्य-कला सिखना दिया करती थीं। दमवर्ष बर्ष में प्रवेश करते ही उन्हें 'दवरामी' बना दिया जाता था। पीन आरचय-चरित्र होकर निम्ना है कि व्यभिचार-वृत्ति के कारण वेद्यों का मान गिरने के बजाय राजाओं, सामंतों और मनो-मानियों द्वारा उन्हें मुल्लन-मुल्ला रंग तिये जाने के कारण और बढ़ा ही है। वेम्पाए राज-भवनों के चन्दर बे-रोक-टोक धाती-जाती थीं। हजारा राम-मन्दिर के सिन्हा-स्तम्भों पर रम-बिरमे आभूषणों के साथ मुकुटुराती हुई वेद्यों के चित्र मुड़े हुए हैं। उनमें से कई ठग पायजामों पर सहंगा पहने

दिग्याई गई हैं। नवरात्र के अवसर पर दोपहर के बाद बेश्याओं की कुस्ती भी होती थी। प्रत्येक शनिवार के दिन भगवान् की मूर्ति के सामने उनका नाच होता था।

विजयनगर में कुस्ती का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि मन्दिरों में नाट्य-मंडप होने लगे। शानियाँ नर्तकियों को नृत्य-कला सिखाती या सीखाती थी। (बेश्या को सानी कहते हैं जैसे—रंगासानी, बिमलासानी आदि।) शानियों के गीत-नृत्य-कलाओं के गुरुओं को माफी में जमीनों मिल गई थी। बन्नड तथा मस्वुत में गीत-वाद्यों की रचना हुई।

उस समय कूचि पूड़ी भरत-नाट्य की ख्याति अछड़ी थी। इसके मन्वन्ध में भी एक रोचक गाथा है। माचुपल्ली रेवाडें में निजा है : “सम्वेटा गुड्वराजु अपनी प्रजा को दाएल दुःख दिया करता था। प्रजा यदि रकम तुम्हें न देती तो वह उनकी स्त्रियों को पकड़वाकर उनके स्तनों में ‘बिमटें’ लगवाता था। कूचिपूड़ी नाट्य-मण्डली विनुकोंडा, वेडलमकोंडा से होती हुई माचुपल्ली पहुँची, जहाँ पर उन्होंने गुड्वराजु का व्यवहार देखा। मण्डली तुरन्त वहाँ से चल पड़ी और विजयनगर पहुँची। यों नरसिंहराय वहाँ का शासक था। नाट्य-मण्डली ने दरबार में हाजिर होकर नाचने की अनुमति माँगी, जो तुरन्त मिल गई। यथा-समय रंगमंच पर मण्डली वाली ने गुड्वराजु के दरबार का दृश्य पेश किया। एक ने सम्वेटा गुड्वराजु का स्वागत किया, दो उसके सिपाही बने, तीसरे ने स्त्री का रूप धारण किया। गुड्वराजु का दरबार लगा। सिपाही स्त्री को घाँट लाये, राजु के आदेश पर सिपाही स्त्री के स्तनों पर ‘बिप्लसु’ (बिमटें) लगवाकर रकम का तकाजा करने लगे—‘राजा को शेष हुआ कि अगली यात क्या है। दूसरे दिन सवेरे उठने फौज को कूच का हुकुम दिया और इस्माईलखी को, जिसने राजा का घेरा बहलाने की ख्याति पाई थी। उस फौज का सरदार बनाकर खाना कर दिया। इस्माईलखी ने गुड्वराजु को युद्ध में परास्त करके गिरफ्तार किया और उसका सिर काटकर विजयनगर के राजा के पास ले आया। किते

के छन्दर राजू की ममी म्रियों और बच्चों ने शरीर त्याग दिये ।”

उब से आज तक कूचिपूड़ी वानों ने भरत-नाट्य की रक्षा करके देश-भर में उत्तका प्रचार किया है। ‘वेङ्कटनाथ पंच’<sup>१</sup> के अनुसार कृष्णा-गोदावरी मण्डलों में ‘जगम’ जाति के लोग परदे डालकर नाटक खेला करते थे।

बाम्पद में ‘छात्र’ भाषा संगीत के लिए अत्यन्त अनुकूल भाषा है। मारे दक्षिण भारत में बम्पाट्टुमारी से बटक तक अन्य दक्षिणी भाषा जाने भी तेलुगू संगीतों को दाया करते हैं। विजयनगर के सम्राटों के कर्गाटकी होने के कारण उनके पोंयकट्ट ने जिन छात्र-संगीत की उल्लिखि हुई उसका नाम भी ‘कर्गाट्टक संगीत’ पड़ा। बाम्पद ने उसका नाम छात्र-संगीत था। छात्र राजाओं ने संगीत की विशेष वृष्टि की थी। तत्रावर के रघुनाथराय ने ‘रघुनाथ मेना’ (रघुनाथ बन्ना) नामक एक नई बीरा को जन्म दिया। पूर्वकाल में एक राग का नाम ही ‘छात्री राग’ था, अर्थात् जिस प्रकार ‘गायत्री राग’ एक प्रकार के संगीत का प्रतीक है, उन्ही प्रकार छात्र देश एक और प्रकार के संगीत के लिए प्रसिद्ध था। उन्हीसे आज ‘कर्गाट्टक संगीत’ कहने हैं।

‘त्रिमात्रनीतु पीरात्ती वेयवती तु पंचमा।

छात्री गायारिका चंड सप्त्युमल्लि पंचमांत ॥”

तेलुगू देश के संगीतज्ञों ने उत्तर हिन्दुस्तान में जाकर पराई भाषा शास्त्री में गाकर मुत्तमान बादशाहों तक को रिक़ाया था। विद्वान नामक एक व्यक्ति ने ‘संगीत रत्नाकर’ पर भाष्य किया था। उसका शिवा २२ प्रकार के रागों में प्रवीण था, जिसके लिए गुजरान के माउवी मुत्तमान अयानुद्दीन मुहम्मद ने एक हजार तोना सोना भेंट करके उसका सम्मान किया था।<sup>२</sup>

१. ४—२४०।

२. डॉ मानवन्नी रानकृष्ण खि Journal of Andhra H. R. Vol. X J—P. 174.

उस युग में तेलुगू साहित्य में गोंडली नृत्य की चर्चा बार-बार आती है। श्रीमान् बल्लीगम कृष्ण कवि ने लिखा है—“जाय सेनानी अपनी ‘नृत्त रत्नावली’ में .....चालुक्य भूलोक भल्लसोमेश्वर ने उसका प्रचार किया।” इन शब्दों के साथ मानवल्ली ने निम्नोक्त प्रमाण उद्धृत किये हैं :

“कल्याण फटिके पूर्वम् भूत मातृ महोत्सवे,  
सोमेशः कुतुको कांचित भिन्न वेषमुपेयुषीम  
नृत्यन्तीमथ गायन्तीम स्वयं प्रेक्ष मनोहरम्  
प्रोतो निर्मितघान चित्रम् गोडली विधिमत्पयम्  
यतो मित्रो महाराष्ट्रे गोडोगीत्याभिदीयते।”

इससे जान पड़ता है कि आजकल जगली कहलाने वाले गोंडों की नृत्य-जला देश-भर में फैल चुकी थी। वही गोडनी बाद में गोंडली हो गया है। ‘आमुक्त माल्यदा’<sup>१</sup> में प्रतीत होता है कि नृत्य-कला में मुकाबले और होठें हुमा करती थी। निर्णायकगण उत्तम-मध्यम आदि क्रमों के अनुसार कलाकारों को पुरस्कृत करते थे। कृष्णदेवराय ने अपनी कविता में बाजों के भी बीछियो नाम गिनाये हैं—“मृदंग, उषांग, घादजम्, धंडे, ताल, बुदमाकिनर, सन्नागाले, बीखा, मुखबीणा, चासे घोसु, भीरी, भेरी, गीद, गुम्मेट, तम्मेट, दुक्की, ड्यकी, चक्की चुप्पकी इत्यादि असंख्य वाद्यप्रियम परम्परा.....।”<sup>२</sup>

विजयनगर-युग को तेलुगू साहित्य की दृष्टि से प्रबन्ध-युग नाम से याद किया जाता है। इस युग में महान् कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। कवि-मार्कभीम, ग्रान्ध-कविता-पितामह, साहित्य-रम-पोषण, मविधान-चक्रवर्ती ये सब इसी युग में हुए। राजाओं ने जिस जोर से तलवार चलाई, उसी वेग से गटम (तोहें की कलम) को भी चलाया। स्त्रियों ने भी मंसूत तथा ग्रान्ध-भाषा में सुन्दर कविनामों की रचना की।

१. ४—३६।

२. ‘आमुक्त माल्यदा’, ४—३५।

गंगादेवी, निरुमताम्बा, रानमद्राम्बा आदि सुप्रसिद्ध कवयित्रियाँ थीं। गोलकोंडा के मुमलमानों नामों को तेलुगू का चोना मिला। इब्राहीम को 'इम्नाराम' का रूप दिया गया।

इस प्रकार छन्द में भिन्न-भिन्न कलाओं ने चौमुखी उन्नति करके देगवासियों तथा विदेशियों को भुग्ध कर दिया था।

### पंचायत

उस समय राजस्व की-सी अदालतें नहीं थीं। गाँव-गाँव में गाँव के प्रमुख व्यक्ति यदने में कुछ पाने के लोभ से भुक्त रहकर भगडों-तकरारों का फैसला किया करते थे। 'विज्ञानेश्वरी' ही उनके लिए प्रामाणिक धर्मशास्त्र था। सभा अथवा पंचायत ही अदालतें थीं। उसके सदस्य ब्राह्मण होते थे। पंचायत के फैसले के विरुद्ध राजा के पास पुनर्विमर्श की शर्चना (अपील) की जा सकती थी। साधारणतया पंचायत का फैसला पलटता नहीं था। भगडे दो प्रकार के होते थे। एक धनोद्भव (दीवानी) और दूसरे हिमोद्भव (फौजदारी)। दोनों की ही सुनवाई ग्राम पंचायतें करती थीं। विशेष अभियोग की सुनवाई राजा स्वयं करता था। राजा भी सभा वालों को बुलाकर उनकी सलाह से फैसले सुनाता था।

सभा की बैठक चावडी (चौपाल) में अथवा मन्दिर या बीच गाँव में बने हुए रक्खे बट्टा (पंचायती बबूतरा) पर हुआ करती थी। रक्खे (मार्वचनिक) इसलिए कहा गया कि खुली बहस होती थी।<sup>१</sup> जब राजा सुनवाई करता तो विद्वानों को बुलाकर कमरवार का कमर गुना देना और कहना कि वे ग्राम्यों को देखकर बनायें कि इस अपराधी को क्या दंड दिया जाना चाहिए।<sup>२</sup>

एक बार की बात है कि एक वैष्णव और एक जैन के बीच तेन-

१. 'धामुक्त मात्यदा', ४—१११।

२. 'परमयोगी वित्तममु', १० ३४०।

देन के मामले में तकरार हो गई। मामला राजा के पास पहुँचा। राजा ने कुछ प्रमुख व्यक्तियों को सभा बुलवाकर मामला सुना दिया और एक तारीख़ मुक़र्रर करके कहा कि वे अमुक दिन तक अपना फ़सला सुना दे। सभासदों के सामने दोनों फ़रीकों ने अपनी-अपनी बातें रखी। इस पर सभा वालों ने पूछा, 'कोई गवाह है।' उन्होंने कागज़-पत्र सामने धरकर कहा, 'देखिए इस पर गवाह दिये हैं।' गवाहों के सामने पत्र जोर से पढ़कर सुनाया गया। सब-कुछ सुन-समझकर सभा ने अपना फ़सला दिया।<sup>१</sup> इसी ग्रन्थ में आगे<sup>२</sup> कहा गया है—“मुद्ई मृदातेय 'रच्चा कट्टा' पर सभा को नज़र-भेट देकर अर्जों सुनाकर फ़सला चाहते हैं। भगवा ज़मीन का है। सभा वालों ने पूछा, 'जमीन तुम्हारी है, इस बात की कोई गवाही है?' इस पर मुद्ई ने कहा—'जय हमारे पुरखों को यह ज़मीन मिली थी तब के गवाह आज तक जीवित ही कैसे रह सकते हैं? वे तो कभी के जाते रहे।' सभा ने पूछा, 'तो तुम्हारे पास कोई कागज़-पत्र है?' जवाब मिला, 'हमारे सातवें दादा को जो कागज़-पत्र मिले थे वे इतने वर्ष तक कैसे रह सकते थे? कोई साक्ष-पत्र थोड़े ही थे?' तब सभा ने कहा—'अच्छा, 'सत्यम्' लो, यानी कसम खाओ।' इस पर उसने ईश्वर की कसम खाई और मुरुदमा जीत गया।”

ऊपर की बातों से उस समय के पचायती विधान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पहले बयान, फिर कागज़-पत्र की या मनुष्य की गवाही, और अन्त में कुछ न हो तो कसम खाना। इसी पर शास्त्रों को देखकर फ़सला दिया जाता था। कसम खाना कोई मामूली बात नहीं है। लोग मानते थे कि झूठी कसम खाने पर बरा-नाश होना है और दरिद्रता घेरती है। इसी प्रकार पचायत के सदस्य भी झूठा फ़सला देने से डरते थे। 'बैकटेश शतक' के आधार पर हम पीछे कह आए हैं कि कही-वही भूम खाकर झूठा फ़सला देने वाले पंच भी होते थे, किन्तु बहुत कम।

१. 'परमयोगी विलासमु', पृ० ३४०।

२. पृ० ५३२-३ पर।

नमाज के अन्दर ऐसे लोगों की कोई कद्र नहीं थी। पचायत की विशेषताओं को उन समय के तेलुगु-साहित्य में बार-बार दर्शाया गया है। वही उत्तम पड़ति थी। अंग्रेजी अदालतों, वकीलों, कातूनों, कानून की बारीकियों, झूठ और बेईमानियों के इस युग में उन प्राचीन पचायतों की पुनर्स्थापना कदापि सम्भव नहीं।

### इस अध्याय के आचार-ग्रन्थ

(१) श्री कृष्ण देवराय-रुत 'आमुक्त मात्यदा'—श्री वेदम् बेंकटराम शान्नी में इस पर व्याख्या लिखी है। कल्पापूर्णा में एक बार पूछे जाने पर इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में एक ही ध्यान में कहा या कि "श्री कृष्णदेव राय ने इसे लिखा है और कवि सार्वभौम धम्ममानि पढ़ना ने उसे देखा है।" निश्चय ही यह श्रीकृष्ण देवराय की रचना है। इसमें सम्पूर्ण मोक्षानुभाव विद्यमान है। पग-पग पर सामाजिक इतिहास के समाने हैं। इस दृष्टि में यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में इसे तेलुगु-साहित्य में अग्रस्थान प्राप्त है। अपूर्व स्वाभाविक वर्णनों तथा सरल शब्दों में यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। यदि इस ग्रन्थ पर 'नवतन्त्र स्वातन्त्र्य' की व्याख्या न होती तो घाघी बातें हमारी समझ में बाहर ही होती।

(२) परमयोगीबिलाममु—रघुपति पाटलाशका निरवैगलनाय। यह एक द्विपद काव्य है। वैगल कवि को 'चिन्नन्ना' के नाम से भी जाना जाता है। इसी कवि के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि द्विपद का जानकार तो चिन्नन्ना ही है। 'विष्णुगोपान शतक' के रचयिता ने इसको 'धनपाटला पासा चिन्नन्ना' की गाली दी थी। इसकी कविता में पवित्र की पवित्र छाप बैठने वाला ममूत नमान एक भी नहीं है। सब जगह तेलुगु बोल ही विद्यमान है। यह अवश्य है कि चिन्नन्ना में इसका स्तर पालतुरिकी सोमनाथ तथा गोरेना में गिरा हुआ है। किन्तु घाने सामाजिक इतिहास के लिए यह बड़े ही काम की धम्नु है। इस दृष्टि में 'वनु चरित्र', 'मनु चरित्र' इत्यादि प्रबन्ध-ग्रन्थों की अपेक्षा यह



द्विपद कविता कही उत्तम है ।

(३) मधुराविजयम्—रचयित्री गमादेवी । यह संस्कृत भाषा का एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है । इसे प्रकाशित करने वाले इतिहास-विशेषज्ञों ने इस बात को सिद्ध किया है कि इसमें सच्चा इतिहास भर है । कविता सुन्दर है । अन्य भाषाओं में टीका-सहित प्रकाशित करने योग्य है ।

(४) कृष्णराय-विजयम्—लेखक कुमार इर्मटी । कविता साधारण है, ऐतिहासिक जरूर है, किन्तु हमारे काम की कम ।

(५) श्री कालहस्ती महात्म्यम्—लेखक इर्मटी । केवल तीसरा आशवास ही कुछ काम का है ।

(६) राधा राघवम्—लेखक एत्सानायं कवि ।

(७) कला पूर्योदयम्—लेखक पिगलि मूरना । इन दोनों से कुछ-कुछ सहायता मिलती है ।

(८) Vijaynager sexcentenary commemoration Volume (1936). यह बहुत काम की वस्तु है । किन्तु इसमें राजवंशों तथा उनके शासन-काल का विवरण नहीं है । इसे कर्णाटक के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से लिखा गया है ।

(९) Social and political life in Vijaynager Empire by Salatore, दो खण्डों में ।

यह है तो बहुत अच्छी, किन्तु कर्णाटकी दृष्टिकोण से लिखे जाने तथा लेखक के तत्त्वों से अनभिज्ञ होने के कारण उतनी उपयोगी नहीं है ।

: ५ :

## विजयनगर राज

(सन् १५३० से १६३० तक)

कृष्णदेवराय के बाद भी विजयनगर राज्य की दशा सन् १५६५ ई० तक उज्ज्वल ही रही, किन्तु सन् १५६५ ई० में तातीकोट के मुड़ में उसकी भारी धक्का लगा। दक्षिण के सभी मुसलमान मुलतानों ने एक होकर विजयराजु के विरुद्ध मुड़ छेड़ दिया। मुड़ में उसकी हत्या कर डाली और उनकी मारी सेनाओं को तितर-बितर करके विजयनगर पर अधिकार जमा लिया तथा लगातार छः मास तक उसको सहस्र-नहस करते रहे। फिर भी विजयनगर की ताकत टूटी नहीं। तिरुमल देवराय पेनुगोडा की अपनी राजधानी बनाकर शासन करता रहा। उसके बाद श्री रंगराय राजा हुआ। वह बहुत दुर्बल राजा था। अपनी दुर्बलता के ही कारण उसने अपनी राजधानी पेनुगोडा से बदलकर चन्द्रगिरी में रखी। अन्त में सन् १६३० के बाद विजयनगर साम्राज्य का पतन हो गया। केवल उसकी एक शाखा तंजावूर में दो पीढ़ियों तक शान के साथ शासन करती रही।

परंगल के काबलीय राज्य के पतन के बाद विजयनगर ने लगभग २३० वर्ष तक दक्षिण के हिन्दुओं को मुसलमानों के आघात से बचाये रखा। सन् १६०० के बाद आन्ध्र का सारा प्रान्त दक्कन के मुलतानों के अधीन हो गया। इसी बीच भारत भूमि पर फरांसीसियों और

अंग्रेजों का पदार्पण हुआ। वे भी देश को सूटने की नीयत से ही यहाँ आये थे। रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण ही उनका उद्देश्य था। सन् १६०० से १८०० तक आन्ध्र देश के अन्दर अराजकता का ताड़व नृत्य होता रहा। वह एक अन्धकारमय युग था। कम-से-कम उत्तर सरकार तथा रायल सीमा के प्रान्तों को तो सन् १८०० ई० के बाद किसी प्रकार से सँस लेने का अवसर मिल भी पाया, किन्तु तैलंगाना तो कल तक पतनावस्था में ही रहा और वहाँ की जनता असहनीय यातनाएँ सहती रही।

### धर्म

कृष्णदेव राय के समय जो स्थिति आन्ध्र की थी उसमें कुछ विशेष परिवर्तन तो नहीं हुआ, किन्तु बाद के साहित्य से जिन थोड़ी बहुत विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है उनकी चर्चा करना जरूरी है। मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं पर तथा उनके धर्म और मस्जिदों पर निरन्तर आक्रमण होते रहने के बावजूद हिन्दू राजाओं ने मुसलमानों के प्रति शुद्ध राजनीतिक विरोध भाव ही रखा। उनके मसहब के विरुद्ध कोई द्वेष भाव नहीं दिखाया। जनता ने भी इस्लाम धर्म का विरोध नहीं किया। पटनाड़ि प्रान्त में मुसलमानों की वज्र तक पटनाड़ि वीर-मन्दिर के अहाते के अन्दर ही बनी हुई है। आज भी वहाँ के मुसलमान कार्तिक के महीने में पटनाड़ि के वीर-पूजा-ममारोह में भाग लेते हैं। गुलबर्गा के अन्दर मगहूर बत्ती की दरगाह के बारे में प्रसिद्ध है कि उसके भवन को नारायण महाराज नामक किसी सेठ ने बनवाया था। पेनुगोडा के बाबा बत्ती की दरगाह के नाम सालुवा नरसिंह राय ने माफी में कुछ गाँव दे दिये थे। उम दरगाह को बाद के राजाओं ने भी अनेक दान दिये। जटिम बर्मा कुनसेखर पांड्य राजा ने शालिवाहन सम्बत् १४७७ में एक मसजिद के नाम एक गाँव दिया था। वरगल में भी मसजिदें बनी थीं। 'क्रीडाभिरामम्' में एक मसजिद को उदय करके बहा गया है कि यही 'करतार' की मसजिद है। पर न जाने वह करतार कौन

या—वनो या बादशाह, क्योंकि मुनिकानों में करतार नाम नहीं होता ।

“कर्तार-कर्तार कहकर मुनिकानों के भजने पर पूरब दिशा में……”<sup>१</sup> पद्य सन् ११८१ के सगन्ध के कवि मल्लने का है । इनमें विदित होना है कि उन समय मुनिकान मूर्ख को करतार कहते थे, और उनको पूजते थे । किन्तु इस्लाम आया उससे सम्बन्धित सम्प्रदायों में करतार का शब्द नहीं मिलता । कवि रामराज ने ‘साम्बोनाम्नान’ में रामान के रोजे (उत्तमान) के सम्बन्ध में यों कहा है :

“मुनिकान उत्तराधरा में जब रोजा रखते, तब चमेली की मुगन्धियों से भी बचने । वे मोनिया चमेली के सकेद फूलों को देखकर बिरह-बेदना को जीनने के उद्देश्य में दुगनो भमारों पड़ते ।”<sup>२</sup>

शैवों तथा वैष्णवों के बीच परस्पर वैमनस्य पूर्ववत् चलता रहा । एक वैष्णव आचार्य विद्वानारायण पर शैवों ने खोरी का अभियोग लगाया और मामले को पचायत में ले गए । वैष्णवों को इससे बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने आत्म में कहा—‘ये तो पहले से ही हमारे धर्म के शत्रु हैं । ‘ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या’ का प्रचार करने वाले मायावादी धर्मे लोगों के धोर अन्यायों पर भी पदां बालने हैं, पर हमारी छोटी पुष्टियों की राई को भी पहाड़ बनाकर पचायतों में ले जाने हैं । तब क्या वे विद्वानारायण को सहन कर सकेंगे ? कदापि नहीं । तुम लोग चाहते हो कि लोग (भट्टवादी) विद्वानारायण को खोर न कहें, धनाचारी न कहें, धनाचारी न कहें ? अच्छा तो तुम वैष्णवजन इसके लिए एक ‘ब्रह्मरप’ उत्पन्न करो !” इस प्रकार उन्होंने ध्यान किया । ब्रह्मरप एक प्रकार का सम्मान-मूचन समारोह होता है । जिसका अतिथि आदर करता हो, उसे एक रस में बिठाकर सभी बाह्य धर्मे हाथों में रख को गांवों हुए बाजार में उस धर्म का जन्म निकालने में ।

१. ‘विद्वानारायणचरित्र’, चदनबाई मल्लय्य ।

२. ‘साम्बोनाम्नान’, रामराजुरंगना, २-१०२, यह ११६० के सगन्ध हुआ है ।

इस साम्प्रदायिकता ने ही हिन्दू-समाज को सबसे अधिक हानि पहुँचाई है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के परिवार-के-परिवार अपने सम्प्रदाय के नाम पर आजीविका कमाने लगे। शैवों ने मठों का आश्रय लिया। दूसरे अपने-आपको वैष्णव बताकर मन्दिरों में रहने लगे। उस समय धर्म का नाम लेकर भीख माँगने वालों की संख्या भी बहुत बढ़ गई थी। अनेकों नम्बीजन दासरी बुट्टा (भोला) टाँगे घर-घर भीख माँगने लगे।<sup>१</sup>

अर्थात् श्री रंगधाम ही सबसे बड़ा मन्दिर है, इस टोक का कोई तमिल गान रहा होगा। माडाभूपि मठम् वेंकटाचार्य ने अपने 'पाशुर परिमल-मुलु' में लिखा है : "तिरुवरंगम् शब्द तमिल भाषा में श्री रंगम् के लिए प्रयुक्त होता है। तिरुवरंगम्, तिरुमाला भी इसीके रूपांतर हैं। इविड दिव्य प्रबन्ध के प्रथम हज़ार पद्याँ में से यह भी है। प्रतिष्ठ विप्रनारायण ने ग्रान्थ में इसका विपुल गायन किया था। एक भी ग्रान्थ ऐसा न होगा जो विप्रनारायण के चरित्र अथवा उसके 'बैजयन्ती-विलासम्' से अनभिज्ञ हो। बारह भालवरो में वह भी एक हैं। तिरुमला श्री वैष्णव भालवों में उसके इस गान का सदा गायन हुमा करता है।" माडाभूपि ने उसी तमिल गान का तेलुगू में अनुवाद किया है। कुछ नमूना इस प्रकार है :

"एक ही बाण से महा जलधि के दर्प को कुचलकर सारे जग के कुतूहल को बढ़ाते हुए युद्ध में रायण का सहार करके भगवान् रामचन्द्र श्री रंगनाथ भगवान् के इस उत्कृष्ट मन्दिर में विराजमान हैं। यदि उस भगवान् का स्मरण न करें तो भला उस कदण से वंचित रहकर कैसे उद्धार पा सकते हैं।" बिकिटम, (भिला) जोगु, गोपालम् आदि नामों पर कुछ माँग खाने लगे।<sup>२</sup> जोगु उस भिला को कहते हैं, जो एकलिंग देवी के नाम पर जक्कु जानि माँगा करती है। हम पीछे कह आए हैं कि

१. 'बैजयन्ती-विलासम्', ३-६२; तिरुवंगम् पेरिय कोविल।

२. 'विप्रनारायण चरित्र', ३-१५।

जब 'यमु' का विग्रहात्मा स्वरूप है। (एककलि का सम्बन्ध भी यही से जान पड़ता है।) गोपालम् की चर्चा जो 'नव्या-गोपालम्' के शीर्षक से हो चुकी है। (मध्या-गोपालम् की मित्रा का आरम्भ ऐसा तो नहीं कि दिन-भर गाँव की गायें चराने के बाद चरवाहा गाय को हर गाय बाने के घर की फेरी लगाकर भोजन लेता रहा हो ? और इसीने पीछे मित्रा-वृत्ति का रूप ले लिया हो ?—यमु०)।

धी रंगम् में 'रामानुज कूटम्' ये।<sup>१</sup> ये कूटम् आन्ध्र देश के प्रन्दर में कि नहीं, कहा नहीं जा सकता।<sup>२</sup> तम्बली के मध्य में पीछे लिखा जा चुका है। वे शिवलियों के पुजारी होने थे। तम्बली के सम्प्रदाय क्या हैं, इस पर पीछे कुछ चर्चा हुई है। उनमें अधिक कुछ पता नहीं। वे अब भी मन्दिरों में ब्राह्मण-भोजन के लिए पत्तल ला दिया करने थे। (दक्षिण में धाम-वास जानि के लोगों के हाथों में रहकर पत्तलों की भी एक कला-मी हो गई है। उनकी मिलाई मरीन की-मी बारीक और मुन्दर होनी है।) तम्बली पत्तल मुद्रिया करते थे। निरमल देवराय के एक शिवा-धामन में उल्लेख है कि तम्बलियों की प्रार्थना पर पत्तल का काम बन्द करके उनको मन्दिर की देख-भाल का काम दिया जाता है।<sup>३</sup>

विष्णु भयवा शिव के मन्दिरों के बनने के बाद मूर्ति की स्थापना के समय गैब भी और बंध्यव भी अपने-अपने ढंग पर पूजा करते तथा 'उत्सव' मनाते थे। (मूर्ति को पानकी में बिठाकर कंधों पर जलूम निवाला जाता है, इसीको उत्सव कहते हैं।) उत्सवों में बंध्यव द्वादश पुंङ्गुयारी होकर, (मापे, मुखा, पेट, गले आदि शरीर के बारह स्थानों पर तिनक लगाता) तथा गले में तिर्यग्विबद्धम् (बमल के दानों की)।

१. 'विप्रनारायण चरित्र', २, ६।

२. रामानुज कूटम् के अर्थ हैं रामानुजाचार्य के अनुयायी बंध्यवों का एक जगह इकट्ठा होना। इस कूटम् में सभी बंध्यवों को मुफ्त भोजन मिला करता था। ये आन्ध्र देश में भी थे।

३. Salatore, मंड २०।

माला) पहनकर जाया करते थे। चर्वा तथा (तोटा) तिष्ठागुडा (तिजक पेटी) भी हाथ में रखने थे।<sup>१</sup> वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए वैष्णव कवियों ने भी प्रयास किया। 'साम्बोपाख्यान' के रचयिता रामराजु रगप्पा ने लिखा है - "सिद्धान्त-वर्णन नामक एक गुरु महाराज हस्तिनापुर जाकर भीष्म, द्रोण और विदुर आदि को पक्ष संस्कारों से संस्कृत करके (मुद्रा-धारण की प्रक्रिया जिसके सम्बन्ध में विछले अध्यायों में लिखा जा चुका है) शरणागत धर्म तथा भागवत-वास्तव्य (शरणागत की रक्षा तथा भगवद्-भक्तों के प्रति श्रद्धा) का उपदेश देकर, हरि-कथा-कीर्तन करके, अष्टविधि भक्ति प्रकारों, नवविधि भक्ति युक्तियों, तिष्ठाराधन (पूजा) सर्वादाओं इत्यादि परम वैष्णव-सिद्धान्तों को बुद्धिगोचर करते थे।"<sup>२</sup>

(प्रचार ऐसा करते थे मानो वैष्णव सैव के भगड़े महाभारत-नाम में भी रहे हों।) वैष्णव मन्दिरों के पुजारी दादा-परदादा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे हैं। भगवान् का सारा भोग वही भोगते हैं। भक्तों का दिया हुआ दिया-वसी का तेल भी बहुत-कुछ उन्हींके घरों में जलता है। भक्तों की दक्षिणा आदि चढ़ावों में अच्छी आमदनी होती है। 'विप्रनारायण चरित्र' से मन्दिरों के पुजारियों के जीवन-विधान पर कुछ प्रकाश पड़ता है : "यदि कुछ भूल हो जाय तो बया हुआ। इतना ही ना कि (मन्दिर का) दिया गुल हो जायगा, बुझ जायगा ? ! नाराज बयो हो, घूँघरी के दो दाने हो तो क्या लेंगे ? ! कुछ भोग-सामग्री ही तो ले जायेंगे ? ! मन चला तो बड़े का एक टुकड़ा ही तो मुँह में डाल लेंगे ? ! घोटा देंगे तो बस दो-चार पैसेरी चावल ही तो उड़ा ले जायेंगे ? ! बहुत हुआ तो एक घेंसी-अधेंसी, एक फटी घोली या एक सुपारी अड़ो, बस और क्या ? !"<sup>३</sup>

सोम सन्धी की पूजा करते थे। यह दारु ऋतु में होनी थी। उस

१. 'साम्बोपाख्यान', ४-१४२।

२. वही, ४-१४२।

३. 'विप्रनारायण चरित्र', ५-१६।

त्योहार के अवसर पर रमिवजन, वेद्याघो को पटुगा दडुगा (त्योहार का दंड) करने थे। इस दण्ड की सफ़मीन भी दी गई है। अपने घर पर कितों के दिये बकरे की मीठी आवाज कानों में पड़नी तो वेद्याघो को बड़ी उत्कण्ठा होती। इन प्रकार रुपये, साड़ियाँ, पान-सुपारी, बकरे आदि सभी चीज़ें वेद्याघो की त्योहार की भेंट के रूप में दी जाती थी।<sup>१</sup> इस वर्णन से प्रतीत होता है कि यह अवसर दीवानी का ही होता होगा। राजकन सानियाँ दीवानी के दिन मधुरे ही मूरज उगने से पहले ही धनी-मानियों के घर जाकर धारनी उतारती हैं और इनाम के रूप में धारती में रुपये छोड़े जाते हैं।

मंतान की सायना एक मामान्य बात है। 'अपुत्रस्य गतिर्नाम्नि'-जैसी शास्त्रोक्तियों के कारण हिन्दू आज भी पुनः-प्राप्ति के लिए अमहनीय दानना भेजकर देव-आश्रय को प्रसन्न करते हैं। उन दिनों तो और भी बुरा हाल था। धन-उपवान रखना, दत्त-जाप करना, श्राद्ध-परिवारों को धन-दान करना, 'शान्ति रचना', पयम्मन (दूध के मठार) गोवना, तीर्थ-यात्राएँ करना, देवी-देवताओं के दर्शन करना, दानधर्म करना, देवताओं के स्नानों का पाठ करना, 'पोरनु' दडवन् लगाना (पैरों पर न चक्कर जमीन पर मोटने हुए मन्दिर को परिव्रता करना), जो भी मूर्ति दिये उसकी पूजा-अर्चना करना, जो भी दान कोई बतावे वही करना आदि मनान-प्राप्ति के लिए धान बाँत थी। नोण कुछ भी उठा नहीं रखते थे। मंतान के लिए तरमने रहते थे और तवाह होते रहते थे।<sup>२</sup>

( 'पोरनुदडन्' का एक और भी अर्थ है रूप उत्तर भारत में है। विष्णुवचन-भाई आदि देवियों के दर्शन को जाने जाने विनने ही मन्तानो जाने पारी बीसियों मील तक अष्टान-स्थलों में धरती को नाचने जाते हैं। इसमें भागे की चमड़ी तक दिन-दिन जानी है।—अनु० )

वैष्णव-धर्म के प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य के समय श्रीपति पंडित

१. 'वैजयन्ती विलास'।

२. 'महल्लचरित्र', अध० १ पृ० १३।



एक आदमी लाठी का सहारा देकर उस कपड़-छाजन को उठाए रहता है, जिसमें उसका आकार चजते-फिरते तम्बू-जैसा दिखाई देता है ।" (इसी-को राय न सीमा में 'उल्ले' कहते हैं ।—लेखक)

सक्रान्ति के त्योहार को रायल सीमा में 'पशुओं की लिचड़ी' कहते हैं । भारत के अधिकतर ग्रान्तों में इसे 'खचड़ी' अथवा 'खीचड़ी' का त्योहार कहते हैं । उम ममय के ग्रान्ध देश में यह त्योहार कितना सर्व-प्रिय था, इसका अनुमान एक पद्य में होता है जिसमें सक्रान्ति के बाजार का वर्णन है :

"कुम्हार कुड़ रहा था कि चार आधे घोर क्यों न पका लिये, बनिमा बड़बड़ाता था कि सारे दपयो की हल्दी ही क्यों न खरीद ली, गडरिये की यह गम था कि दो-चार रेयड और क्यों न बढ़ा लिये, किसान कुड़-बुड़ाना था कि सारे खेत में हल्दी ही क्यों न उपजाई ! सभी धन्यों और धृत्ति वालों का सारा माल सवेरा होते-होते ही बिक गया था । इससे सभी व्यापारी पछताते रहे थे कि अगर प्यादा माल साते तो खूब मुनाफा होता । अर्थात् खिचड़ी के त्योहार पर सभी जाति के लोग खूब खुले हाथों खर्च करते और ठाठ से त्योहार मनाते थे । सचमुच संक्रान्ति सबका त्योहार है । ग्राह्यणों से लेकर दूधो तक सभी का । मांसाहारी उस दिन बकरे काटकर खाते थे । घर-घर खिचड़ी पकती थी । मिट्टी के नए घरतन खरीदे जाते थे । हल्दी की बात इसलिए आई है कि उस दिन इमली का अचार डाला जाता था । उसमें हल्दी पड़ती है ।"

'विनटि पटुगा'—पटुगा तो त्योहार को कहते हैं, पर 'विनटि' शब्द कोश में नहीं है । 'विनु' माने बीज । इस त्योहार का मतलब हुआ 'बुझाई का त्योहार' । आज भी बुझाई के दिन लोग अपने-अपने घर साधारण-भा त्योहार मनाते हैं । जान पड़ता है कि आज ॥ तीन सौ साल पहले बुझाई की शुद्धमात करने के लिए कोई दिन निश्चित था । उन्नी दिन सब विमान बुझाई शुरू करते थे । ग्राह्यण बुझाई-कटाई के समय हर कही हाजिर रहने थे ! एक पद्य में बुझाई के समय ग्राह्यण के

निशाय घाने पर विमान विगडकर कहता है : "अरे बांभन, यहां भी घा गया नू ?" फिर हेंसी में कहना है "तूने अच्छा मुहूरत नहीं बताया या । पैदावार क्या खाक होमी ?" फिर ब्राह्मण के मीठी-मीठी बातें करने पर टोकरा भर नाज देकर विदा विदा । (वि-मन में टोकरा भर दिया, तो मन में देने वाले तो बोरियां भर-भर देने रहे होंगे ।) ।<sup>१</sup>

इसी बीच कुछ नये घाम-देवता भी पैदा हो गए थे । 'नयनपोलव्या को नमस्कार'<sup>२</sup> नयन पोलव्या नामक कोई बीर पुष्प रहा होगा या उसने कोई अद्भुत कार्य किये होंगे । न तो यह किसी देवता का नाम है, और न इस गद्य का कोई अर्थ ही है । मरने पर लोग उसे भी देवता बनाकर पूजने लगे होंगे । इसी प्रकार एक 'घाम-गमा' देवी थी । इस देवी की मान्यता बहुत रही । इनके नाम पर विचड़ियां चड़तीं, बकरे कटते, तान्त्रिक लोग मुरगें काटते ।<sup>३</sup> मेनामि रामनिगम ने इसका वर्णन यों किया है : "घामाधिकारी ने 'गंगम्मा-जातरा' की । डोंडी पिटवाई कि 'जातरा' कर रहा हूँ । 'जातरा' के दिन गेंवार स्त्रियां तेल मल-मलकर गरम पानी में नहाईं, नये कपड़े पहने, बाजल-सिन्दूर लगाये, छोटी में फूल गुंथे, गले में नीम के हार डाले, और पान चबाती हुई निरुक्त पड़ीं ।" लोग इन्हीं 'गंगम्मा' की शक्ति और महाशक्ति के नामों में पूजने लगे । रेड्ड लोग गेंवार धान से शान के साथ महाशक्ति के उस दिव्य भवन की ओर चले, जो पहाड़ी काटकर बनाया गया है ।

इस महाशक्ति के उत्सव में विशेष रूप में द्रवरियों की बलि दी जाती थी । लोग ठाड़ी भी मूत्र चड़ाते थे । स्त्रियां मनोही मानने के नाम पर बड़े बड़े भयंकर कार्य करती थी, उसका भी वर्णन मिलना है : "कोई सौंठो पर झूनी, कोई अग्नि-बुष्ट में नाबनी, कोई बेल के पत्तों पर नाबनी, कोई अपने शरीर से मांस काटकर शक्ति को बढ़ानी, कोई

१. 'शुक्र सप्तति', अध्याय २ ।

२. 'महर्षि चरित्र' ।

३. 'शुक्र सप्तति' ।

मुँह में ताला देती, अर्थात् दोनों होंठ मिलाकर उसमें लोहे की एक कील भोंक लेती इत्यादि....."१

ग्राम-देवता की तरह घर की देवियाँ भी निकल पड़ी। घर में किसी स्त्री की हत्या भृत्य हो गई तो उसके नाम पर घर या खेत में एक पेड़ के नीचे छोटी-सी वेदी बनाकर उस पर पत्थर, लकड़ी या मिट्टी की देवी 'घाव' कर पूजा जाने लगा। ऐसी पूजा जहाँ न हो वहाँ उसे खालू कराने वालों की कमी न थी। एक रेड्डी की पत्नी मर गई। कुछ दिनों बाद ग्राम-पुरोहित ने कोई स्वप्न देखा। स्वप्न में रेड्डी की पत्नी कहती है कि जाओ रेड्डी से कहो कि वेदी बनाकर मेरी 'घावना' करे।<sup>२</sup> एक देवी बगलम्में है। इस नाम की एक स्त्री अपने पति के गाय राती हो गई थी। नेल्लूर की ओर चगलम्में चगलम्में आदि नाम बहुत होते हैं। देवी-देवताओं की कोई कमी न थी। पुट्टराम्मा, सदिवीरलु, एक्केलम्मा, पोन्नुराजु, धर्मराजु, कम्बम्मा, देवायुलु, कार्टिरेडु आदि देवी-देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ। देवी-देवताओं में 'मनोजी' माँगना और 'सात्का' खदाना भी एक रिवाज था।<sup>३</sup> किन्तु 'सात्का' शब्द कोश में नहीं है। पता नहीं, इसका मूल क्या है। (उडू में 'सदके जाना' बनैयाँ लेने या बला उतारने के अर्थ में प्रयुक्त है। 'सदका' ही 'सत्का' हो गया होगा। —अनु०)

'उतारे' का रिवाज भी चल पड़ा था। घर में किसी के घीमार पड़ जाने पर तरह-तरह के घन्त बनाकर बीच घर या देहरी पर रोगी को खड़ा करके 'उतारे' निघ्रावरें उतारते और उस रंग-बिरंगे 'उतारे' वाले घन्त पगे बाजार में या गाँव के भन्दर जहाँ तीन-चार रास्ते मिलते हो, डाल देते थे।

ये सारी देवियाँ प्रायः झूठों की होती हैं। कुछ लोग इनके पुजारी भी बने। वे भी ग्राम तीर पर झूठ ही होते थे। ब्राह्मण पुजारियों की

१. 'पाट्टरंगमाहात्म्यम्', ३-७५ तथा तेजाति रामकृष्ण, सन् १५३० ई०।

२. 'शुरु सप्तति', २-४४५।

३. वही।

तरह इन शूद्र पुजारियों या पुजारियों को भी घन्न, माम, मदिरा, पैसे आदि खूब मिलने लगे। इन देवियों के आगे 'अमुग्राने' की प्रथा भी चली। अमुग्राने का काम अधिकतर स्त्रियों का ही होता है। अमुग्राने वाली स्त्रियाँ बाल बिछेरकर घोर कपड़े तक का होश न रखते हुए बूद-फाँद करती हैं घोर चिन्ताती हैं। चारों ओर लोग जुट जाते हैं। लोग पूछने हैं घोर वह जवाब में 'भाखती' (बोसती) है। वह तरह-तरह की माँग करती है, घोर लोग उसकी माँग पूरी करने का वादा करते हैं। वादे हो जाने पर अमुग्राना बन्द हो जाता है। (ब्राह्मण शास्त्रों की दुहाई देकर दान-धर्म लेने लगे शूद्रों ने स्वयं भगवान् या भगवती को बुलाकर उनके मुँह में अपनी कमाई का रास्ता कर लिया!) ऐसा भी होना था कि अमुग्राने वाला व्यक्ति स्वयं देवी या देवता बनकर माँग पैदा करने लगता। एक देवी कहती है—“किमाम स्त्रियाँ चौराहों पर लिच्छवी के खूब खड़ाये खड़ाये तो कुछ प्रसन्न हो सकती हैं।”<sup>१</sup> शिव-शक्तियों, तचारों (चौकीदारों), बवनीनों (बाजे बाने) और नाच-गाने वालों को मुक्त ताड़ी पीने को मिलती थी।<sup>२</sup>

मन्दिरों पर सुबह नूर के सड़के नगाड़े बजाये जाते थे। जिस प्रकार राजमहलों में राजा-रानियों को गा-बजाकर जगाया जाता, उसी प्रकार मन्दिरों में भी। देवी-देवताओं को नगाड़े आदि बजाकर जगाया जाता था। 'शुक सप्तति' में लिखा है कि “लोग देवनिसय की प्राचन्महामईल प्थनियों से सवेरा होने की सूचना पाते थे।” इसी प्रकार 'विप्रनारायण चरित्र' में लिखा है—“रंग स्वामी के मन्दिर पर शंख, कुन्नुभि आदि मंसुत बाज बजे.....”

उस समय के राजाओं ने वैष्णवाचार्यों की धर्मों के कुछ प्राधिकार भी दे रंगे थे। पैम्पामानि निम्मानाबुद्द नामक एक कम्माराजा का एक

१. 'शुक सप्तति', ३, ३८३।

२. पृ. ३, ११६।

३. पृ. ४-६८।

शिला-लेख है, (शांतिवाहन शक या सम्वत् १५६६, सन् १६४४ ई० वा)। उसमें लिखा है :

“ताताचार्य के प्रपौत्र तिरुमल बुक्का पट्टनम् कुमार ताताचार्य जो को नुसन्नगोन के पेम्मसानि तिम्मानायन को लिखवाई ‘देश-समाचार-पत्रिका’। पहले कृष्णदेवराय-काल से चले आते तिरुमाली के इस ‘देश-समाचार’ के चालू गाय ‘वर्षाशन’ (सांतियाना) को चलाने की आज्ञा ‘देश के स्लेच्छाक्रान्त हो जाने के कारण हमे मिली है। इसलिए हम अपने पंच-संस्कार के व्यवसर पर घायकी सेवा में गोलकोंडा के बादशाह के दिये हुए अपने मनसब (शाहीसांतियाना) में मिले गंडिकोट तालूका (तहसील) के चार लाख पचास हजार के इसाके को हरिलेया, गुदनेया, मुद्रा की नत्तर, मन्दिर की भेंट, यमिवि (घन खोहता) मुद्रा, भूल-चूक, बंडन, छंडन, पडुपावोडा आदि, देश-समाचारों (प्रयात्रों) के साथ अर्पित कर दिया है।”

सन्, १६५२ में गोलकोंडा मुल्तान के वजीर भीर-उमला ने पुर्तगालियों की मदद से गंडिकोट पर घेनाघड़ी से कब्जा कर लिया। उसने मिले नामक पुर्तगाली को हुकुम दिया कि गंडिकोट के मन्दिर में सब मूर्तियाँ लें जाकर उनकी धातु में २० तोपें बनवा लावें। उसने कहा कि दस तोपें ४८ पीड की, दस २८ पीड की हों। इनही तोपों की जरूरत है। ताम्बे की मूर्तियों को गलाया गया। सब मूर्तियाँ पिघल गईं किन्तु ‘मूमा’ (बडाई) में भगवान् भागवत स्वामी की मूर्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही। बर्बाद करने पर भी वह नहीं गयी। तब समझा गया कि यह ब्राह्मणों के मन्त्रों का प्रभाव है। ब्राह्मणों को पकड़कर उनकी ताड़ना की गई, पर कोई मतीजा नहीं निकला। एक भी तोप तैयार नहीं हो सकी। टारनियर नामक व्यक्ति ने अपनी पुस्तक ‘ट्रावेल्स इन इटिया’, (भारत की यात्रा) में यह अपनी घाँसी-देवी घटना लिखी है।

१. ‘गंडिकोट का घेरा’ नामक पुस्तिका से।

(सभी-सभी जिम पुस्तिका का हवाला दिया गया है, उस पर लेखक का नाम नहीं है। निम्ना है कि यह निबन्ध 'समदर्शनी' की 'आगिरम मचिका' (एक वार्षिकांक) के लिए लिखा गया था। निश्चय ही यह पत्र अंग्रेजों के शासक का होना चाहिए।)

### वैश-भूषा

लोगों की वैश-भूषा, तिलक आदि में विभिन्नता पाई जाती थी। चार सौ वर्ष पूर्व आर्य के अन्दर कौन-कौन-सी जातियाँ थी, और वह कौन-कौन धर्म, रोजगार आदि करती थी, इसकी लगभग भरी-पूरी-सी तस्वीर पालवेकटी बदरीपति ने अपनी प्रतिभाशाली शैली में दृ-व-दृ खींच रखी है। प्रत्येक जाति के स्त्री-पुरुषों का मूर्तिमान वर्णन देकर मानो उन्हें हमारे सामने ला खड़ा किया है। इस सम्बन्ध में उनका एक-एक पद्य उल्लेखनीय है। किन्तु विस्तार के भय से यहाँ केवल कुछ पद्य ही उद्धृत किये जा रहे हैं :

"हैं वृष्टदेश पर मोर पंख-तरकस,  
हाथों में धनु 'सेसस'।  
कटि-बाघबर में खुँसी हुई मग्नी कठार,  
भूलता गले में फूलहार।  
लिपटी बाहिनी भुजा पर माला गुञ्जा की  
घुँघराते बालों पर बाँकी  
सस्ते की तलें-मुगीर पट्टी। हैं खड़ी-खड़ी  
मूँछें ! आँखें हैं बड़ी-बड़ी।  
पंरों में चप्पल 'इस्तिला'—"

### राजा की गिनारी पोशाक

"रेशमी जाँघिये पर फटे से कसो कमर।  
हैं खरीदार मिरजई कसो उसके ऊपर,

जिस पर है साल किनारी की सुन्दर चादर ।  
 कानों में कुण्डल पन्ने के ।  
 माथे कस्तूरी के टीके ।  
 दाँये कर में कटार, बाँये में मड़ी ढाल ।  
 झीं गले हार में भुँये सोहते लाल सात ।  
 रंगीन कुत्तई है सिर पर,  
 लम्बो-सी, जगमग, प्रति सुन्दर ।”<sup>१</sup>

### कोमटी सेट्टि (बनिया महाजन)

“माथे खन्दन, मुँह में पान,  
 नीलम के कुण्डल हैं कान,  
 सिर पर वगड़ी, गेरुआ चादर,  
 रजत करघनी कसो कमर पर,  
 मचमच करती हुई चप्पलें हैं धतवस,  
 कितनी शोभा से भंडित है यह ‘धनदत्त’ ।”<sup>२</sup>  
 (‘धनदत्त’ अर्थात् धन  
 उपहार देने वाला महाजन ।)

### चूड़ा वेश्या

“साड़ी, जो रानी जी का उपहार है,  
 अक्कलदेवी के घरलों का हार है,  
 माथे कुंकुम की छोटी-सी टिकली है,  
 झीर गले में मुक्तामयों की हंसली है ।”<sup>३</sup>

१. खड्गमानु, २-२ ।

२. वही, २-१५ ।

३. ‘यंजयंती विलासपु’, ३-७१, ७२ ।

## सिराहियों का मरदार

“नाक की नोंक से माथे के सिरों तक  
भीहों के बीच से पतला-सा है तितक,  
बनपट्टी पर सीरे से बँधा, भौंटा, है  
एक पल्ला लटकाये भीला बजरंगी लँगोटा है !”<sup>१</sup>

## धाना

धानेदार की दंडनायक कहा जाता था । दंडनायक का ठाठ, दण्डबा  
भी धात्रक्य के धानेदारों से कम नहीं होता था :

“तनकाते साठियों के छल्लों की,  
धमकाने धात्रेदार ततवारें  
भनकाने हनुमन्-चित्रित ढालें  
नरसिंघी में भरते फुहारें  
घते वेदपाशों के मुहल्ले की  
सज्जे पिपाही, करते कोलाहल ।  
उन्हें लेके खला दंडनायक है,  
बदमाशों के दिस में है हलचल ।”<sup>२</sup>

सिराहियों की साठियों में लोहे के छल्ले सजे रहने थे । ढालों में तीन-  
चार पौन होती थी, जिनमें लोहे की गोतियाँ पड़ी रहनी थीं ! अब  
मिराही बनने, तो इन गोतियों में ध्वनि निकलती थी । ढाल पर घेर-  
बघर धादि के चित्र बने होने थे । इन पद्य में ढाल पर हनुमान का चित्र  
बनाया गया है ।

## वेदया

मंदिर से निकलकर सहेलियों में नपटे की धाड़ पचड़वाकर जल्दी-  
जल्दी घसने पर जा पहुँचती और माता के पूछने पर हँस देती ।

१. ‘वैजयन्ती विलासमु’, ४-६७ ।

२. वही, ४-७८ ।



## दासर मानी

“नेरुमा चोली, चोटी लिपटी साडी की लीरे-से  
मोती की दुलड़ी पहने, हरिनाम भजन करती चलती घीरे से……”<sup>१</sup>

## पटवारी

“मोटी पगड़ी और नीरकायी धोती पहने  
यही दबाये हुए, बगल में, श्री' चमड़े के ग्याल में  
धरे हुए तलवार, कहीं से पटवारी जी आ पहुँचे,  
बँठे रेड़ो से सटकर, उघों कहना हो कुछ कान में……”<sup>२</sup>

## मादिगा जोगुरासु

अमारो की एक देवी का नाम जोगुत्तम्मा है। उसके पुजारी भी अमार  
ही होते हैं। देवी के नाम पर अमार पुजारिनें भीख माँगने निकला करती  
थी। उनकी पोशाक का वर्णन यों दिया है :

“गले में देवी के चर्मचरण, संवा कौड़ीहार और दर्शनमाला,  
माथे पर हल्दी का टीका और बाँये हाथ में देवी की हल्दी,  
दाहिने में नागफनी की साठी, लाँगदार जैगावी साड़ी है,  
परशुराम के गाने गाती यह ‘जोगुलंबे’-भीख माँगने चल दी।”<sup>३</sup>

## मुसलिम मिवाही

मुसलमानों को मुरुक कहते थे। आज भी तेलुगू में मुरका का  
अर्थ मुसलमान ही होता है। उसकी पोशाक का वर्णन मुक सप्तति-कार  
ने<sup>४</sup> किया है। किन्तु उसके बड़े शब्दों के अर्थ शब्द-कोशों में भी नहीं

१. ‘विप्रनारायण चरित’, ३-३।

२. ‘शुक सप्तति’, २-४१७।

३. “, २-२४४।

४. “, ४, २७-८ में।

मिले । तैय्यर ने उन पद्य का अन्वय यों दिया है :

“ऐठनवार रेशमी मुरंठे-तले कारचोबी की, फर्रांसोसी टोपी,  
मूने<sup>१</sup> माये पे<sup>२</sup> झंगोछा, झंगरसा भिनमित मलमल का, तिस पर चादर  
कांस तले से निकलती कंधों पर, जरीदार पाजामा, ठीले-ढाले जूने,  
मैहदी-रंगे नल, जनेऊ-सा चमड़े का पट्टा, गेटो-कटार, रूप धरे भयंकर ।  
अन्य-रूप सार्इस संग लिये, ‘मुस्तंवी’<sup>३</sup> से आ पहुँचा वह गाय के बाहर,  
घीराव वाला पोपल तले खड़ा होके गरजा, ‘बुला, तलार’<sup>४</sup> को बुला,  
बे ‘घगड़ी के’<sup>५</sup>

गर्जन सुनने ही रेड्डी-तलार, संगियों को संग लिये भाग चला खेतों पर ।”

‘घगड़ी के’ की गाली इन्ही रूप में आज तक तैलगाने में सुरक्षित है ।  
एक छोट्टे ने मिनाही, उसके थोड़े-माईम, उसका ठाठ, और उसकी  
गालियों के मारे जब गांव के पटेल-पटवारी तब भाग जाया करने थे,  
तो औरों का फिर क्या पूछना ? मिनाहियों का यह दबदबा उस समय  
था, जब गोनकोडा के मुनानाओं ने धाध्र-देग को अपने अधिनार में कर  
लिया था । यह बात मन् १६३०-५० ई० की है ।

### रेड्डी

“धोनी पहने अपक्रेर, चदरिमा वाली-धारीदार  
चमरीची चप्पल, और लकड़िया हाथों की हमदार,  
विश्ट सतसती बड़ी दाड़ी, मूँछें भी लड़ी, घनी, भंग्राड़,  
उपज चौड़ी दाती पर घने बाल, लगने हैं जंगल झाड़,  
नाभि-थोका ठोपा भर, और पिडलियों का भोंडा आकार,

१. बिना टोके के ।

२. तैय्यर पद्य में ‘मुस्तंवी’ शब्द करने मूल फारसी अर्थ में (‘तैयारो’ के  
लिए) प्रयुक्त हुआ है ।

३. तलार : पटेल या सामाधिकारी ।

४. गंदी गाली है ।

उठती कमर से गले तक किनारदार चादर,  
 और बाईं बांह में बांका कड़ा,  
 जरीदार ग्यान में कटार पड़ी, पैरों में  
 रंगीन खड़ाऊँ का जोड़ा पड़ा,  
 कानों में चौकट<sup>१</sup> बालिषा भुलाये  
 आयुध जीवी सिपाही खड़ा !”<sup>२</sup>

### ब्राह्मणी

ब्राह्मणी का भ्रमण वर्णन नहीं मिलता। एक ऐसे ब्राह्मण का वर्णन मिलता है, जो किसी रेड्डी-युवती पर मोहित होकर अपनी स्त्री को भी उसी प्रकार की वेश-भूषा में देखकर प्रमत्त होना चाहता था। वह अपनी ब्राह्मणी से इस प्रकार आग्रह करता है “बासों मे यह कील-गाँठ क्या, चिकनी चोटी क्यों नहीं शूँष लेती ? हल्दी क्या मलती है, बिभूति लगा ले ! और काँछ की साड़ी भी कोई साड़ी है, कुँकदी वाली साड़ी तो पहन । ताड़ के रंगीन पत्तों के कर्णफूल क्या, असली सोने के क्यों नहीं पहनती ?” बेचारी पत्नी भी यह सोचकर कि वही पति पागल न हो जाय, वैसा ही करती, पर पतिदेव यह कहकर अपने दिल में व्याकुल होते कि भेस तो जहर रेड्डिन की है ‘हालिक—लिकुच-कुच-वेप’, किन्तु वह बात वहाँ ?<sup>३</sup>

ऊपर के वर्णन से ब्राह्मण की रेड्डी-मानी का भी कुछ प्योरा हमें मिल गया है । विशेष प्योरा नीचे के पद्य से मिलता है .

“पोतहार, जोड़े मनकों की नय,  
 कुँकदी वाली साड़ी, ऐँठन वाली सिकड़ी,  
 पाँव की हर उँगली-उँगली विधिषा,

१. जिनमे चार-चार मोती जड़े हों ।

२. ‘शुक सप्तति’ २-२४१ ।

३. वही, २-४५७ ।

बंगने में बत्तू, दाँतों में पत्ती जड़ी,  
सहराता पन्तू, कपोलों पर झुकी चोटियाँ,  
बाँकी, कोयों के कोनों से,  
आगे तक बड़ी हुई पननी काजल-रेखा,  
जोड़ी-जोड़ी बातियाँ सोने,  
माँझि-टोका घौर गले में 'नायु',<sup>१</sup> मले  
हल्दी-उबटन, घोषी कसमसी,....."<sup>२</sup>

### जंगम स्त्री

"बरगद के दूध से बंधी हुई जटाएँ,  
इमली के पात-सा त्रिभूति-तिलक  
बाँहों पर खड़ालों की माला,  
नागफनी-बंड, कटि से कंधे तक  
जनेऊ-लपेट उपरना, ताँबे का छन्ता,  
साँझ छाप घौर योग की पट्टी"<sup>३</sup>

### मुवाग्निनी स्त्री

"मुच पर, शरीर पर हल्दी की उबटन, आँखों में काजल छाँजे  
भोम सटी कूंकुम की टिकुली या तिनक....."

### वैदना-मानी

"पायजामे पर इरहरी साड़ी, धी' ओड़नी छापी काँचे छापी भूलती"

यह थी उनकी पोगाक। मन्दिरों में भगवान् के स्नान के समय मेवा  
में वैद्याधों के ठाम्बियन रहने का निदम था। वे भगवान् के लिए भरा हुआ  
पहा भी ले जानी थी। इन्हे निर्मज्जन कहते थे। कीटुमेत्तु अर्थात् भगवान्

१. तार का एक गहना।

२. 'मुच सप्तनि', २-३३२।

३. वही, २-३२।

के लिए पानी का भरा घड़ा ले जाते समय भी सानी की उपस्थिति आवश्यक थी ।

“कोडुमेत्तु के लिए वेड्या-कन्या मन्दिर की ओर चली जा रही है ! नाभि-तिलक, सुन्दर बेणी, पीछे की खोँसी साड़ी सहारा रही है ! घ्रांचल का सहुराना देखकर भौंचक्का रह जाना पड़ता है !”<sup>१</sup>

### माष्टी

“पगिया पर पूजा-फूल वाम भुजा पर सांकल,  
सम्बो घसि लंबित दक्षिण कर है,  
पेटी में लघु कटार, जनेऊ-सी चादरिया,  
धीर समर-यात्रा की तत्पर है ।”<sup>२</sup>

### प्रजा अर्थात् जन-साधारण का जीवन

उस समय का जो साहित्य हमें प्राप्त है, उसमें बहुत-से शब्द ऐसे हैं; जो शब्द-कोशों में नहीं मिलते । जो मिलते भी हैं, उनमें कुछ के अर्थ प्रमग को देखते हुए ठीक नहीं लगते । साधारणतया जो अर्थ लगाये जा सकते हैं, उनके अनुसार नीचे भिन्न-भिन्न जातियों के घर-बार तथा उनके जीवन का वर्णन दिया जाता है ।

### ग्राह्यण

सीप-पोतकर रगोली डाने हुए चबूतरे बड़े-बड़े दरवाजे छप्पर का बरामदा, ढालिया, छोटे रोशनदान, रसोईघर, धावे की छत, निवाड के पलंगों वाला गयनागार, जानवरों की बाँधने की ओर चारा गिलाने की जगह, पिछवाड़े में नारियल, नोबू तथा अन्य फलों-फूलों के भांड, मोटे पानी का कुआँ, इन सब चीजों के साथ ग्राह्यणों के घरों में हरे तोरणों

१. ‘शुक सप्तति’, ३-१७ ।

२. वही, ३-५२ ।

के साथ निन नये उनव मनाये जाने थे ।<sup>१</sup>

ब्राह्मणों में बड़े-बड़े जमींदार भी होते थे । उनके साथ 'बाहमन खेती, बान बेशगी' की कहावत लागू नहीं हो सकती । उनके यहाँ अच्छी खेती भी होती थी । बड़े-बड़े बाग-बगीचे भी थे और खेतों में अनाज भरा रहता था । 'शुक सप्तनि'<sup>२</sup> में उनका वर्णन यों दिया है :

"सात में वह तीन-तीन फसलें उगाते थे । खेतों को भर देने लायक बड़े-बड़े खेत, बगीचे, सुपारी के पेड़, भंड-ढकड़ियों के रेवड़, गन्ने के कोन्हू और ठंके के खेत भी थे । दास-दासी-जन थे । प्यादे-मिपाही थे । उनसे घरों की बड़ी-बड़ी चहारदीवारियाँ थीं । घर के अन्दर बड़े-बड़े दामात होते थे । उन घर कोठे और सामने बरामदे भी होते थे । घर के चारों ओर ऊँची-ऊँची चहारदीवारियाँ होती थीं । बरतन ताँबे के होने थे । तुलसी का एक छोटा चबूतरा, देव-पूजा, निग्य अन्न-दान, माथे पर तिलक, ये सब उनके सदाचार में शामिल था ।" यह गो खाते-पीने मुशहाल ब्राह्मणों का वर्णन हुआ । अब गरीब ब्राह्मणों की दशा भी सुन लीजिए :

"बाजार में कपाम की भीख माँगकर, उसके अनेक तैयार करना, बरगद के धान साकर उनकी पसल तैयार करना, घर के अगवाड़े-पिछवाड़े साग-भाजी उगा लेना, बाजारों में दुकानों के सामने गिरी हुई गोल मिर्च आदि बीनकर और इन सबको बेच-बाचकर गुवारा करना ।<sup>३</sup> सोभी ब्राह्मणों की सन्तान साधारणतया दुराचारी ही निवसनी थी । जोगी-अंगम आदि अन्य भिक्षा-भृति वालों अपवा साधु-संतों को देखकर सोभी ब्राह्मण जल-मुन उठते । घर यही दुराचारी स्त्री-बशीकरण आदि जड़ी-बूटियों आदि की अहरत पढ़ने पर उन्हीं साधुओं, जोगियों-अंगमों आदि को डिल सोलकर देने भी थे । रात को घरों में निकलकर वे..... ओर स्त्रिभारियों के साथ घूमा करते थे । पहरेदार पकड़ सेते तो कुछ

१. 'शुक सप्तनि', ३-४७८ ।

२. वही, २-१४५ ।

३. वही, ४-१०६ ।

ले-देकर उनसे पीछा छुड़ाते थे। इस प्रकार गरीब ब्राह्मणों के बच्चे धावारा हो जाते थे। उन दिनों एक प्रथा थी कि रात में निश्चित समय पर ढोल-उपली बजा दी जाती थी। उसके बाद गाँव की चहारदीवारी का फाटक बन्द कर दिया जाता था। उसके बाद बाहर वाले अन्दर या गाँव के अन्दर जाने बाहर नहीं जा सकते थे। गाँव के अन्दर रात में चौकीदार पहरा देते थे। जो रात के समय घूमता हुआ पकड़ा जाता, सुबह चौपाल में उसकी जाँच होनी और सजा दी जाती थी। धावारा घूमने वाले चौकीदारों को कुछ दे-दिलाकर पीछा छुड़ाते थे।”

### रेड्डियों

रेड्डियों को उस समय की रचनाओं में कुबेर-गुप्तों के नाम से याद किया गया है। उन दिनों राज-दरबार में रेड्डियों की खूब धावा-जाही थी, जिसके कारण समाज में उनका अच्छा मान था। राज मापने की उनकी रीतियाँ भी पण्डित की बनी होती थी।<sup>१</sup>

रेड्डियों के घरों के सामने एक चौरस चट्टान बिछी होती थी। बबूनरे पर बरामदा होता था। घर के चारों ओर एक बड़ी चहारदीवारी होती थी, जो माथारगुनया पत्थर या मिट्टी की बनी होती थी। यह भी नहीं तो काँटे का घेरा होता और फाटक की दीवार पत्थर की होती। एक बैठक भी होती। एक देवता का चौरा होना और बैठक के लिए मल्लशाला का शब्द प्राया है। पर 'मल्लशाला' श्रमिकों के श्रम में भी लिपा जा सकता है। इनके अनावा मुनियों का बाटा और उसके साथ मेती के सामान, खुसा, दराती, रस्ती, बछिये-बछड़े, दुधारू गाय-अँन और उनके लिए एक अनावा, तकड़ी का तब फाटक, पिछाड़े एक बड़ा-या खुसा भ्रमवा यावनी, जिसमें उतरने-चढ़ने के लिए पत्थर की सीढ़ियाँ बनी होती थीं। (दक्षिण में ऐसे हुए ही अधिक पाये जाने हैं। इनमें बिचाई भी होती

१. 'सुक सप्तति', ४-१०७।

२. वही, २-४०६।

है। केवल दोन के कुछ छोटे होने हैं और उनमें सीढ़ी नहीं होती।) पिछ-वाड़े में घान और कठनी की बड़ी-बड़ी टेरियाँ लगी होती थीं। वहीं उन को गट्टियाँ भी घरी रहतीं। एक ओर उपनो का घरीडा जमाया होता। घर में मोचनी और दूध गरम करने का 'नन घून्हा' होता था (जो फर्ग पर छोटा-सा गडा-मात्र होता है। उसमें गोबर के उरने जला दिये जाते हैं और दूध का बगुन चडा दिया जाता है।) यह 'मुक मत्ति' का बगुन है। 'हरिद्वन्द' में लिखा है कि ननी जगह दात्रियों के ठहरने के लिए मंदिर, बीरान पचावनपर, दुकान और छोटे घूने में पुरी बँटके होती थी। बँटके के लिए यहाँ भी जो गद्य 'मल्लगाना' धाया है, उसे प्रताडा क्यों न समझा जाय? 'शरद्वोग' में तो इसका अर्थ मोत्रनालय बताया गया है, जो ठीक नहीं ज्ञेयता। तैमगाने में यह गद्य बँटके के लिए भी प्रयुक्त होता है।

रेडियों की स्थिति जगह के नेत्रों से मवान पर बैठकर मेनों की समझानी करनी थी, और मट्टर बीनकर उनकी शराब बनाती थी। शराब बनाने की नवकी स्वगन्धना थी। दिन में भोजन के बाद वे धरना खाना करती थी। उनके आभूषणों में गले में पोंनों की माला, कान में मोने की धानियाँ, हाथ में कड़े, पैरों में चाँदी के छन्दे, हाथ में नगदार भेंगूडी, निर के धानों में चाँदी या मोने के पंचशर बिन्ने आदि थे। पहनावे के सम्बन्ध में लिखा है कि वे 'कूनमम्मा' की माडी पहनती थीं। 'कूनमम्मा' क्या है? 'कूने' बच्चे को कहते हैं। मलान देने वाली देवी को 'कूनमम्मा' कहा जाता था। दिन स्थिति के बच्चे न होते थे कूनमम्मा की मान बिनाई की छपेद माडी चडावा चडाती थी, और उनी-को प्रताड के म में ग्रहण करके पहना करती थी। 'कूनमम्मा' का प्रचार राजन मीना के अन्दर छद भी है। 'बिजयन्तीमाता' में भी इसका बगुन मिलता है। इनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि तैमगाने में भी



इसकी प्रथा भीजूद थी ।<sup>१</sup>

ब्राह्मणों के सिवा अन्य सभी जातियों में चरखा काता जाता था । (ब्राह्मणों ने अपने को जनेऊ बनाने तक ही भीमित रखा ।) रेड्डी सेनी करते और कपास उगाते थे । इसलिए कताई भी ज्यादा वही करते थे । केवल स्त्रियाँ ही काता करती थीं । पुरुषों को कताई माधी-युग की उपज है । ये विशेषकर दोपहर के भोजन के बाद चरखे पर बैठती और शाम तक काता करती थीं । वे सोलह नम्बर तक का सूत कात लेती थीं ।

'शुक सप्तति'<sup>२</sup> में कताई का विस्तृत वर्णन मिलता है । चरखे में मालशोर, तख्ती, तबिया, तकुआ, खूंटो, पायदान, घुमाने की मुठिया आदि सभी पुरजे होते थे । स्त्रियाँ चरखा कातने बैठती तो बाईं ओर पूनियों का ढेर लगा रगती और दूसरी ओर 'वेपुडु गिजन' खंन का दाना । लकड़ी की मचिया पर बँठी स्त्रियाँ कातती जाती और नामों से नाने जोड़-जोड़कर कुछ गाती भी रहती । बुद्धियाँ बातें करती और झुवती बग्याएँ गाती ।

"रई का काम उठाया" गाना ऐसा मधुर होता, मानो उनके मुख में मधु-धारा बह रही हो । "चरणान्न को पैर से हावती हाथ से पद्ममुखियों ने काता ।" पूनी की ढेरी लगाकर, फगव की अर्घान् कड़वी के डठलों से रई मेंवारती । बते सूत की घुण्डियाँ बनाती चलती । उस समय उन कापु-स्त्रियों को देखकर आश्चर्यान्वित हो जाना पड़ता था ।

मचिया एक छोटी-सी चौकोर चारपाई होती थी, जिसमें निचाइ अथवा दान बुनी होती है । इसमें पीठ भी लगी होती थी, जिससे कामने वाली की पीठ को सहारा रहे । इस मचिता में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ शब्द-कोश में नहीं मिलते ।

### होटल

होटलों की अधिष्ठतर विधवाएँ चलाया करती थीं । उनमें भी

१. 'वैजयन्ती माता', १-३-१०० ।

२. 'शुक सप्तति', २-४२०-४ ।

शास्त्राग्नियों ही अधिक होती थीं। हॉटियों में जगह-जगह और ग्रान्त-ग्रान्त के यात्री, बखि, मायब, व्यापारी और नौकर-चाकर ठहरते थे। 'मिनुकु' (पंगा) देकर गाया-सिया करते थे। कावनीय-काल में ही ये हॉटन प्रायः चोरो तथा व्यभिचारियों के लिए अड्डों का काम देते थे।<sup>१</sup>

### कोमटी (यनिया)

कोमटी को 'गौरा' भी कहा जाता था। यह बात तीगरे अध्याय में आ चुकी है। 'गुरु सत्तति' में बहो-कही इस शब्द का प्रयोग हुआ है। यनियों में अक्सर गुरुओं के नाम 'गौरम्या' और स्त्रियों के नाम 'गौरमा' होते थे। कोमटी स्त्रियाँ वानों में लाने जड़े बगंभूरा और हाथों में बेलदंडु अथवा सीराजी बगन पहना करती थीं। ये कलन या तो सीराज में घाते रहे होने या नमूना सीराजी रहा होगा। माफ़ी प्राय गोपनी (कूनदार) अधिकारी होती थी। व्यापार ही यनियों की विशेष वृत्ति थी। गाधारणतया ये धनी होते थे। हिन्दु बखियों ने उन्हें प्रायः 'लोभी' कहा है। येमुनपादा भीम बखि ने कोमटियों की इस प्रकार गानियाँ गुनाई हैं :

"बया मिला विधाना को कोमटी बनाने में ?

कृमिल है मुठि, भूटी धटा, भूटी धाते,

बपट हनुनि इनकी, घी' लदा परधन पर धाते,

जय में विजय में अंड-अंड दफवाते हैं,

धाने, दान, धोले, जाल, बपट भी लाने हैं,

कोमटी को एक बेके दग तो तो बाप नहीं,

बोप नहीं उगके घर आग भी लगाने में !"

ऐसे भीम बखि पर एक और बखि ने यनियों के साथ वेश्यावृत्ति करने का आरोप लगाया है और यह कहते हैं :

१. 'गुरु सत्तति' १-११६-४६ तथा 'वीरभिराममु'।

इसकी प्रथा मौजूद थी ।<sup>१</sup>

ब्राह्मणों के सिवा अन्य सभी जातियों में चरखा काता जाता था । (ब्राह्मणों ने अपने को जनेऊ बनाने तक ही सीमित रखा ।) रेहड़ी खेती करते और कपास उगाते थे । इसलिए कताई भी ज्यादा बही करते थे । केवल स्त्रियाँ ही काता करती थीं । पुष्पो की कताई गाधी-मुग की उपज है । वे विशेषकर दोपहर के भोजन के बाद चरमे पर बैठती और शाम तक काता करती थीं । वे सोलह नम्बर तक का सूत कात लेती थीं ।

‘शुक सप्तति’<sup>२</sup> में कताई का विस्तृत वर्णन मिलता है । चरमे में मालहोर, तम्बी, तबिया, सकुआ, सूटो, पायदान, घुमाने की मुठिया आदि सभी पुरजें होने थे । स्त्रियाँ चरमा कातने बैठतीं तो बाई और धूनियों का ढेर लगा रखती और दूसरी ओर ‘विपु नु गिजन’ जर्बन का दाना । लकड़ी की मचिया पर बंटी स्त्रियाँ कातती जाती और नामो से माने जोड़-जोड़कर कुछ गाती भी रहती । यूँकियाँ बानें करती और मुबती बन्ग्याएँ गाती ।

“रई का काम उठाया” गाना ऐसा मधुर होता, मानो उनके मुख में मधु-धारा बह रही हो । “चरमास को रैर से दावती हाथ से पधमुशियों ने काता ।” धूनी की ढेरी लगाकर, फगम की चर्यान् बडबो के डठलो से रई नैवारती । कते सूत की पुण्डियाँ बनाती चलती । उन समय उन धातु-स्त्रियों को देववर आदचर्यान्विन हो जाना पड़ता था ।

मचिया एक छोटी-सी चौकोर चारपाई होती थी, जिसमें निचाइ अथवा बान घुनी होती है । इसमें पीठ भी लगी होती थी, जिससे कातने वाली की पीठ को सहारा रहे । इस बबिना में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ शब्द-कोश में नहीं मिलते ।

### होटल

होटलो को अधिकतर बिधवाएँ चलाया करती थीं । उनमें भी

१. ‘वैजयन्तो मासा’, १-३-१०० ।

२. ‘शुक सप्तति’, २-४२०-४ ।

ब्राह्मणियाँ ही अधिक होती थीं। होटलों में जमह-जगह और प्रान्त-प्रान्त के दारो, कवि, गायक, व्यापारी और नौकर-चाकर ठहरते थे। 'मिनुकु' (पैसा) देकर साया-पिया करते थे। काकतीय-काल से ही ये होटल प्रायः चोरों तथा व्यभिचारियों के लिए प्रभुओं का काम देते थे।<sup>१</sup>

### कोमटी (बनिया)

कोमटी को 'गौरा' भी कहा जाता था। यह बात तीसरे अध्याय में आ चुकी है। 'शुक सप्तति' में कही-कही इस शब्द का प्रयोग हुआ है। बनियों में अक्सर पुरुषों के नाम 'गौरम्पा' और स्त्रियों के नाम 'गौरम्मा' होते थे। कोमटी स्त्रियाँ कानों में लाल जड़े बर्णफूल और हाथों में चबददु अथवा शीराजी कगन पहना करती थी। ये कगन या तो शीराजी से घाते रहे होंगे या नमूना शीराजी रहा होगा। साड़ी प्रायः पोप्पली (फूलदार) आँचल की होती थी। व्यापार ही बनियों की विशेष वृत्ति थी। साधारणतया वे धनी होने थे। किन्तु कवियों ने उन्हें प्रायः लोभी कहा है। वेमुलवाडा भीम कवि ने कोमटियों को इस प्रकार गालियाँ सुनाई हैं :

“क्या मिला विधाता को कोमटी बनाने में ?

फुरिस्त है बुद्धि, झूठी धढ़ा, झूठी बातें,

कपट स्तुति इनकी, श्री' सदा परधन पर घातें,

क्रय में विक्रय में झंड़-झंड़ दकवासों हैं,

चातें, छल, धोखे, जाल, कपट भी खासे हैं,

कोमटी को एक देके इस तो तो पाप नहीं,

दोष नहीं उसके घर आग भी लगाने में !”

ऐसे भीम कवि पर एक और कवि ने बतिये के साथ पक्षपात करने का आरोप लगाया है और वह कहते हैं :

१. 'शुक सप्तति' १-११६-४६ तथा 'वीड़ाभिराममु' ।

“वाह भीम कवि, कवि सार्वभौम होके भी  
कोमटी के साथ तूने किया बड़ा पक्षपात !  
यह क्यों कहा कि एक देके दस लिये जायें ?  
एक भी न देके दस लेना, मान मेरी बात !  
धर्मशास्त्र का है आदेश यही धर्म, तात !”<sup>१</sup>

कवि मल्हरा ने एक बनिये के मुँह से कहलवाया है  
“देव-देवियों को नमस्कार हमारे छुँछे,  
पूजा में कभी एक पाई न चढ़ाते हैं  
गायक-कवि आगे बसाव करते हैं तो  
देने के डर से चुपके से खिसक जाते हैं,  
इपर-उधर की कहके सम्बन्धी टरकाते,  
राही-बटोही मुझमे घोखा ही पाते है,  
दास-दासी जन आते, काम कर जाते,  
हम सताते, खटवाते, फूटी कौड़ी न बिछाते हैं !  
बहाराक्षसी हो, डाकिनी हो, शाकिनी हो,  
हम हाथ जोड़ लेते, और माल से न देते हैं,  
बम्हन को गाय, साँप-मक्खनी को घति की  
बलाय कहीं मेरे सिर आये नहीं, छेते हैं  
बाने उड़ जाने के डर कभी न जूटे हाथ  
कौए उड़ाते, चाट-मूट लिये लेते हैं  
तिस पर भी लोग कहें जीने का मोल नहीं  
मूल रहे हम तो श्रावण पर ही जिये लेते हैं ।”<sup>२</sup>

परन्तु ऐसी कविताएँ कुछ पक्षपात में भरी हुई हैं। भववि तिल्लिया  
के समान दानी बनिये भी कई थे।

इंधन की बिक्री भी उन दिनों हुष्या करती थी। इंधन के गट्टर पर

१. ‘चाटुपद्यमजरी’, १०१-२।

२. ‘मल्हरा चरित्र’, पृ० २, पृ० ३५-६।

सरकारी चुङ्गी लगती थी। चुङ्गी भर देने पर ही कुल्हाड़ी के साथ जंगल में घुसने की अनुमति मिल सकती थी। एक लकड़हारे का वर्णन मुनिये :

“कमर में लंगोटी है, लंगोटी की अंटी में चुङ्गी की कीड़ी है,  
कंधे पर धनी कुल्हाड़ी है और जाल की एक छोटी-सी तौड़ी है,  
जाल के उस धंले में रोटी और पानी की तुम्बियाँ हैं लौकी की,  
जंगल को लपका बड़ा वह लकड़हारा, मजबूत चप्पलों की जोड़ी है।”<sup>१</sup>

### वेदया

वेदयाएँ युष् और सनीचर को मिर और सारे शरीर में तेल मलकर सिर-स्नान करती थी। चिकनाई को हटाने के लिए उड्ड के घाटे की उबटन मलती थी। सिर के बालों में नींबू और सीकाकाई का प्रयोग भी करती थी। फिर बाल साफ करके नये या घुने कपड़े पहनती और साभूपण आदि मँवारती थी।<sup>२</sup> गरीब लोग चिकनाई को दूर करने के लिए अम्बली अथवा गटका मलते थे।<sup>३</sup> पानी में आटा घोलकर घरेलू गमीर के साथ गटका परोया जाता है। (गरीब लोग दोनों जून इसीसे पेट भरते हैं।) वेदया मुवतियाँ पहले मंदिरों में भगवान् के सामने नाच-गाना करने के बाद ही उसे अपना पेशा बनाती थी।

“औँही पिटी नगर में : ‘नलिगुस्तल पुष्पगंधी’

प्रथम बार शिव के आगे नाचे-गायेंगी !”<sup>४</sup>

वेदयाओं के दायनागार अत्यन्त आकर्षक होने थे :

है दिवार का पनँग, सेज फूलों की है,

रेशम के तकियो, सोने की भागफनो,

१. ‘शुक सप्तति’, ३, २४५।

२. ‘संजयंती विलासम्’, ३-५१।

३. ‘शुक सप्तति’, २-३७८।

४. ‘मल्हण चरित्र’, पृ० ३१।

कांसे की समई, दीवट, गजदंत की  
मुण्ड खड़ाऊँ की जोड़ी मनभावनी,  
ऐसी सज्जा होती है रतिधाम की ।”<sup>१</sup>

### गर्मियों में गहगीरों की यातनाएँ

जो लोग गर्मियों में यात्रा पर निकलते थे, वे यात्रा की बठोरता कम करने के लिए अपने साथ में वे सामान रखते थे—गाँठ में इमली और दक्कन, कंधे पर दही-चावल की गठरी, जिममें इलायची, गोल-मिर्च, पदरक, सोंठ और नमक पड़े होते थे। सिर पर करज का पत्ता बांधे रहते थे। इस पत्ते की तामीर ठंडी होती है, लू नहीं लगती। दाहिने हाथ में पानी की खुटिया, दूसरे में पत्ता। दोनों पैरों में भठवूत चप्पलें। (चप्पल के लिए जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे ऐसा लगता है कि जिस प्रकार घोंगरमें में बारह बंद होते थे, उसी प्रकार चप्पलों में भी तल्लो में कुछ चाम के डोर निबल रहे थे, जिनको पाँवों में बस लिया जाता था।) इस प्रकार यात्री कड़ी धूप में बक-बककर ऊब-ऊबकर चला करते थे। करज का पेट हर जगह नहीं मिलता। दक्षिण में तडवड का पीछा बहुत होता है। गंतो में काम करने वाले मजदूर धूप में इसकी पत्ती सिर पर बांध लेते हैं। इसमें भी लू नहीं लगती। इस पक्ष में कवि का स्वानुभव अथवा लोकानुभव टपकता है। कुछ भले लोग रास्तों में प्याऊ बनवा देने थे, जिनमें पानी के साथ बड़ी-बड़ी गाने की बीजे भी दी जाती थी। इन प्याऊओं पर पानी पिलाने वाली स्त्रियाँ होती थीं। कविर्षों ने इन स्त्रियों को ‘प्रशानिका’ कहकर इनका सुन्दर वर्णन दिया है, और कुछ छंद-छांद भी की है। एक कवि कहता है—

“काम अहेरी ने प्याऊ पर छड़े भर रसे  
पास बिछेर दिया प्रपातिषाणों का चारा,

१. ‘शुरू सप्तति’, ४-२२। दे० ‘मल्हण चरित्र’, पृ० ४६ भी।

जाल चिढ़ाये उनके नैनों की चितवन के

बचता हिरन बटोही भी बर्योकर बेचारा ?”<sup>१</sup>

इसी प्रकार वर्षा-काल के यात्रियों का भी वर्णन मिलता है :

“कैसे कीच में भून राहें, पुकारा किया—

जानकारी किसी और को हो, बता दे

निम्नी राह तो वर किसले कि काली मिली राह माटी,

नजर भी घटा दे

गई सामने के भकोरे पड़े जब, त्रिबट शीशों के, भुजाना पड़ा तिर;

लिया आसरा पेड़ का, पर बरसने लगा मेंह चमत ही वह आप  
हिर-फिर,

न ‘गूडा’<sup>२</sup> किसी काम आया, न ही चप्पलें पाँव से हाथ में आ—”<sup>३</sup>

### ताबीज

ताबीजों का प्रचार आभूषणों के रूप में हो गया था। गले में ताबीज  
बमर में ताबीज, कलाई पर ताबीज, बाजू पर ताबीज, यहाँ तक कि  
भिर के बालों का भोंटा बांधकर उनके चारों ओर ताबीजों की माला  
सपेट दिया करने थे।<sup>४</sup>

### राजा का शिकार

राजा जब शिकार करने चला तो नौकर-चाकर तरह-तरह की  
शिकार-सामग्री साथ लिए चलने थे। कुछ सामान ये हैं—जाग, फंदे,  
तिरछी लकड़ी, शूकरमोंक, परदे, कसदार रस्से, पिंजड़े, पाँव के फंदे,

१. ‘चंद्रभानु’, १-१६१-२।

२. ‘गूडा’ = सरपत की धनुरी, छान-सो, दे-शे अटाइयाँ जोड़कर  
बनाते हैं।

३. ‘चंद्रभानु’, ५-३६।

४. ‘शुक्र सप्तति’।



गले के कांटे, बंसि, गोरकल, तेरल, मिडिविल, बडगुल, सींग, पादु, बल्नेताड (ऐंठो हुई रस्सी), छड़ों की टट्टी। हिरन के लिए सींग की फाँसी लगती थी। बाज भी साप रखते थे। चार-पाँच प्रकार के घनग-घलग जाति के शिकारी कुत्ते भी साप रहते थे। कुत्तों के नाम पुट्टचड्ड, चिम्बोनु, तुपाकी, तुटारी, लकोरी आदि थे। शिकारी बोशाक में सारा राज-परिवार चल पड़ता।<sup>१</sup> 'साम्बोपाख्यान' में ऐसे वर्णन मिलते हैं।<sup>२</sup> 'शुक सप्तति' के चन्दर दूसरी कहानी में शिकार का विस्तृत वर्णन है।

### घड़ी-घण्टा

घड़ी-घण्टे का प्रचार काफी था। चौपाल पर, राजमहल के फाटक पर घड़ी के हिमाब से घण्टे बजाये जाते थे। 'साम्बोपाख्यान'<sup>३</sup> के अनुसार दोषहर का घण्टा 'महासज्जलाय' के साथ बजा। इससे विदित होता है कि उस समय ये काफी थे।

### तेलुगू पर तमिल का प्रभाव

वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ-साथ ग्राम्य देश में उस सम्प्रदाय की जन्मभूमि तमिलनाड के शब्द भी आ गए। उन शब्दों को धार्मिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। ग्राम्य के वैष्णवों में भी आज विशेष वस्तुओं के लिए विशेष तमिल नाम ही बोले जाते हैं। जैसे तिरुवट्टे (भाइ), तिरुमाले (मन्दिर), तिरुवजन (स्नान), तिरुवेणुनु (दिया), तिरुपण्णारम् (पुरी), तिरुमणि (तिलक), सापाट्टु (भोजन) इत्यादि। यदि ऐसे शब्दों का प्रयोग न करें तो समझा जाता है कि उनका वैष्णवत्व घपविघ्न हो गया, वैष्णवत्व ग्राम्य के लिए तमिल दामता तो नहीं?<sup>४</sup>

१. 'घट्टमानु', २-२१, २४।

२. वही, दे० आश्रय २, पृष्ठ ३-२५।

३. वही, २-४८।

४. 'वैजयन्ती माता', २, १०५, १२०, १३१।

‘विजयनगराधर चरित्र’ तेलुगू भाषा की पुस्तक है। फिर भी उनमें बहुत नारे उल्लिखित शब्द प्रयुक्त हैं। जैसे—विजयनगर, विजयनगर, विजयनगर, पंथा दडा, (५, ८, १०)। श्री वैष्णवों के लिए गडगडा, निरुमणि पेटा, विजयनगराधर (दलिया), कादिवेष्टि (घोड़ी), हिरन का चमड़ा ठण्डागुडु, कंगुलु, तुलसीनाला, दविचम, कुमान्नरराम् आदि विशेष सामान हैं। उल्लेखित दविचम उल्लेखित है। इसमें से यह ‘चरित्र’ है, जिनके माने हैं हिरन के चमड़े से बना हुआ पंखा।

दासरी नानों की योगांक में चानों कहेंगे और उस पर धूँधट से ढकी ‘पंक मुद्रा’ का उल्लेख है।<sup>१</sup> ‘पंक मुद्रा’ शब्द-योग के अन्दर नहीं है। किन्तु एक दूसरे कवि ने दासरी नानों का वर्णन इन प्रकार किया है :  
 ‘घोड़ी धूँध और उसे सोरे से कसकर !’  
 सम्भवतः यही पंक मुद्रा है।

### पान और पानदान

पान पाने वाले पानदान भी रखते थे। पानदान चाँदी, पीतल या ताँबे के होते थे और उन पर उनमें ऊँची धातु से जानी का काम किया होता था। कसके को केवड़ा जल के साथ पीनकर पोतियाँ बनाती जाती थीं। कस्तूरी और कपूर भी पान में पड़ते थे।<sup>२</sup>

पनी लोग धनेनी के तेल की सिर में मलने और उड़द के आटे से रगड़कर स्नान करने में।<sup>३</sup>

### ‘मच्छली-मार’

‘मच्छली-मार’ एक दवा होती थी। एक जंगली पेड़, जिसे ‘मार’ कहते थे, उसे पीनकर नानों, ताँबाओं और कुम्हों में डालने पर मारी

१. ‘विजयनगराधर चरित्र’, २-८७।

२. ‘मच्छली-मार’, १०-४१।

३. ‘वैष्णवों की ज्ञानात्म’, ४-१६।

मछलियाँ उसके अंगर से भरकर पानी पर तैरने लगती थी ।<sup>१</sup>

### पुरस्कार

पण्डितों, विद्वानों, कवियों, नर्तकों, गायकों तथा वेद्यों की कलाओं में प्रसन्न होकर राजा उन्हें पुरस्कार दिया करते थे । वस्त्र, धातूपण के साथ ११६ या १११६ 'बरहा', 'माडें' आदि पुरस्कार में दिये जाते थे । एक सौ मोतह की सख्या की क्षुभता तेलुगू की एक प्राचीन परिपाटी है ।<sup>२</sup>

### भोजन

पिछले अध्यायों में भोजन के विषय में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है । उस समय भी वही भोजन प्रचलित थे । 'साम्बोपाख्यान' में लिखा है कि भोजन के समय माले-गहनोई आपस में व्यंग्य किया करते थे ।<sup>३</sup> भोजन के समय पहले धी तथा अन्य भीठे पदार्थों से चावल खाने थे । उसके बाद पतली दाल अथवा 'रसम'-जैसी पतली बीजों के साथ खाने थे । और अन्त में दही-चावल खाने थे । माराहारी लोग माम खाने तथा मास का शोरबा आदि पीते थे । गेहूँ के आटे, दाल और धी के साथ 'कुडुमुलु' आदि अनेक भक्ष्य पदार्थ बनाये जाते थे ।<sup>४</sup>

'शिवरिण्णी' की प्रशंसा भी आती है । लेकिन शब्द-बोझ में इसके अर्थ गलत हैं । 'विक्रमावर्दीय' के तृतीय अंक में लिखा है कि "अहमपि यदा शिवरिण्णी रसान्ध्रं न सभेत वेतत् प्रारंभमानः संकीर्तयन्नाङ्गसिभिः" (मुझे भी जब तक शिवरिण्णी और भीठे आम न मिले तब तक मेरा मन नहीं भरता है.....) । इस शिवरिण्णी की व्याख्या रमनाथ पण्डित ने दी है :

१. 'नंजयन्ती विलासमु' २-१४० ।

२. यही, १-१३२ ।

३. 'साम्बोपाख्यान', अ० ५-२१६, ३०३ ।

“एता त्वंग कर्पूरादि सुरभि द्रव्य मिश्रितम् बाधेन सह गलितम्, सिता संगतम्, दधिशिखरिणीत्युच्यते दध्यतिरिवत पूर्वोक्त द्रव्यमिश्रितः पक्व कदली फलम् तत्सारोऽपि तत्पदवाच्यः !” अर्थात् इलायची, लौंग, कपूर आदि सुगंधित वस्तु दूध या दही में मिलाकर, शक्कर के साथ कपड़हन करके शिखरिणी तैयार की जाती है। दही की जगह पके केले के गूदे के सत को मिलाते से भी शिखरिणी बनती है। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस शिखरिणी को भिन्न-भिन्न पद्धतियों से बनाते हैं। महाराष्ट्र में दही को कपड़े में बांधकर लटका देते हैं। पानी सारा निचुड़ जाने के बाद एक बड़े भगोने के मुँह पर कपड़ा बांधकर उसमें दही को छोड़ देते हैं और शक्कर, इलायची, लौंग, जायफल, जैतरी, केसर आदि मिलाकर कपड़े में छानते हैं। यही थ्रीस्त्रण्ड कहलाता है। रायल सीमा और तेलंगाने में अमरस में उक्त भुगन्धियाँ मिलाकर उसे थ्रीस्त्रिणी कहते हैं। ‘वाल्मीकि रामायण’ में<sup>१</sup> कहा है “रसातस्मदध्नः”। भारद्वाज ने जब रामचन्द्र जी को भोजन करवाया तब उसमें यह भी था। व्याख्याताओं ने कहा कि दही को मिर्च, सोंठ, अदरक, जीरा आदि डालकर छोक दिया गया था। वह भी शिखरिणी ही तो नहीं थी? अम्बली अथवा गटका नाम पहले कई बार आया है। घाटे को पानी में पतला पकाकर गरीब खा लेते हैं, यही अम्बली है। पर ‘पादुरंग माहात्म्य’, ‘साम्बो-पाभ्यान’ और ‘ग्रामुक्त मान्यदा’ में भी दावत की सामग्री में ‘अम्बल्लु’ (‘अम्बली’ का बहु वचन) का प्रयोग आया है। यह जवार या रागी की अम्बली नहीं, बल्कि खीरे की जाति का कोई लेह्य पदार्थ है, जिसमें इलायची आदि मिलाने की बात भी कही गई है।

खड़ाऊँ भी कई तरह की बनती थी। वैष्णवाचार्य चदन की खड़ाऊँ पहनते थे।<sup>२</sup> राजा हाथी-दाँत की खड़ाऊँ पहनते थे।<sup>३</sup>

१. अयोध्या कांड, श्लोक ६१-७।

२. ‘विप्रनारायण चरित्र’।

३. ‘शुक सप्तति’, १३-७०।

## ओली अथवा मेहर

‘ओली’ एक प्रकार का स्त्री-धन है। वनियों में इसकी प्रथा अधिक प्रचलित थी। एक वनिये ने कहा है कि “मैंने अपनी पत्नी को १०० माँड की ओली दी।”<sup>१</sup> शूद्रों में साधारणतया १० माँड ओली में दिये जाते थे।<sup>२</sup>

## मालिश

तेल की मालिश करके जीविका कमाने वालों की एक जाति थी। एक कविता है

“मालिश करने घर-घर जाकर  
खेत-खेत की बौड़ लगाकर  
साग-पात चुन लाता,  
उत्तरन के फटे-चिटे कपड़ों को  
बेलटके वह सगे सगों को  
दाँत निपोर दिखाता,  
नित्य किरण से पहने जाकर  
नित्य किरण से पीछे आ घर,  
रात का रसता नाता”-----<sup>३</sup>

## कालीने, कनातें

धनी कान्नीनों पर बैठा बरने थे,<sup>४</sup> सदियों में ‘मुनीम’ (मुनायम ऊनी चादर) ओटा करते थे।<sup>५</sup> ये शब्द कोन में तो नहीं हैं, किन्तु

१. ‘शुक सप्तति’, २-६१।

२. वही, ३-१३६।

३. वही, २६२-३।

४. वही, १-२६२।

५. वही, २-२६-६३।

तेलगाने में अब भी कहीं-कहीं प्रचलित हैं ।

व्यभिचार, चोरी, नीच जाति के साथ खाने-पीने या नाता जोड़ने आदि के अभियोग में लोगों को विरादरी से निकाल बाहर किया जाता था ।<sup>१</sup>

मुद्र रोकने अथवा मुलह करने के लिए हारने वाला पक्ष 'धर्मदारा' धारण करना था, अर्थात् नारसिंघी बड़ाशा था । इस पर दोनों पक्ष मुद्र रोक देते थे । 'क्रीडाभिरामम्' की भांति 'शुक सप्तति' में भी :

“विरही ने ....”

धर्मदारा की तरह की मुर्गे की बांग सुन,

सबेरा होने की सूचना पाई !”<sup>२</sup>

मजाएँ

कृजंदारों के बारे में पहले कह चुके हैं कि उन्हें धूप में खड़ा कर दिया जाता था । इसे 'पोगड दड्ड' कहते थे ।<sup>३</sup> धूप में खड़े अपराधी के चौगिर्द, जमीन पर लकीर खींच दी जाती और वह दिया जाता कि उसमें बाहर न रहे ।<sup>४</sup>

थोरो को पकड़-पकड़कर एक बत्ती के साथ खड़ा किया जाता था और उनके हाथ-पैर, उस बत्ती में लगी दो-दो सूत्रियों के छेदों में उतार-कर बम दिने जाते थे । और फिर धून में खड़ा या पड़ा डाल दिया जाता था । इसे 'बोंडाकोम्मा' कहते थे ।<sup>५</sup>

मुहागिन के मरने पर कहा जाता था कि वह कठे के साथ स्वर्ग मिथारो ।<sup>६</sup> उस कठे की इतनी ऊँच थी कि पुरुष के दूसरी शादी करने

१. 'शुक सप्तति', २-१३६ ।

२. वही, ३०३ ।

३. वही, २-१६ ।

४. 'वंजयनी विलासधु', २-२४३ ।

५. शुक सप्तति, ३-२०४ ।

६. वही, ३-३३७ ।

पर, नई स्त्री के दाहिने हाथ में एक पतला कड़ा पहना दिया जाता था, जिस पर दो बिंदियाँ बनी होती थी।

नम्बी जाति के वैष्णव मंदिरों के पुजारी होते थे। वे अपने घरों और मंदिरों में पीले, लाल और उजले कनेर लगाते थे। वे लोग उनके फूल धनी स्त्रियों के घर पहुँचाकर बदले में कुछ पा जाते थे। “ग्राम-नम्बी को आलस्य देकर फूल मँगा लेना” अथवा “पके बामों में नम्बी के फूल गूँथना” आदि उक्तियाँ इस बात की सूचक हैं कि नम्बी का पेशा फूल पहुँचाना ही था।<sup>१</sup>

सतो-यतियों के जीवन के सम्बन्ध में कहा है :

त्रिकाल-स्नान, इष्ट पूजन, ध्यान-मनन,  
पोषी-पठन, भीख का भोजन औ' हरं का सेवन,  
मृगद्वाला-अपन—यती के लक्षण ।<sup>२</sup>

यहाँ पर हरं खाने की बात आ गई है। आयुर्वेद में हरं को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। “दसमाताहरीतकी” (यस्य माता गृहे नास्ति, तस्य माता हरीतकी) आदि उक्तियाँ इसकी प्रामाणिकता को धोषित करती हैं। हरं बड़ी लाभदायक वस्तु है। कहते हैं कि शक्र की चागनी से हरं का मुरब्बा तैयार करके, रोज एक हरं के हिमाय से छ' मास तक खाते जायें तो सिर के पके बाल भी काले पड़ जाते हैं। पर यह भी कहा गया है कि यह पुनर्व के लिए हानिकारक होती है। यही पर यति का हरं-सेवन कदाचित् इसीलिए हो।

ब्राह्मण के घरों में दूँटीदार मोटे होने थे। ‘द्वारावतिगलति’।<sup>३</sup> आज-कल ब्राह्मण लोग मिट्टी के बरतन नहीं चरतते। वेद-काल में मिट्टी के बरतन ही अधिक होते थे। ‘मृणममृदेवनाग्रम्’ (देवताओं के बरतन मिट्टी के होते हैं।)। आज तक शुभाशुभ कार्यों में मिट्टी के पात्र ही के बरतने

१. ‘शुक्र सप्तति’, २-४३५, ४८७।

२. वही, ३-५४५।

३. ‘पांडुरंग माहात्म्यम्’।

की विधि चली आ रही है। तेनानि राजकुमार के समय में ब्राह्मण-धरो में कोई अधिकतर मिट्टी के पात्र में ही बनती थी। किसी ब्राह्मण के घर कोई ब्राह्मण अतिथि पहुँचा। ब्राह्मणी ने दरतन भरकर पकाया और उसके आगे घर दिया। भूखे अतिथि ने मारा भोजन सफाचट कर डाला। तब ब्राह्मणी ने अपने पति के लिए, जो गाँव से बाहर कही गया हुआ था, मिट्टी के एक बरतन में जो लाना रख छोड़ा था, उसे भी मिट्टी की एक रखावी में गाँवर उसके आगे परोस दिया था।<sup>१</sup>

निगम शर्मा की गणना आन्ध्रों में की जाती है। उनकी बहन ली पक्की आन्ध्राणी थी। उसकी समुराल आन्ध्र में थी। इनके पिता कलिंग देश के अन्तर्गत पीठिचापुर के एक प्रनिष्ठित व्यक्ति थे, किन्तु निगम शर्मा ने व्यक्तिचारी बनकर अपने पिता की सारी सम्पत्ति बरबाद कर डाली थी :

“दिन-भर के लच के लिए वह अपने शरीर पर के सोने-चाँदी के गहने ‘वस्त्रि’ नामक स्त्री के घर रहन रख देता। माता के शरीर से भी रोज थोड़े-थोड़े करके सारे गहने लेकर खरब डाले। पिता के कागज-पत्र भी बुरा-बुराकर बेचता रहा और उनसे साहूकारों से ध्याज पर रुपये ले-लेकर कर्जदार बन गया। खेतों की टेके पर दे डालता। अपने बेटे निगम शर्मा की यह दशा देखकर पिता व्याकुल हो उठते कि न जाने उसकी क्या दुर्गति होने वाली है !”

उन दिनों ब्राह्मण-धरो में प्रायः पुस्तकालय होने थे। हर्ष ने अपने ‘नैपथ्य’ में भी इनकी चर्चा की है। ‘भूखान्ध रूपपतिनादिव पुस्तकालाभू’ (मूल रूपी अनेरेकृष्ट में पुस्तकों के पड जाने के समान.....)। निगम शर्मा की बहन अपने पुस्तकालय की अपने पति के द्वारा दूनरो की दिये जाने, जल जाने, खुन जाने, कीड़ों द्वारा खाये जाने या माँग ले जाये जाने आदि उपद्रवों से बचाये रखती थी। ताड़-पत्तों पर लिखे ग्रन्थों के लिए अग्नि, सिपिलता, कीड़े और माचक मुख्य शत्रु हैं। एक दिन निगम

१. ‘षाण्डुरग माहात्म्यम्’, ४-१७२।



सर्मा भोजन के लिए वहन के पास गया। वहन ने अपने बच्चे को भाई के हाथ में देते हुए कहा कि कहीं जाते हो, भानज को गोद में ले लो, वहनोई के साथ भोजन कर लेना ! खाने के बाद जब उसके छोटे-बड़े बच्चे चारों ओर से उसे घेरकर गडबड कर रहे थे, तब वह अपने भाई के पास जा खड़ी हुई और उसके सिर के बालों का शिवा-बन्धन खोलकर स्नेह-सौत्कार के साथ जूँघों के घण्टे परत-परतकर निकालने लगी। निकालती जाती और झूँघों के नाखूनों के बीच दबाकर फोड़ती जाती। फिर अपनी घँगुलियों के नाखूनों के सिरों से कपा करके उमरने वालों को फटकार दिया और गले के मँस को मल-मलकर निकाला। फिर मूब मल-मलकर उसके हाथ धुलाये। इतने में भावज भी आ पहुँची। एक हाथ में पान का बीड़ा बसाते हुए वह दूसरे हाथ से स्वर्ण-रचित पत्ता भलती रही। नौकरानी ने पीड़ा सा रसा और वह उस पर बैठ गई। उस समय वह ऐसी लगती थी, मानो पद्मरङ्गिका पर साक्षान् लक्ष्मी जी विराज रही हो। उसकी गोदी का बच्चा दाहिनी ओर जरा निरछा बैठा माँ के स्तन से दूध पीने लगा। धीरे-धीरे वह कमलनयनी अपने भाई में बहने लगी : “क्यों भैया, जिस वेदाध्ययन का लूने अभी-अभी आरम्भ किया है, उसमें यहीं बाधा न हो, आपद इसी विचार से तेरा इधर धाना-जाना बन्द हो गया है। कितने दिन बीत गए, तुझे देखने को आँखें तरसती रहती हैं। कमल के सधान, मेरे यह जपन रोते-रोते सूज गए हैं। तुम्हारे वहनोई भी तुम्हारे आगमन की कामना करते ही करते रहते हैं, जैसे समुद्रराज चन्द्रमा के आगमन की।”

इस प्रकार निगम सर्मा की वहन अपने भाई के दुराचरण में मतल-हृदय होकर बहने लगी :

“भैया ! बगमगाकर चलनेवाले माता-पिता, चल न पाने वाले छोटे-छोटे बच्चे, यह नई दुलहिन, ये बेजुबान गौएँ, नौबर-चाकर, तुम्हें छोड़कर और कहीं जाये ? इन सबका भार तुम्हारे सिर है। टोक उसी प्रकार जैसे महाभारत की सारी कहानों कर्ण (कुन्ती-पुत्र) पर निर्भर है।”

इसी प्रकार उस बहन ने भाई निगम को करणा-भरे अनेक उपदेश दिये । सारा-का-भारा प्रकरण उस समय के ब्राह्मण-कुटुम्ब का सुन्दर वर्णन है । 'निगम शर्मा उपाख्यान' उत्तम कौटि का समोपेत ग्रन्थराज है । यह हमारे सामाजिक इतिहास के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।<sup>१</sup>

साँप के डंसने पर जहर उतारने के कई उपाय थे । साँप ने शरीर के जिस भाग पर काटा हो, वहाँ छुरे में घाव लगाकर रक्त बहा देने थे । घावों में पानी भर-भरकर मन्त्रों का उच्चारण करने जाते थे, इत्यादि इत्यादि ।<sup>२</sup>

वैकटनाथ के इस 'पंचतन्त्र' में अनेक ऐसे विषय हैं जो मूल मसूक्त 'पंचतन्त्र' में नहीं हैं । इन्हीं नये विषयों की कुछ चर्चा यहाँ पर करेंगे । जाहो में लोग कैम निवाह करने थे, इसका बहुत अच्छा वर्णन वैकटनाथ ने किया है । कहते हैं : "बाड़े के आगमन पर पान, सोंठ, अमरपूप (सोधान) कम्बल और मोटी चादरें सोपों को प्रिय हो उठती थीं । कोदों का भात, सूखी फली की तरकारी, गाय का घी और बही-भात साथ बांधकर रेड्डी खेत जोतने चले ।"<sup>३</sup>

'वैदिकी ब्राह्मणों' अर्थात् पुरोहिताई करने वालों के सम्बन्ध में वैकटनाथ ने लिखा है कि (वे) "घुन्टदार छोटी बांधे, घुला हुआ उजला उपरना छोड़े, माथे पर गोपी-चन्दन लगाये और छोटी में फूल गूँधे (होते थे) ।"<sup>४</sup>

गहरिये के जीवन के सम्बन्ध में वैकटनाथ ने मूल विस्तार लिखा है—“गहरिये के पास भेड़ों का गत्ता, गाय-बैल का बाड़ा, अनाज की सत्तियाँ और घास की टालें हुंघा करती थीं । गहरियों के चौपरी 'घोया' कहलाते थे । गहरिया नये तल्ले लगी पुरानी चरपलें पहने, गटके

१. 'पाण्डुरंग माहात्म्यम्', अ० ३ ।

२. वैकटनाथ, 'पंचतन्त्र', ११६-१२० ।

३. वही, १-६८६-८ ।

४. वही, ५-२४४ ।

का मटका तिर पर लिये, सेंगोटी लगाये, कमर में कटार खोसे, मनको की करधनी बांधे, गुलेल और दूध की बहेंगी के साथ कंधे पर कम्बल लटकाये, बाँसुरी धरे घर की ओर चला ।”

उस समय निगार्ड वाड के पत्नी शय्या कागज पर हुमा करती थी । पुराने जमाने में कई कागज एक साथ लांबालांबी जोड़कर लिपते जाते और गोल लपेटकर रख देते थे, यह लपेटा दस-बीस हाथ तक की लम्बान का भी हो सकता था । (आजकल भी उत्तर भारत में जन्म-पत्री इसी प्रकार लिपते हैं ।) कागज के प्रतिरिक्त टाट के टुकड़ों पर भी लिखा जाता था । बर्निये अपने हिसाब इन्हीं टाट-पट्टियों पर लिख लिखा करते थे । ‘पादुरग माहात्म्यम्’ के टीकाकार ने टाट की पट्टियों का ब्यौरा दिया है । पिछले अध्याय में हम बता आए हैं कि लेलताने के महबूबनगर जिले में चालीस-पचास वर्ष पहले तक बर्निये मुकद्दे जोड़कर कोयली और पत्ती के रस में उसे कासा करके उस पर सेलम सरिया की बत्ती में धरना हिमाब-किताब निष्ठा करते थे । पाँच-सात दफ्तियों को जाली की सिलाई से इस प्रकार जोड़ दिया जाता था कि वे सब एक ही दफती के बराबर पुस्तक के रूप में रने जा सकने में और राखी का काम देते थे । लगभग सन् १६२० ई० तक इस प्रकार की दफती-बही हैदराबाद राज्य के बर्नियों के पास रहती थी । बड़े-छूटों से पूछ-ताछ करके जो-कुछ हम जानूँ कर सके, उसके अनुसार टाट या दफती की बही इस प्रकार तैयार की जाती थी—

दो मोटे-मोटे कागज एक कपड़े के दोनों ओर गोंद या लेई से चिपका दिये जाते । दफती पर कागज के चिपकाने की आवश्यकता नहीं थी । पहले उसे कोयले से कासा किया जाता, फिर पत्ते, विशेषकर भृंग-राज के पत्ते से रगड़ा जाता । उस रस में कुछ गोंद भी मिला देते थे । भृंगराज के पत्ते न मिलने पर तुरई, धनूरा आदि जंगी भी बेल या पीपे की पत्तियाँ रगड़ दी जाती थी । इस प्रकार कई बार कोयले और

पत्ते रगड़ा करने थे । इससे उस पर एक काला सेप-सा चढ़ जाता । धूप में उने खूब मूला लेने के बाद उस पर सेनम खरिया की मोटी-मोटी बतियों से लिखा जाता था । मिटाना हो तो फिर वही कोयला-पत्ता रगड़ा करने थे । अब तो टूटने-फूटने वाली सनेटें चल पड़ी हैं । विद्यार्थी पुराने जमाने में चौबी तख्तियों पर लिखा करते थे । उन तख्तियों पर भी कोयले और पत्ते के रस आदि को रगड़कर मला जाता था । आजकल दस्तियों की बें बहियाँ या चौबी तख्तियाँ एकदम गायब हो चुकी हैं । 'पादुरंग माहात्म्यम्' में इनके तीन-चार नाम दिये हैं । जैसे पोषा, कडितम्, कलितम्, कविले आदि ।<sup>१</sup>

इस सदी के पहले भाग में चौबी तख्तों की सम्झाई चार या पाँच फुट, चौड़ाई एक फुट और मोटाई मक्का इंच के लगभग होती थी । धूप एकदम न निकलने पर पत्ती रगड़ने के बाद उस पर फिर कोयला रगड़ देने थे । इसमें किना मूखे भी अक्षर उठ आते थे ।

गुट्टियों का खेल औरतो का हो या । आज भी उन्हीका है । पाँच-छः गुट्टियों को हाथ की अंगुलियों पर उल्टे-सीधे झेककर यह खेल खेला जाता है ।<sup>२</sup>

'बैजयन्ती' में बाजी बदकर नेनते के कुछ खेलों की चर्चा है । ऐसे खेल विशेषकर बेदयाओं के घरों पर हुआ करने थे । कुछ लोग मुरगी के मंडों की बाजी पर लगाते थे । कुछ मुरगों की बाजी लगाते थे । कुछ पैसा ही लगाकर मेला करने थे । कई गधों को एक-साथ गद्दा बांधकर एक ही बार में सबको तोड़ दिया जाता था । कुछ खाने की चीजें रख दी जाती । नियत स्थान को छूकर आने से पहले दूमेरा उसे खा जाता था । खा न सके तो हार मानता था ।<sup>३</sup>

गडरिये दून-पूमकर दूध-दही और घी बेचते थे । 'शुक सप्तति' के

१. 'पादुरंग माहात्म्यम्', ५, ७४, ८०, ८१, ८२ ।

२. 'साम्बोपाख्यान' ।

३. 'बैजयन्ती', ३-६६ ।

अनुसार कुछ गड़रिनें दूध-दही बेचने का वहाना बनाकर अपने प्रेमियों की घात में निकल पड़ती थी ।<sup>१</sup>

### खेती तथा व्यापार

राजा ही नहीं, उनके मंत्रीगण तथा उनकी पत्नियाँ भी तान्त्रिक अर्थात् बाँध बँधवाती थी । गुठूर मंडन में लकायल पांडु गाँव में गोपीनाथ-समुद्र के नाम से एक तालाब है, जिसे मंत्री रामय्या भास्कर की वहन विघ्नान्दा ने बँधवाया था और वहाँ एक शिला-शासन (सन् १४६२ ई०) भी स्थापित किया था ।<sup>२</sup>

उसी प्रकार १५२७ ई० में कडपा जिले के सिदपट्टम नामक गाँव में मट्टला अनंत भूपाल ने एक तालाब बनवाकर एक शिला-लेख स्थापित किया था ।<sup>३</sup>

श्रीमान् पन्जी रामकृष्ण शर्मा ने कन्नूल जिले के पेदाबेलगल्लु के धर्मप्रा नामक पटवारी के यहाँ से ताम्र-पत्र प्राप्त करके लगभग चालीस वर्ष पूर्व वनस्पति से उसे प्रकाशित किया था । उस ताम्र-पत्र से उस समय खेती की विधियों तथा आयागार और भीरासों की व्यवस्था का ध्यौरा मालूम होता है । उस ताम्र-पत्र के खास-खास विषयों को उद्यो-का-र्यों नीचे दिया जाता है :

“शालिवाहन सम्बत् १४१४ में श्री कृष्ण देवराय के साथ आये हुए मुम्मडो रेड्डी नायक आदि सरदारों को दो गई भीरासों का ध्यौरा—गड़रियों के पालेगार बन जाने से दुर्गों की गतिविधि अच्छल हो गई थी, और घोर उग्रद्वय मचा रहना था । आप लोगों ने उन पर विजय प्राप्त की है । इसलिए चेदबेलगल्लु से लेकर चामल गूरा, कम्मल पांडु, तिम्मन दोड्डी आदि सोलहों स्थान आपके हो चुके हैं । अतः इन

१. ‘शुक सप्तति’, ३-५४० ।

२. ‘शासन पद्य मंजरी’, शासन संख्या ८०, पृष्ठ १०३ ।

३. वही, शासन सं० २४, पृष्ठ १०६ ।

स्थानों का शासन मुख्यतः के साथ चलाकर श्री विष्णुभक्तेश्वर के राज्य को प्रत्याग करे। गाँवों के सिवाने निर्दिष्ट करके रायममवोर-मरूम को भेजकर शिक्षा-नेत्र स्थापित करने का बीड़ा.....बारह वन-वंतों के नाम;

इतोक—करलम्, मुच्चि कंनानी, कम्मर, कुम्भर, गरुड, गिल्लक, स्वर्ण, मृदस्कार तक्षका कस्तारकश्च, भकारः चङ्गलचित्तनम् तथा निहृष्टकानिकांश्च यथाशनम् देने द्वादशजातीनाम् धान भारस्व दाहकाः।”

अर्थ—पटवारी, मोची, सुनार, मुहार, कुम्हार, नाने या गिनने वाला गरुड, गिल्ली, बहई, कनेरे, चादाम, घोडी, तथा कनिका के बारह व्यक्ति गाँव के नार का वहन करते हैं।

कन्नूल धान में जंगल अधिक है। इस कारण विजयनगर के मन्नाटों ने मोगमें दे-देकर और कई-कई वर्षों तक लगान माफ करके सिवानों की आकर्षित किया और इस तरह वहाँ पर अनेक नये गाँव बने। कन्नूल जिले के अम्बरी गाँव के पटवारी के नाम श्री ताऊ-यन धाना गया था, उनका बीड़ा इस प्रकार है :

“शांतिवाहन मन्वन् १४१२ में सातुवा श्री नरसिंह राय जी ने द्रोणाचल और धरवपुरी की भूमि के बंजर और जंगलमय हो जाने पर वहाँ पर गाँव बनाने के लिए यह घोषित कर दिया कि वहाँ जो भी चाहे और वहाँ से भी आना चाहे, आकर गाँव बना सकते हैं। और उन्होंने यह बीज-नामा लिखवाकर भिजवा दिया कि यह हमारे कारिमाविध मीराम रहेगा और हम गल्ला भंडा करने रहेंगे। इस पर मल्लासीमा, गोरंटी सीमा, बिनकन्नु, बालाल, अमरवात, शाननकोट, ध्यावनकोडा आदि गाँवों से अठारहों वर्षों की श्रद्धा तथा बारह दलवंत, पुरोहित, भटपति, जंगम, तम्माडि, गहरिये तथा बुनकर आदि चेस्वेतगल्लू पहुँचे और स्थानी रूप से श्री रायन की सेवा में उपस्थित होकर बस गए। रायन के बड़े लक्षों का बीड़ा : वित्त गाँव को जो बना रहा है, वह

उसी की मोराम है। गाँव बसाने वाली इस नवागत प्रजा की छाटों दिशाओं के सेत घटाकर, उनकी चौहदियाँ तय कर देने का फंसला—

“मोरामदारो की नियुक्ति का ब्योरा : रेड्डियों का फंसला-पाफा-नाटो प्रजा दो भाग, ओटारी प्रजा एक भाग, परवाटो प्रजा एक भाग, कुन चार भाग—”।

“पटवारी” लुहार, धोबी, नार्द, कुम्हार, लुहाहे, चौकीदार, देवी-देवताओं की बड़ी देवनी, छोटी देवनी ( विविध नामों पर ध्यान दें ), चमारनागपाग, तिममापाग ( ये नाम भी ध्यान देने योग्य हैं ), बेगार, ये बारह बलवंत हैं।

माफी जमीनों का निर्णय : बालविश्वेश्वर अनादि मूर्ति हैं। इसलिए भोग तथा दीपा-वत्ती के लिए माफी जमीन चार तूम (मन) और भैरव-इवर को डेढ़ तूम (अर्थात् इतनी बोज की जमीन—)।

शिवालय के लिए महादेव को डेढ़ मन, हनुमंतराय (हनुमानजी) को पाँच तूम, पोतराशु को डेढ़ तूम, इति देव स्थानों की माफी समाप्त। रेड्डी की माफी, पटवारी, चौकीदार, लुहार, बड़ई, धोबी, नार्द, कुम्हार, जंगम, तम्मडी, सातरी, मेरमोड ( न जाने यह कौन-सी जाति है ! ) (शायद दरजी हों—अनु०), मुनकर, (हर एक के लिए अमुक-अमुक ‘तूम’—परिमाणु निश्चित किया गया है)। इस प्रकार पाँच साल तक माफी कौल के बाद प्रत्येक ‘तूम’ पर पाँच ‘बरहा’ लगान निश्चित करते हैं।”

रायल-बाल के बाद से अब तक केवल बारह कामदार ( नेगी या पीनी ) रह गए हैं। मन् १६०० ई० में नीचे दिये हुए इन बारह धाय-गारों (कामदारों) की गिनती की जाती है—१—पटवारी, २—रेड्डी (मुकद्दम), ३—चौकीदार, ४—धोबी, ५—चमार, ६—नार्द, ७—बड़ई, ८—मुनार, ९—पुरोहित ब्राह्मण, १०—नेरटी, (जहाँ पानोंदार तालाब हो), ११—कुम्हार और १२—लुहार। इस गिनती में पीछे कुछ और परिवर्तन हुए। आजकल मुनार और ब्राह्मणों की गिनती धायगारों में

नहीं है। पटवारी, पटेल और चौकीदार अथवा काबलकार के लिए ब्रेतन अथवा स्केल मुकर्रर है। इसलिए इनकी भी गुमार घायगारों में नहीं रही। अब निश्चित रूप से बचे हुए नेमी लोग ये हैं—धोबी, नार्ई, बडई, मुझार, पानीदार (जहाँ तालाब हो), चमार और कहीं-कहीं कुम्हार भी। करणम् अर्थात् पटवारी का काम सदा से हिसाब-किताब सीखने का ही रहा है।

एक कविना है —

“काम पड़े पर लड़कों का बड़ला लेता है ‘गंटम्’”

इसी नीति पर चलकर बाबू जीता करता ‘करणम्’ !”<sup>१</sup>

रेड्डी अथवा मुक्कद्दम के सम्बन्ध में भी कहा है कि यदि रेड्डी ग्राम का अधिकारी बन जाय तो किसानों की तबाही निश्चित है।

उन दिनों ग्राम-पंचायत के अधिकारी ही सगान-बमूनी करते थे। गाँव के चौकीदार ही पुलिस, और पचायतें ही अदालतें थी।

किसान छोर-झरों को बाँधने और जोतने के लिए बड़ की जटा (बरोह) काट-काटकर उसमें रस्मियाँ बनाने थे।<sup>२</sup>

खेती करने वालों में रेड्डी ही प्रधान थे। साधारण रेड्डी खुद खेतों में मेहनत करके फसलें उगाते थे। वे दोपहर तक खेत में काम करके घर लौटते, उपलों के चूल्हे पर मिट्टी के बड़े घड़े में गरमाया हुआ पानी लेकर स्नान करते और कसि के नसलों में रागी का दलिया खाने बैठ जाते थे।<sup>३</sup> खेती करने वालों के यहाँ दूध-दही भी गूँथ होता था। अमावस्या के दिन वे खेतों पर काम नहीं करते थे। यह प्रथा आज भी अनेक प्रान्तों में विद्यमान है।

व्यापार विशेषणया कोमटी अर्थात् बनिये ही चलाया करते थे।

१. ‘गंटम्’=कृत्तम। ‘करणम्’=पटवारी।

२. ‘शुक सप्तति’, २-३३२।

३. वही, २-३३५।

४. ‘शरमांगद चरित्र’, २-४३।



पहले अरब, ईरान, धर्मा, चीन, मलाया, पेगू, कम्बोडिया, इंडोनेशिया और सिंहन के व्यापारी ही हमारे देश के साथ व्यापार करते थे। कुष्णदेवराय के समय पुर्तगाली भी उत्तरे और अब फ्रेंच और अंग्रेजों का भी आगमन हो चुका था। उनके साथ हमारे व्यापारियों ने खरीद-विक्री की। कदरीयति ने अपनी प्रथम कथानिका में ही बताया है कि विभिन्न देश-भूषा और भाषा वाले अंग्रेज और फ्रांसिसियों के ठिकाने समुद्र-तट पर ही हुआ करते थे। विन देशों से क्या-क्या माल यहाँ उतरता था, इसका भी ध्योरा मिलता है। तैलिटापू से पत्थराग, ईला से नीलम, मक्का से कालीन, शीराज से शीराजी तुरियाँ, जम्भूद्वीप अर्थात् जम्भू से सोने के सीप (कट्टण का शब्द 'शब्दकोष' में नहीं है, किंतु कट्टण नाम की सोने के मनकी की माला आज भी पहनी जाती है। यदि मोतियों का हार हो, तो उसे मोतियों की कट्टण कहते हैं), कश्मीर से केसर, मलाया से चंदन और जावा, सुमात्रा आदि से मुपारी आदि माल गोमा के बंदरगाह पर जहाजों से उतरा करते थे।

इसके अतिरिक्त मोती, हाथी, कस्तूरी, जलादि, काच के कुम्भों में पनीर और गुलाब जल, पचघातु से बनी तोपें, चाँदी की डडी और रेशम के कपड़ों से बने पछे, तीर-कमान, पत्थर की डाने वाली छुरी, बटार, समरमर के कटोरे, लीटियाँ अथवा दासियाँ आदि भी बाहर से आया करती थी।<sup>१</sup> विदेशों से स्त्रियों के लिए जाने की बात दूसरे कवियों ने भी कही है। पारा, जायफल, हींग, लींग, पचलवण, गंधक और कुत्ते भी आते थे।<sup>२</sup> व्यापार पर निरुल्लेख समय व्यापारी अपने साथ में बेंत के कटोरे, तम्बू तथा अन्य आवश्यक सामग्री लेकर चलते थे। ईल, जिलिद और बंगाल के टापुओं से वे मांस उतारते थे।<sup>३</sup> 'गुफ सप्तति' में ईल का पाठांतर विलंग भी है। इसी प्रकार दूसरी जगहों पर कुछ

१. 'गुफ सप्तति', १-२२२।

२. यही, १-१६२।

३. यही, १-१७६।

मिलने-जुलने ईला, मुम्मनी, बगाल, पैंगोवा आदि नाम भी दिये हैं। 'शुक सप्तति' की रचना के दो सौ वर्ष बाद 'हंस विंशति' की रचना हुई है। 'हंस विंशति' के रचयिता ने 'शुक सप्तति' के शब्द, पद, पद्य, भाव, विधान सभी ज्यों-के-त्यों अपनाए हैं। इस प्रकार 'शुक सप्तति' तथा 'हंस विंशति' के समान शब्दावली के दो-एक पद्य का परस्पर मिलान करने पर कुछ निष्कर्ष निकल सकता है। दक्षिणी भाषाओं की वर्णमाला में 'ल' के साथ 'ळ' भी है, जिसका उच्चारण 'ड' के समान होता है। इसलिए यदि हम इन शब्दों के 'ल' को 'ड' पढ़ें तो ये शब्द बनते हैं : ईल = ईड, जो वास्तव में ईडन है। ईडन भरव देश में है और भरव से हमारा व्यापार प्राचीन काल से चलता था। इसी प्रकार 'बळदा' वास्तव में हालंड है। हालंड वालों ने हिन्दुस्तान के साथ अंग्रेजों और फ़ार्मीमियों से भी पहले अपने व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ लिये थे। वे अधिकतर भारत के बन्दरगाहों से होकर ही इण्डोनेशिया के द्वीपों से व्यापार करते थे। अम्बाइना में अंग्रेजों के मारे जाने से अंग्रेजों की बला हम पर आ उतरी थी। हालंड को हिन्दुस्तानी 'बलन्द' कहने लगे। जान पड़ता है, पदरीपति के अनुयायी नारायण कवि को इनकी जानकारी न रही हो। फिर भी इन कवि की रचनाएँ हमारे लिए अत्यन्त सहायक मिष्ट हुई हैं। इसलिए 'शुक सप्तति' की असुद्धियों को ध्यान में रखते हुए 'हंस विंशति' का अध्ययन ध्यान पूर्वक किया जाना चाहिए। 'शुक सप्तति' का 'पैंगोवा' वास्तव में आज का पेगू है।

वनियों के अतिरिक्त 'गु ता गोला' जाति वालों ने भी उस समय के व्यापार में थोड़ा-बहुत भाग लिया है। बाहर से आने वाले माल में पटालाशुकम् का नाम है।<sup>१</sup> कोश में इसके पर्याय 'घर की छत', 'नेत्र-रोग', 'परिवार' आदि हैं।<sup>२</sup> पर ये अर्थ ठीक नहीं। 'अंशुकम्' माने कपड़ा। इसलिए पटालाशुकम् कपड़े का ही कोई प्रकार होना चाहिए।

१. 'शुक सप्तति', १-१७५।

२. वही, ३-७।

‘शब्द कल्पद्रुम’ में ‘पटलम्’ माने ‘घोड़ने का कपड़ा’ बताया गया है। तेलुगु शब्दकोशों ने उसे धर की छत्र कहकर समाप्त कर दिया है। शरीर पर घोड़ने की वस्तुओं को भी ‘पटलम्’ कह सकते हैं। ऊनी चादर आदि रही होगी। ईरान गुलाब की जन्म-भूमि है। वही से गुलाब-जल कुप्पो में भर-भरकर भारत में आता था। हरे और लज्जते दोनों प्रकार के कपूर पूर्वी द्वीपों से आते थे। ‘शुक सप्तति’ में कुछ और भी वस्तुओं के नाम दिये हैं, पर उनके अर्थ कहीं नहीं मिलते। इसलिए वेद के साथ छोड़ देने पड़े। उन दिनों बैसगाड़ी के चलने योग्य रास्ते नहीं थे। व्यापार के माल घोड़ों, गधों और बैलों पर लादे जाने थे। दृष्टुओं पर सामान लाद-लादकर व्यापारी हाटो-हाट और मेने-मेने घूमा करते थे। ‘शुक सप्तति’ में एक स्थान पर एक दृष्टू यह शिक्षायात्र करता है

“कमर तोड़ने को काफी हैं लादी का ही भार।

फिर उस पर से हो जाता सौदागर भी असवार ॥”<sup>१</sup>

इसी प्रकार बैलों पर भी लादी चमती थी।<sup>२</sup> (बल्कि बैलों पर अधिक व्यापार होता था) एक-एक तांडे (कारवाँ) में सैकड़ों बैल होते थे, घोड़े इस देश में इतने कहीं थे ?

लेन-देन उन दिनों सिक्कों में ही होता था, सिक्कों में ‘माडें’ को ही अधिक महत्त्व प्राप्त था। थोड़ी अर्थान् स्त्री-धन के लिए प्रधानतया ‘माडें’ का ही उपयोग होता था। ‘माडें’ (सोने के सिक्कों) को लोग घटों में भर-भरकर जमीन में गाड़ देते थे।<sup>३</sup> ‘रवा’ का प्रचलन भी काफी था।<sup>४</sup> ‘रवा’ चायद चांदी का होता था। एक गडरिन ‘रवा’ का एक ‘सिक्का’ खोकर यो पछताती है

१. ‘शुक सप्तति’, ३-४०३।

२. वही, २-२४६।

३. वही, १-४६७।

४. वही, २-२५।

“घर देना पड़ा ‘रुका’ आखिर हठीले उस बम्हन के हाथ में !  
चार-चार मटके दही के बिकें जो तगा के नगर के अनयक फेरे,  
तब कहीं पड़ता ‘रुका’ एक ऐसा है कोई कदाचित् बांट में मेरे,  
मूद पर अगर दे देती तो आता पलटके, लिये एक इकन्नी भी साथ में।”<sup>१</sup>

ऊपर के पद्य में प्रतीत होता है कि एक ‘रुका’ के चार मटके दही के मिलने रहे होंगे। इसी प्रकार लिखा है कि एक ‘रुका’ में टोकरी-भर चावल आता था।<sup>२</sup> इस तरह दही के चार मटके टोकरे-भर चावल के बराबर हुए। आज भी लगभग वही अनुपात है। ताड़ी पीने वाली स्त्रियाँ टोलियाँ बनाकर, आंचल के पत्तुमों में कामु, सोने की मनकी और चाँदी के टुकड़े बाँधे बाजार में जाती थीं। ‘चिरवाड’ जो कुछ खरीदता वह भी खरीदती।<sup>३</sup> खेद है कि ‘चिरवाड’ शब्द किसी कोश में नहीं मिलता। ‘मिनुक’, ‘टक’ और ‘दीनार’ का भी प्रचलन था। पैसे जालियों के बटुए में रखा करते थे। बटुआ कमर पर बँधा होता था।<sup>४</sup> ‘चिट्टी’ सबसे छोटा माप है। एक जगह माया है कि ‘चिट्टी’-भर तेल तिर और शरीर पर मलने के लिए पर्याप्त है।<sup>५</sup> अर्थात् मायी छत्राक को चिट्टी कहते रहे होंगे। ‘सोला’, ‘मानिका’, ‘इस्सर’, ‘तूम’, ‘खंडी’ आदि अनाज के तोल थे। ‘मानिका’ या ‘माना’ ढाई सेर का होता था।<sup>६</sup>

‘शुक सप्तति’ में सुरु, कटार आदि के सिलसिले में कई नाम आये हैं, जैसे ‘अडिदमु’, ‘खडा’, ‘कृत्ति’ (तलवार), ‘दुनेदार’ (दुधारी तल-

१. ‘शुक सप्तति’, २-५८।

२. वही, २-५६६।

३. वही, ३-११७।

४. वही, १-२१६।

५. वही, २-३८१।

६. वही, २-२६०।

वार), 'चाकु' (कटार), जमु (जम्बिया), दाडी, डावा आदि ।<sup>१</sup>

### पंचायत सभाएँ

तमिल देश के अन्दर सन् २०० ई० से पंचायतें बनी हुई थी। जात-पात के भगड़े, समाज-सुधार के कार्य तथा लगान की वसूली पक्की करते थे। साल में एक बार गाँव-भर के लोग इकट्ठे होकर पंचों का चुनाव करते थे। वही हर प्रकार के फैसले किया करते थे। यही विधान ग्राम्य के अन्दर भी धीरे-धीरे जमने लगा। किन्तु ग्राम्य में चुनाव की प्रथा के प्रचलित होने के प्रमाण नहीं मिलते। चौकीदार अनराधियों को पकड़ लाते थे। रात को वे मशाल लेकर गाँव की गश्त लगाते थे। रात में ठपली बजने के बाद लोग बाहर घूम-फिर नहीं सकते थे। रात में यदि किसी पर सन्देह हो जाय तो उसे रात-भर घाने या चौपाल में काठ पर बस देने थे। (जिसे 'बोडा कोम्पा' कहते थे। इसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।) सबेरा होने पर वह धोर है कि साह, इसकी जाँच करने के बाद निर्दोष होने पर उसे छोड़ देने थे। सोने-चाँदी की चोरी होने पर सबसे पहले मुनारों को पकड़कर पूछ-ताछ की जाती थी कि उसके पास कोई धोरी का माल तो नहीं आया। 'बंजयन्ती' में एक पद्य है :

"कसि, तावे, चाँदी, सोने, मोती, मणि को चोर,

ले जाते हैं धिक्की करने सदा मुनारों के ही घर की ओर।"<sup>२</sup>

उन दिनों देश में सबसे धनवान मन्दिरों की भूमियाँ होती थी। चोरी प्रायः मन्दिरों के अन्दर ही हुमा करती थी।

चोर के पकड़े जाने पर चौकीदार गवाहों के साथ उसे अपने अधि-कारी के पास ले जाता, जो पंचायत की सभा में उसकी मुनवाई करते थे। गाँव के मुखिया, रास-खास व्यक्ति ही पंचायत के सदस्य होते थे।

१. 'मुक्त सप्तति', २-३६४।

२. यही, ४-७३।

वे साधारणतया वेद-शास्त्रों के विद्वान् ब्राह्मण होते थे । सभाएँ मन्दिरों के सामने अथवा गाँव के बीच में बने हुए चबूतरों पर की जाती थी । गाँव वाले भी यात्रा अगम-वगत में बैठ जाने थे । पंचायत की सुनवाई किम प्रकार होती थी, इसे जानने के लिए हम विप्रनारायण की सुनवाई की मिमान ले सकते हैं—“रंगनाथ के मन्दिर से सोने की कटोरी चोरी चली गई । एक मुनार ने पता दिया कि वह कटोरा एक वेदया के घर में है । गाँव के चौकीदारों की भाँटी, तनवारों से सैन टांती तताही के लिए वेदया के घर पहुँची । मारा घर छान मारने के बाद चन्दन की एक पेटी में कुन्दन की वह कटोरी मिली । कटोरी श्रीर वेदया को लेकर वे अधिकारी के पास भाये । तब उस वेदया की बृद्धा माता ने कहा—‘महाराज ! मेरी बिटिया के एक प्रेमी ने यह कटोरी हमें दी है । वह इस समय हमारे घर में है ।’ यह सुनकर अधिकारी ने उसको पकड़ लाने के लिए अपने नौकरों को भेजा । वे वेदया के घर गये । उन्होंने वेंग के साम विप्रनारायण को दण्डवत् किया और ध्यान करते हुए चोरी की बात बताकर उसे जिव्या (अधिकारी) के पास ले आए । जिव्या ने वेदया से पूछा कि यह कटोरी तुम्हारे पास कैसे आई ? बृद्धा वेदया ने विप्रनारायण की ओर नकेत करते हुए कहा कि यह दामरी साल-भर से मेरी बिटिया देवदेवकी का प्रेमी बनकर हमारे यहाँ रहता है । जब इसमें हमें कुछ नहीं मिला तो हमने इसे घर से निकाल दिया । तब एक छोटे-से ब्रह्मचारी के हाथ इसने हमें यह कटोरा भिजवाया है । तब विप्रनारायण ने सभा-वितति में भी कहा—‘मेरा कोई शिष्य नहीं है । मैं एकाकी हूँ । यह जो कुछ कहती है एकदम झूठ है ।’ इस पर वेदया ने कहा कि ‘उम ब्रह्मचारी ने अपना नाम ‘रंग’ बताया था । उसकी शव-भूत भी इसी जमी थी । हम औरतें हैं । हमें यह मालूम न था कि तमिन देव का यह व्यक्ति हमारे साथ ऐसा करेगा !’ दोनों की बात सुनकर जिव्या ने विद्वानों की धर्म-सभा की बंटक बुलाई । सभा के सभी विद्वान् सदस्यों ने विप्रनारायण की निन्दा की । सभा की

कार्यवाही देखने के लिए गाँव-भर के लोग टकटुं थे। वे घापम में तरह-तरह की बातें करने लगे। जिम्मा ने बेइया तथा विप्रनारायण के वयानों को विस्तार से बताकर निरुण्य देने के लिए कहा। सभी सदस्यों ने परस्पर वाद-विवाद किया कि बेइया की कठोरी इसीके द्वारा मिली है। यह सदा मन्दिर में जाता है, इसलिए यही चोर है। इस प्रकार विप्रनारायण पर चोरी का अभियोग लगाकर सब सदस्यों ने एक स्वर से अपना निरुण्य जिम्मा को सुनाया। तब जिम्मा ने पूछा कि इसकी सजा क्या होनी चाहिए? इस पर उन लोगों ने कहा—‘जुमाना करना एक, सिर मुँडवा देना दो, और मन्दिर से निकाल देना तीन, यही तीन इसकी सजाएँ हैं। मर्यादा अपराध तो प्राण-दण्ड के योग्य है, किन्तु ब्राह्मण होने के नाते इसके प्राण न लिये जायेंगे। विज्ञानेश्वर (धर्मशास्त्र) का यही मत है।’ तब जिम्मा ने कहा—‘इसके पास धन तो है नहीं। सिर इसने पहले से ही मुँडवा रखा है। इसलिए अपने उतरवाकर सरहद से बाहर धर देना ही इसके लिए उपयुक्त दण्ड होगा।’ सभा ने एक स्वर में इसे स्वीकार किया। इस पर श्री रंगनाथ भगवान् ने सभा में प्रवेश होकर कहा कि विप्रनारायण निर्दोष है। यह देखकर ब्रह्म-सभा आश्चर्य-चकित रह गई। विप्रनारायण के लिए बहुरस रचा गया, अर्थात् विप्रनारायण की रस में बिठाकर सभी ब्राह्मणों ने अपने हाथों से उसे छीचा। ‘ब्रह्म-सभा’ शब्द से प्रतीत होना है कि उसके सभी सदस्य ब्राह्मण होने थे।<sup>१</sup>

बाकी बातों की छान भी दें तो विप्रनारायण के इस मामले से तत्वा-स्वीत पचायती विधान तथा उनकी कार्य पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

एक दूसरे कवि बेकटनाथ ने अपने ग्रन्थ ‘पञ्चतन्त्र’ में पचायती विधान का सुन्दर वर्णन किया है। यहाँ पर उनका व्योरा संक्षेप में लिख देना जरूरी है—

“एक शहर में दो बनिये थे। एक का नाम था धर्मबुद्धि, और दूसरे

ह. ‘पञ्चतन्त्र’, ४-६२-१२८।

का दुष्टबुद्धि । उनके नाम भी नामों के अनुरूप ही थे । एक दिन धर्मबुद्धि को १००० गटे दोनार मिले । यह बात उसने अपने मित्र दुष्टबुद्धि को बना दी । दुष्टबुद्धि दकैना ही उस जगह पर गया दलि-मेट चटार्द और उस धन को उठा लाया । कुछ दिनों बाद दुष्टबुद्धि ने धर्मबुद्धि के पास जाकर कहा कि चलो अपने धन को देख लें । दोनों पेड़ के नीचे पहुँचे । धन का पता न पाकर दोनों धारस में नजरार करने लगे । झगडा बढ़ा । मामला पचायन में पहुँचा । छोटे-बड़े इकट्ठे हुए । धर्माधिकारियों ने दोनों की ओर देखकर कहा—‘हल्ला न करो । दोनों एक माय बन बोलो । एक-दूसरे के बीच में मन बोलो । तुम दोनों अपनी-अपनी बात गुरु से आविर तक अलग-अलग बताओ ।’ धर्मबुद्धि हाथ जोड़कर खड़ा हो गया । कहने लगा ।—‘महाराज, मैं और यह दुष्टबुद्धि दोनों माय-साप यात्रा कर रहे थे । रास्ते में एक जगह मुझे खजाने का घडा एक मिला । मित्र समझकर बत्ता दिया । उसने घड़े को एक पेड़ के नीचे गाड़कर निशान लगा दिया । कुछ दिनों के बाद हमने खुद मेरे पास आकर कहा कि चलो देखें कि दखीने का क्या हान है । पहुँचकर देखा तो इफोना गायब । और अब जलटे मुझे बोर-दत्ताकर हमने मुझे पचायन में पसीटा है ।’ इतना कहकर धर्मबुद्धि अनग खड़ा हो गया । तब दुष्टबुद्धि ने सबको हाथ जोड़कर प्रणाम दिया और कहा—‘उम पेड़ की वसुध धन को हमने चुराया है !’ यह सुनकर धर्माधिकारियों ने कहा—‘धन पर निर्गुण देना बठिन है । इसलिए पाँच दिन भी नुहलन देकर कहा कि छठे दिन अपना-अपना ब्यौग ( गवाही नास्ती ) पेश करो !’ तब दुष्टबुद्धि ने कहा—‘इस मामूली-सी बात के लिए इतना बखेड़ा क्यों बढ़ाने है ? गवाही मैं अभी दिला देता हूँ ।’ पूछा गया कि तुम्हारा गवाह कौन है ? दुष्टबुद्धि ने कहा—‘जिस पेड़ के नीचे खजाना गड़ा था, वही पेड़ मेरी गवाही देगा ।’

इस पर सबों चबित रह गए और उत्तमुक्ता के माय दूसरे ही दिन पेनी रख दी । दुष्टबुद्धि ने रात-भर अपने पिता के पान बँटकर उसे



पढ़ाया कि तुम्हीं उस पेड़ की खोह में बैठ जाना और जब पच लोण वहाँ पहुँच जायें तब खोह के भीतर से ही मेरे पक्ष में सहायता दे देना ! बूढ़े बाप ने बेटे की समझाया कि धन्याय नहीं करना चाहिए । बेटे के मन में धन्याय की बात बिटाने के लिए उसने एक कहानी भी कह मुनाई । दुष्ट-बुद्धि के मन में कहानी की बात नहीं बैठी । उसे अपना भूखा धन्या ही पसन्द था । घुरे दिन देखने थे । मजबूर होकर बाप मुँह-प्रन्धरे ही उस पेड़ के पास गया और खोह में छिपकर बैठ गया । सवेरा होने पर धर्माधिकारी और गाँव के सभी छोटे-बड़े दोनों बनिषों की लेकर उस पेड़ के पास इकट्ठे हो गए । तब धर्माधिकारी ने पेड़ से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि बताएँ कि इन दोनों में दोषी कौन है ? बूढ़े ने खोह में से कहा—‘धर्मबुद्धि ही छनी है ।’ पेड़ की यह बात सुनकर सभी चकित रह गए । दुष्टबुद्धि ध्रुव प्रमत्त हुआ और एकत्रित सभी लोगों ने गुन होकर तानियाँ बजा दी । धर्मबुद्धि ने सोचा—पेड़ क्या, और उसकी गयाही क्या ? जरूर इसमें कोई धोखा है । उसने पेड़ की खोह में पास-कूँस भरकर घाग लगा दी । घाग में जनवर बूढ़ा मुरदा बनकर बाहर निकल पड़ा । तब धर्माधिकारियों ने दुष्टबुद्धि को घुरा-भला सुनाया । ‘धर्म-अधर्म की बात पर समानता रखे धन को हड़पने वाले गुलाम बनिये ! विश्वामियों की हाथों-हाथ लेन-देन में सूट लेने वाले बिजाती गिरगिट ! बनिये के पुत्ते !’ और धर्मबुद्धि की मान दिखाया तथा उस दुष्टबुद्धि को सूनी पर चढ़ा दिया ।” यह बड़ी मनमोहक कथा है । इसमें पचापती विधान की कार्य-पद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

### कलाएँ

प्रसार क्या है, मानो मोती बिछरे हैं । गुन्दर घरों का निगना भी एक बला माना जाता था । श्री नाथ ने अपने ‘जम्बूमान चरित्र’ में

१. ‘पंचतन्त्र’, १, ७०१, ६४ ।

२. १-१६ ।

एक राज-मन्त्री के सम्बन्ध में उसकी भिन्न-भिन्न भाषाओं की सुन लेखन-शला की प्रशंसा की है। शिल्पकार काँच की कुप्पियाँ और हाथों की दिव्यियाँ तैयार करते थे।<sup>१</sup> बेल के फल पर दशावतार के चित्र बनाकर, उनमें बैष्णव ग्रन्थों नितक-सामग्री रखने थे।<sup>२</sup> नाचने-गाने की कला में वेश्याओं का विशेष स्थान था। वेश्याओं की गायक-मण्डलियों को 'मैला' कहते थे। आज भी 'भोगम मैलम' अर्थात् वेश्याओं की गायन-मण्डली या नृत्य-मंडली कहा जाता है। बृद्धा वेश्या, गायिका, सुन्दरी नर्तकियाँ, ढोल-मँजीरे बाना, श्रुतिकार तथा श्रुति को उठाकर गाने को पूरा करने वाला, इन सभी को मिलाकर 'मैला' बनता था। नाटकों में नाचने वालों युवतियों को 'पात्रकंठे' कहते थे।

"परदा हटते ही पातरकले हाव-भाव के साथ  
खड़ी हुई आकर, श्रोताओं को जोड़े दोनों हाथ"<sup>३</sup>

नृत्य में 'देसी' तथा 'मार्ग', ये दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं। नर्तकी वेश्या के नृत्यों का व्योरा यों है :

"भोगवरी बहूदम, कोताटमु और मुखु अपहय,  
चिचिकली, बरतु बारदुबेति तथा बहुल रूप,  
बघुरगीत एवं प्रवन्धवितति वरुमा पय;  
देसी, घंगाती, कोरुति बहूद, अनवद्य,  
बिन्दु कोटिय काडु, परगुराम, धोरभद्र कभी,  
बल्पाणो, चौकटता, एकनाल आदि सभी,  
देसी गुहांगों में पटुता से नर्तकी,  
पग के बड़ों के साथ नाचती हुई न पकी।  
दर्शक जन पुनतो की भाँति, ठगे लगते थे।

१. 'विप्रनारायण चरित्र', ३-२८।

२. वही, २-२८।

३. 'निरंकुशोपाख्यान', २-६।

टक बोधे, प्रशस्तिर्पा करते न सकते थे ।”<sup>१</sup>

उक्त पद्य में प्रयुक्त बहुत सारे शब्दों के अर्थ नहीं मालूम होते । कुछ तो मुद्रण की असुदृशियाँ भी होंगी । बाद के पद्य में जविवर्णी का शब्द आया है । इस पद्य का चिविवर्णी शब्द जविवर्णी के लिए भी आ सकता है । इसी प्रकार नृत्य-रत्ना का व्योरा नीचे के पद्य से भी मिलता है ।

“चारण, बागड, खर्चरो, बहुलरूप, दण्डलात,  
मांशिक, कंबुक कोलाट आदि नृत्य-नाट्य शास,  
प्रेरण, कुण्डली-प्रेक्षण, सूतम्, पुहडक, गति,  
गुड पद्धति, विप्र पद्धति, घनदेश की पद्धति,  
कोलाट, अम्पक करण, एकतातिका  
आदि गीत, हस्तोपक आदि नृत्य-मातिका,  
मुख्य-मुख्य नाट्य-विधियों का प्रदर्शन कर  
एक-एक दशक का मुख्य धन लेती हर,  
और जग उसकी प्रशंसा थे या मुत्तर ।”<sup>२</sup>

तान-विधियों में जपे, ध्रुव, झोट तान आदि का विशेष प्रचार था ।<sup>३</sup> गान में हस्ताभिनय के साथ अर्थाभिनय तथा विविध-योग्यता-विलास-विनिव्रता तथा नटन में चरण नूपुर नाद को तालनाद से मिलाने हुए ताल्य अथवा नाट्य करने थे । ‘वैजयन्ती’<sup>४</sup> और ‘शुक मतति’<sup>५</sup> में इनके वर्णन मिलते हैं ।

यश-गान के सम्बन्ध में कटुकूर द्दम्प-निगित ‘मुप्रीय विजय’ के लिए भी चेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री ने उच्चम भूमिका लिखी है । उक्त भूमिका में कुछ उद्धरण यहाँ पर दिये जाते हैं :

१. ‘महर्णोपम्’, ५-६ ।
२. वही, पृ० ४० ।
३. ‘वैजयन्ती’, १-१२३-४ ।
४. १-१२२ ।
५. ३-१४ ।

“द्विड भाषा में जो दृश्य रचनाएँ पहले-पहल प्रसिद्ध हुई थीं, उन्हें ‘कुरवंजु’ कहा जाता था।’ गडरिये को कहते हैं, और भज माने पग, अर्थात् गडरियों का नाच। भंगलाद्रि, सिहाद्रि आदि पर्वतों पर वहाँ के पहाड़ी लोग मैलों में सामूहिक नृत्य का प्रदर्शन किया करते थे। चेंचु अथवा भील-नाच की गिनती भी ‘कुरवजी’ में होने लगी थी। स्त्री पात्र को सिंगी और पुरुष पात्र को सिंग या सिंगडू कहते थे। खेल के दो ही पात्र होते थे। एक तोसरा पात्र कोणंगी (संग्रर) होता था, जो ध्रुवक का काम करता था। संस्कृत का ध्रुवराग शब्द ही कुरवजी में ‘दुरु’-राग बन गया था।”

जबलू जाति के नृत्य-प्रदर्शन ने नगरो में भी प्रवेश किया। पहाड़ी भीलों की सिंगी और सिंगी की जगह सीता, राम आदि ने ले ली। फिर भी पहाड़ी नाच का प्रभाव इन पर स्पष्ट रहा। एकसानी का पत्र पहाड़ी नाच का प्रभाव-मात्र है। यक्ष, गन्धर्व आदि का स्वांग बनाकर वेश्याएँ विशेषकर मैलों-ठेलों में नृत्य-प्रदर्शन करती थीं। इसी कारण यह नाच बाद में यक्ष-गान कहलाया। कलाकारों की एक जाति का नाम ‘जक्कु’ था। यह जाति आज तक खली आ रही है। अल्प कवि ने यक्ष-गान के लक्षण कविता-बद्ध किये हैं। उसको दृष्टि में रखते हुए जब हम यक्ष-गान पर विचार करते हैं, तो पता लगता है कि यक्ष-गान के प्रधान गायक ने ही कुछ हेर-फेर के साथ एकताल, त्रिपुट आदि का जन्म हुआ। एला, जोला, सुधा, धवल, वेन्नेनापद, विराली, तुम्मेदा, पोम्बिकोवेला, द्विपद, त्रिपद, चौपद, षट्पद, मंजर आदि भी यक्ष-गान से ही सम्बन्धित हैं। विजयनगर, तंजावर, मधुरा आदि स्थानों पर यक्ष-गान ने अच्छी उन्नति की। कृष्णा नदी के तटवर्ती ग्राम कूचि-

१. ‘कुरवं’ शब्द का पुराना अर्थ ‘पहाड़’ भी है : इससे ‘कुरवजी’= पहाड़ी नाच। ‘कुरवं’ (गडरिया) जाति के लोग भी पहले पहाड़ों में ही रहते थे। ‘पहाड़ी नाच’ अर्थ लेने से उसमें भील नृत्य की भी गिनती की जा सकती है—अनु०

पूड़ी में सिद्धेन्द्र नामक एक योगी ने भागवत-पुराण की कथाओं को यक्ष-गान का रूप दिया और अपने गाँव के ब्राह्मणों द्वारा शास्त्रीय रूप में उनके प्रदर्शन का प्रबन्ध किया। तेलुगु में भी यक्ष-गानों का प्रचार इतना बढ़ा कि यक्ष-गायन की लगभग ५०० रचनाएँ मिलती हैं। इनमें 'मुषीव-विजयम्' सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसके रचयिता रत्नकवि हैं। यह कवि सन् १५६८ ई० के लगभग हो गए हैं। 'मुषीव विजयम्' में त्रिगुट, धर्म-चन्द्रिका, द्विपद, जपे, कुम्भ जपे, घाटैतान, घबल, एता आदि का प्रयोग है। उसके अन्दर तेरागोल, सीम, उत्पलमाला, कदम आदि तीन-चार प्रकार के पद्य हैं।

इसी अध्याय में पीछे हम कह आए हैं कि 'मुक् सप्तति' के अन्दर एककलिन को 'कोरयजि' कहा गया है, और वह अपने पति की सिंगरू कहती है। यक्ष तथा गधर्व नाट्यो का प्रयोग गायन-प्रधान नाटकों के लिए ही किया जाता है। यक्ष-गान तथा गधर्व-गान बहुत प्रसिद्ध थे। नाटकों में परदे आदि तो मस्कृत तथा मराठी विधानों के अनुकरण के कारण हाल-हाल में आये हैं। ४०-५० साल पहले यक्ष-गान का ही महत्त्व था। आज भी तेलुगु देश के अन्दर देहात में 'चबुलदमी' नाटक, वेङ्गूरि हरिश्चन्द्र नाटक, पारिजात हरण आदि यक्ष-गान दिखाये जाते हैं। साधारणतया यक्ष-गान के रचयिताओं को सोन के रगड़ों-भगड़ों की कहानियाँ अधिक प्रिय होती थीं। यक्ष-गान में परदे नहीं होने थे। गज-भर ऊँचा रगमध बनाकर उस पर अपने विद्या दिये जाते हैं और उनके ऊपर स्त्रियों के साथ नाचते-बूढ़ने हुए अभिनेता दर्शकों को लुमाने रहते हैं। मंच के दोनों ओर दो मशालें जलती रहती हैं। मंच से कुछ दूर या पास ही किसी घर में स्त्रियाँ भरे जाते हैं। स्त्रियों के पहुँचने ही मुट्ठी-मुट्ठी-भर बारीक राख डाल देने में मशालों की लौँ मद्धक उठती हैं तथा उस प्रकाश में स्त्रियाँ निल जाते हैं। स्त्रियाँ भरने वालों के चेहरों पर भरदाल, नील आदि रंग लेपे जाते हैं। फिर पर किर्रीट और भुआओं पर भुजबीति लगाये जाते हैं। संघारिघर में जब स्त्रियाँ चलता तो आगे-

भाग 'धपडा' बजाते हुए उसे रंगमंच पर पहुँचा दिया जाता। धपडे की धावाज से ऊँघने वाले दर्शक चौंककर बैठ जाते थे। मञ्चालों की भभकती लो के साथ सूत्रधार जोर-जोर से सवाल करता—“हे स्वामी, आप कौन हैं जो इतने टाठ-वाट से पचारे हैं?” तब स्वाँग उससे भी अधिक जोर से (यदि पुरुष हो तो) बोलता—“क्या तू नहीं जानता मैं अमुक व्यक्ति हूँ, अमुक-अमुक मेरे प्रताप हैं, इत्यादि-इत्यादि।” बहकर भाप-ही-अपनी बड़ाई जताता है। बीच-बीच में भीड़ समयानुसार छोटा-मोटा व्यंग्य कसकर सबको हँसा देता है। व्यंग्य क्या होता है, अधिकतर बकवास ही होती है। नगर-निवासियों को यक्ष-गान भड़े लगते हैं। गाना भी जोर का और नाच भी जोर का। आसमान फट रहा होता है और मच के तल्ले मानो घड़ी-घड़ी टूटना चाहते हैं। पर यद्यपि कम होते जा रहे हैं। इसके पहले कि ये एवढम मिट जायें, यह उचित है कि ‘यक्ष-गान’ करवाकर उनकी तसवीरें आदि उतार ली जायें और व्योरे देकर पुस्तकें लिख डाली जायें। तभी भाने वाली पीढ़ियों के लिए इन यक्ष-गानों के स्वरूप के ज्ञान की रक्षा की जा सकती है। अग्नेजी पत्र-पत्रिकाओं में हम प्रायः जावा द्वीप के जातीय नृत्यों के चित्र देखते हैं। उनमें भी स्वाँग भरने वाले के सिर पर किरिट और भुजाओं पर ‘भुजकीर्ति’ के आभूषण होंते हैं। ये गहने हमारे यक्ष-गानों के गहनो से एकदम मिलते-जुलते हैं। जावा में रामायण तथा महाभारत की कथाओं को नाटक-रूप में दिखाया जाता है। यह तो अच्छे अनुसंधान से ही शाल होगा कि हमारे पूर्वजों ने जावा आदि पूर्वी द्वीपों में जाकर अपने यक्ष-गान को वहाँ फैलाया अथवा वही से यह यक्ष-कला हमारे देश में आई। आन्ध्र में निवासी एकल हमारे ही देश के हैं, किन्तु वह जो भाषा बोलते हैं वह बिगड़ी हुई तमिळ है। निश्चय ही उनके पूर्वज तमिळ देश से आये होंगे। कोरवजी या तो इन एरंतो की ही एक शाखा है या जंगली भीलो की। ‘शुक सप्तति’ में कोरवजि स्त्री का अपने पति के जंगलों से साईं वदनिवासों को वेचना इस बात का प्रतीक है कि उनका सम्बन्ध

भीलो से था। अस्तु, यह स्पष्ट है कि यक्ष-गान जगती जातियों की कला है, जिसमें गायन की अपेक्षा नृत्य ही प्रधान था। इन जगती जातियों से ही हमारे नागरिकों ने उसे सीखा और उन्नत किया। ग्राम्यो का सस्कृत के मुस्थापित नाटक-विधान को न अपनाकर यक्ष-गान पर ही अधिक जोर देना हम बान का प्रमाण है कि यक्ष-गान के प्रति सैतुगु जाति की आसक्ति अधिक थी।

यक्ष-गान के गीतों पर अल्पकवि ने सञ्जय-शास्त्र निर्या है। व्याह के गीत, सोरियाँ, (जैतसार आदि से तुलनीय) कृताई-विसाई के गीत आदि सभी यक्ष-गान के अन्दर आते हैं। अलग-अलग प्रकार के गीतों के अलग-अलग नाम हैं, जैसे श्रीधवल, सुमिर, सुब्बाने, अर्धचन्द्रिका, रमडा इत्यादि।<sup>१</sup>

‘तलनामणिको कभी-कभी वह गायन हारी  
बड़े प्रेम से सिलवाती थी गुब्बा, शोभन,  
धवल आदि गीतों के गाने की विधि सारी।’<sup>२</sup>

इससे प्रतीत होता है कि उस समय देहाती स्त्रियों को इन गीतों में रुचि थी। ‘शोभन’ ही पद्ये ‘शोभन गीत’ कहलाये।<sup>३</sup> ‘गोविन्द-गीतों’ का भी प्रचार था। ‘गोविन्द’ गर्भगीत का ही तद्रूप रूप ही लगता है। स्त्रियों का गोल-गोल घूमने दूर, बार-बार झुक-झुककर और फिर मोड़ी हो होकर तानियाँ बजाने हुए नाचना ‘गोविन्द’ है।<sup>४</sup> बच्चों को गुलाने के लिए जोरिदाँ गायी जाती थी।<sup>५</sup> दादाजियों के गीतों में कोई विशेषता ऊँच रही होगी। एवं घोबिन अपने पति में बढ़ती है

१. दे० ‘अल्पकवीयम्’, भाष्यगत ४।

२. ‘गुक सप्तमि’, १-४२३।

३. वही, ३-३४६।

४. वही, २-४३४।

५. वही, ३-४५०।

“बान्धनी से सौखा या एक गीत :

पति को कटु वचन जो सुनाते हैं,

कोट-पतंगों का जनम पाते हैं,—

इसीलिए तुम्हें गतिरियाँ देते, रहती थी भयभीत !”<sup>१</sup>

एला-गीतों को स्वो-पुरुष दोनों ही गाते थे । ये गीत अधिकतर ब्राह्मणेतर जातियों के ही होने हैं ।<sup>२</sup> एला के पद-विधान के नमूने के तौर पर ‘मुद्राङ्ग-विजयम्’ के इन पदों को देखा जा सकता है :

(१) “तुन मूरज के बंस जनमे, मारा शान्नी को रन में,

अब क्या मुझ से निवाह का जतन न करोगे ?

हे राम, तुम्हारे गुन गायेँ मुनिराज, जी !

(२) तिल को बामिनी बनाया, शिवजी का धनु तोड़ गिराया,

अब क्या सीता से बियाह का जतन न करोगे ?

हे राम, जय-जय करें राजें-महाराज, जी !”

लिपि के सम्बन्ध में भी एक बात । नन्ध-काल की लिपि को पढ़ सकने वाले आजकल कहीं इसके-दुबके ही मिलेंगे । काकतीय-काल से लेकर श्रीनाराय के समय तक लिपि के अन्दर परिवर्तन होने ही चले आये । तेलुगु लिपि में द्वित्व का प्रादुर्भाव सन् १५०० ई० के बाद ही हुआ है । ‘अप्पकवीयम्’ के द्वितीयावस में दर्शापिन, पिप्पल सूत्र तथा उसके बाद के मूत्रों से व्यञ्जनाक्षरों के स्थान ह्रस्व तथा स्वर के स्वरूपों का पाठ है । पर न जाने वह क्या वस्तु है ! पूर्वजों को भी इसका पूरा ज्ञान नहीं था । इसीलिए बाबिल्ला वालों ने पुरानी लिपियों का जो प्रकाशन किया है, उसमें भी कहा है कि लिपि में बार-बार परिवर्तन होते जाने के कारण समय-समय और स्थान-स्थान के शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों आदि की लिपियाँ पूरी तरह पढ़ी भी नहीं जाती । नन्ध से दो वर्ष पूर्व के शिला-लेख भी मिलते हैं । इनलिए सन् २०० ई० से लेकर आज

१. ‘गुरु सप्तति’, ३-१४८ ।

२. वही, २-१७२ ।



से एक सौ साल पहले तक अर्थात् मुद्रण-कला के आरम्भ होने तक की सभी लिपियों का शोध-परिशोध करके प्रत्येक अक्षर के परिवर्तनों पर प्रकाश डालने हुए एक विस्तृत ग्रन्थ लिखा जाना अत्यन्त आवश्यक है। अल्पकवि के हस्तलिखित पत्र जहाँ कहीं भी मिलें, लेकर उनके सभी भाव और अर्थ समझने की चेष्टा की जानी चाहिए। तेलुगु लिपि का सम्बन्ध निश्चय ही 'संस्कृत-लिपि' से है। किन्तु यह जानने की आवश्यकता है कि तेलुगु अक्षरों ने अपना वर्तमान रूप किस प्रकार पाया। जैसे, तमिल के एक ही अक्षर 'रं' से तेलुगु में 'ड', 'ल', 'उ' ये तीनों बने हैं। यह कैसे हुआ? ह्रस्व 'ए', 'ओ', 'अ' और 'ज' तो प्राकृत में हैं। महाराष्ट्र में भी इनका प्रयोग है। इन सभी विषयों का समग्र रूप से अनुसंधान होना चाहिए। इसके लिए एक पूरा ग्रन्थ लिखा जाना आवश्यक होगा।

उस समय के साहित्य में सैकड़ों शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनके अर्थ या भाव आज हम कुछ भी समझ नहीं पाते। शब्द-कोशों के अन्दर या तो वे शब्द हैं ही नहीं, यदि हैं भी तो 'पक्षी-विशेष', 'जन्तु-विशेष', 'भाव-विशेष'-मात्र देकर पर्याय-सूची समाप्त कर दी गई है। इस सम्बन्ध में भी विशेष परिश्रम की आवश्यकता है। मेरे पास 'शुक सप्तति' में ऐसे शब्दों की सन्धी-चोड़ी सूची बन गई थी। श्री सीतारामाधारी ने उन सूची को अपने पास रखकर कुछ दिन बाद कुछ-एक की व्याख्या कर दी, पर सैकड़ों शब्दों को उन्होंने भी भूलना ही छोड़ दिया। वाचस्पति तथा 'गुणरायाध निघटु' आदि शब्द-कोशों में भी बहुत सारे शब्द नहीं हैं। कुछ हैं भी तो केवल 'पक्षी-विशेष', 'पक्षी-विशेष' के पर्याय देने के लिए ही। शब्द-कोशों में जो शब्द नहीं हैं उनमें से कुछेक का स्फोटात्मक यहाँ दे रहे हैं : वसुसा गोडा—शब्दार्थ से शीरो का बाडा होता है, परन्तु तेलुगु में यह शब्द फारसी शब्द फमीन का ही आन्तर है।<sup>२</sup> दंटाणि—

१. बाह्यो (?)—स० हि० सं० ।

२. 'शुक सप्तति', १३६ ।

पैठन शहर की बनी चोली या साडी।<sup>१</sup> बंदाराक— चट्टान पर 'बंदार' के पत्ते बिछाकर जंगली में गड़रिये सोया करते थे।<sup>२</sup> 'शब्द रत्नाकर' में इसका अर्थ 'एक पेट'-मात्र दिया है। वास्तव में यह कोई पेड़ नहीं, बल्कि एक प्रकार की बेल होती है। तेलगाने में इसे 'बदाल' कहते हैं। वर्षा-काल में सेतो में लूब हरी-हरी घास फैल जाती है। उसकी पत्ती को हाथों से रगड़ने पर एक प्रकार की सुगन्धि निकलती है। ज्यों-ज्यों रगड़ते जायें र्यों-र्यों खुसबू बढती जाती है। खेतों में काम करने वाली मजदूरिनें अपनी चोटियों में बदाल के पत्ते भूँच लेती हैं। अब भी जिन जगहों पर यह बेल होती है वहाँ गड़रिये वर्षा-काल में इनकी पत्ती बिछाकर लेटने हैं।<sup>३</sup> गुडिमुद्रा—यह शब्द 'शुक सप्तति'<sup>४</sup> में आया है। गुडि मंदिर को कहते हैं। मंदिर में देवी-देवताओं के नाम छोड़े जाने वाली गाय-बैलों पर छाप लगा दी जाती थी; लोहे आदि की मुद्रा को गरम करके उस पशु को दाग दिया जाता था। यह निशान देखते ही लोग उस पशु को भगवान् की वस्तु समझकर छेड़ते नहीं थे, खेत घरने पर भी मारते नहीं थे।

ईलकत्ति शब्द भी 'शुक सप्तति'<sup>५</sup> में प्रयुक्त हुआ है। शब्द-कोश में यह शब्द ही नहीं है। कृष्णा-गोदावरी के जिलों में, जिसे 'कलिपीरा' कहते हैं, उसीको तेलगाने में 'ईलपीरा' कहते हैं, सक्की की एक छोटी-

१. 'शुक सप्तति', १-१२६।

२. वही २-३४२।

३. दूसरा सम्भव अर्थ यह भी है कि यह 'बंदा' हो। 'बंदा' संस्कृत शब्द है। यह एक परगाछा पीधा है। आम, महुए, पोपल, बड़ आदि पुराने पेड़ों पर बरसात में जग घाता है। स्वतन्त्र वहाँ नहीं उगता। पत्ते चौड़े और फूल बरा-सी खुलती पतली तोलियों के गुन्दों की तरह होते हैं, रंग में तात और पीले।—सं० हि० सं०।

४. २-५०७।

५. ३-५७।

सी पट्टी में धारदार लोहे की पट्टी लगी होती है। इससे औरतें रसोई में सज्जी-तरकारी कतरती है। गजमुक्ताकपित्थ—हाथी का खाया कईत्य। आधार कथा—'निरकुंगोपारयान'<sup>१</sup> तथा 'मुमति-गतक' में भी इसकी उपमा दी गई है। (कहने हैं कि हाथी जब कईत्य के फल को चबाता नहीं, सीधे निगल जाता है, और उसके हगने पर पूरा फल ज्यों-का-त्यों गोबर के साथ गिर पड़ता है, किन्तु फोड़कर देखने पर उसका मूत्रा गामय रहता है। दिनका टूटे बिना ही अन्दर का मूत्रा कैसे पच सकता है भला ?) यह अर्थ हो गलत है। वास्तव में 'गज' एक प्रकार के कीड़े को कहते हैं और यही अर्थ ठीक है।

बोम्मा कट्टुटा अथवा पुतली बांधना भी हमारे गंवडो-हजारो भूले-जिमेरे शब्दों में से एक है। यह नहीं सकने कि यह क्या यत्ना है और इसका इतना प्रचार कैसे हुआ। 'आध्र महामारत' में तो कवित्रयी ने इस शब्द का प्रयोग कही नहीं किया। जान पड़ता है कि कवि तिवचना तथा कवि एर्रा प्रगडा के मध्यवर्ती काम में वर्तमान कवि नाचनासोम ने इस 'बोम्मा कट्टु' का प्रयोग पहले-पहल किया है। 'उत्तर हरिवंश'<sup>२</sup> में उनके शब्द हैं : "पासिक बोम्म कट्टु बुन् !" अर्थात् 'पुतला बांधूंगा !' रेड्डी तथा बेलमों राज्य-वाल में इस प्रथा का प्रचार मूल बड़ा। आज भी आंध्रों में यह प्रथा प्रामाण्य है। श्रीनाथ ने स्पष्ट रूप से बताया है कि

"सस्ताड भूपति और विष्णु बंटे होते जब भरे हुए दरबार में,  
तब याम-यद-बलय के पीछे भुभुज लटके होने पुतले बनकर सरदार में  
औ' देख-देखकर बड़ा मठा छाता हमको....."<sup>३</sup>

मुमत्तमानो ने हाथी स्वयं अपनी दुर्गति का विचार न करके रेड्डी तथा बेलमों राजा आपस में ही मूल मट्टने थे। एक-दूसरे को मारकर

१. ३५।

२. ३-११७।

३. 'काशीसंड पीटिका', पृष्ठ ४५।

उनकी आकृतियों के पीतल के पुतले बनाकर अपने गंडावेंडारम ( बड़े बड़े) में लटका लेते थे और उस कड़े को अपने घुटनों पर पहन लिया करते थे। इस प्रकार अपने शत्रुओं का अपमान करके वे अपने मन की भडास निकालते थे।

‘वेलुगोटि-वशावली’<sup>१</sup> में इस पुतली रखने अथवा बांधने-पहनने के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा हुआ है :

“अता पीतना अपने बैरियों का संहार करके उनके पुतले बांधता था। आदमू को मारकर उसके बच्चों के पुतले बनवा छोड़े थे। फिर दाचना, सिंगट्यें को पकड़कर खता दिया कि पुतला किस प्रकार बांधा या धारण किया जाता है।

“कुमार वेदगिरि ने अनावेमा रेड्डी के छोटे भाई माचा रेड्डी को मारकर उसका पुतला बांध लिया था। अनावेमा रेड्डी ने भी वेदगिरि के छोटे भाई को मारकर उसका पुतला बांध लिया। फिर विमा रेड्डी का संहार करके उसका भी पुतला बांध लिया और ‘सिंहतलाट’ की पदवी धारण कर ली। धोनाथ ने उससे ‘नंदिकता पीतुराज’ नामक जो कठाण ले ली थी, उसे पुनः प्राप्त किया।”<sup>२</sup> इसी प्रकार—“अतन पूर्वक बांध रखी कोमारगिरि रेड्डी पुतली का ध्यान तो नहीं रखा।”<sup>३</sup>

इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण से कुछ दिन पहले एक जगह हमने एक मदारी की भीड़ देखी। एक मदारी रस्सी को मुरगी के खून से लथ-पथ करके उमका छोर अपने घुटने पर बांधकर, दूसरे छोर की गले से लटका रहा था। घुटने से नीचे रस्सी से पीतल का एक पुतला लटक रहा था। उसने कहा कि यह सोभियो यानी कंजूसो-मन्थीचूसों का पुतला है। अपना जादू-मन्तर जो दूसरों की गद्दी बतलाते थे तो वेरो

१. संपक : नेलदूर बेंकटरमण्य्यं। प्रकाशक : मद्रास विश्वविद्यालय।

२. ‘वशावली’, पृ० १०७।

३. वही, पृ० १०८।

में बांधकर अपमानित किये जाने योग्य हैं ही। मदारी के शब्दों से हमारा समाधान हुआ ! शत्रुओं का अपमान करना ही या एक बार कर चुकने के बाद उसकी याद ताजा बनाये रखनी हो, तो उन शत्रुओं की पुतलों बांधी जाती थी। अस्तु, तेलुगु-देश में इस पुतली-बधन का सूत्र प्रचार था। विशेषतया सन् १२०० ई० से यह प्रथा यहाँ चल पड़ी थी।

रत्नभोज—वैदिक विधान के विपरीत द्रविड देवी-देवताओं की पूजा की प्रथा आन्ध्र-देश के अन्दर प्राचीन काल में चली आई है और स्थायी हो चुकी है। ब्राह्मणेतर जानियों में इन शक्तियों के प्रति जैसी प्रथा है, वही श्रद्धा महादेव नियम अथवा विष्णु भगवान् के शयन के प्रति नहीं है। देहान्तों के गाय-गाय में ऐसे छोटे-बड़े देवी-देवता अग्रगण्य हैं। बड़ी देवी की पूजा में हर सात निश्चित तिथियों पर मन्दिरों के सामने भैंसे की बलि दी जाती है। ये मन्दिर घरोँ के समान छोटे-छोटे ही होते हैं, पर बलि बड़ी-बड़ी चढ़ाई जाती है। भटके-भटके चावल पड़ते हैं, भैंसे कटने हैं, उनके रून से चावल गानने हैं, निश्चित सीमा तक मन्दिर और गाँव के चारों ओर उस रक्तान्न की रेखा डालने जालने जाते हैं। बीच-बीच में घण्टे-मुरगे आदि भी कटने जाते हैं। इस भूत-बलि कहने हैं। भूत-बलि देने वाले उस व्यक्ति को 'भूतपित्त-गात्र' कहने हैं। अग्न में यह शब्द 'भूतबलिगात्र' अर्थात् भूत-बलि देने वाला है। उस 'भूत-पित्तगात्र' का भी विविध स्वाँन होता है। उसके शरीर के साँचे बाल मूँट दिये जाते हैं। पोटी या भीड़ कुछ भी नहीं रह जाती। एकदम नंगा हो जाता है, लँगोटी भी नहीं पहने होता। रक्तान्न का घड़ा मिर पर उठाता है और पोलि (बलि) पोली के जाने लगाना हुआ ढाल-ढाली के साथ गाँव के चारों ओर उस रक्तान्न की भूत-बलि छोड़ता जाता है। प्राचीन काल में जब लोग लड़ाई के लिए रून करने थे, तब सम्भव है शक्तिनी-शक्तिनी आदि महा शक्तियों की बलि चढ़ाने रहे हों और युद्ध में जीतने पर चावल पकाकर शत्रुओं का माँग और रक्त साँककर पोलि अथवा बलि चढ़ा देने रहे हों। 'वैसगोटि बगावलि' नामक पुस्तक में

निम्ना है कि वेक्रम-नरेशो ने ऐसा किया था।—“कौंडामल राजु आदि राजाओं के प्राण हर के, एक सौ एक राजाओं के सिर काटकर, इष्यावन राजाओं को पत्थर को रंग (चक्की) तले पीसकर तंतोस राजाओं को देवी की पूजा के लिए पकड़ लाकर उनकी आरक्षणार्थ घड़ाकर, दिगम्बरी, काली, महाकाली, शाकिनी, डाकिनी, वायसा, कापिनी, भूत, प्रेत, पिशाचों का स्मरण करके 'हे रणदेव, महारण-राजा हे रणधूर महा-रणवीर' कहते हुए भर्ताला, भंरव, वीरभद्र, रणपोतुराज, कलह कंटकी आदि देवताओं की जय-जयकार मनाते, कलह अथि देवता की आराधना करके, ध्यान-पूजा के साथ महाकाली के सामने वीर प्रतापी नरेशों को नरबलि चड़ाकर, रणभोग चड़ाकर उनके रक्त से अपने पितरों का तरण करके (पानी देकर) वृत्तार्थ हुए !”

दिगम्बरी देवी की आराधना करने वालों के लिए स्थाय दिगम्बर रहता भी गायद जरूरी था। आर्यों के दक्षिण पथ में प्रवेश करने में पहले दंडकारण्य के निवासी एकदम नगे ही जंगलों में घूमा करते थे। यह दिगम्बर-प्रथा भी उसीकी यादगार थी।

जिस प्रकार 'भूतपिल्लिगाटु' और 'भूतबलिगाटु' एक ही हैं उसी प्रकार 'महारणराटु' तथा 'रणपोतुराटु' भी एक ही हो सकते हैं। 'पोतु' माने भैमा। अर्थात् पोतुराज को भैम पसन्द थे, इसीलिए भैम की बलि दी जाती थी। बेलमें राजाओं के कान में जॉर पकड़ गई यह प्रथा आज तक हमारे पैददेवरा (बड़ा देवता) की पूजा के रूप में जमी हुई है। शूद्रों की शिव अथवा केशव की अपेक्षा इन शूद्र देवी-देवताओं के प्रति कहीं अधिक अगाध श्रद्धा है। 'विष्णुमादा' नामक ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि शिवजी तथा मोहिनी के संयोग से शास्त्र का जन्म हुआ और वही शास्त्र हनारा 'पोतुराज' है। 'आम्ब' देवता की पूजा आज भी मलयाल-देश (केरल) में होती है। मनषानी तथा टन्नि, 'शास्त्रन' अथवा 'चात्तन' के नाम से 'नेटम्' देवता की पूजा करते हैं।

### साम्प्रदायिक स्थिति

उन दिनों वैष्णवों और जैनों में साम्प्रदायिक विषमता और भी बढ़ गई थी। अद्वैत सम्प्रदाय के विशेषाभिमानों अण्णम्मे दीक्षित ने सारे भारतवर्ष का भ्रमण करके १०४ ग्रन्थों की रचना की और शैव मत का विस्तृत प्रचार किया। ठीक उन्हीं दिनों वैष्णवाचार्य तानाचारी ने विजयनगर के सम्राटों को वैष्णव धर्म की दीक्षा देकर सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर विन्ध्य पर्वत तक अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया और जैनों की बलात् वैष्णव बनाया। अण्णम्मे दीक्षित ने फिर उन्हें शैव बनाया। पर वे फिर से वैष्णव बना लिये गए। ताताचारी का बलात्कार इतना बढ़ा था कि ग्रान्थ देश में एक कहावत हो बन गई थी कि वही भी भागो ताताचारी की मुद्रा से छुटकारा नहीं पा सकते। इसी प्रकार मरिक्किट मुद्रा भी मगहूर की और आज भी तेलगाना में मरिक्किटी वाली को सख्या बाफी घड़ी है।

उक्त अण्णम्मे जन्म से तमिल थे। इसलिए उन्हें 'अप्पे' भी कहते हैं। किन्तु तेलुगु नरेशों का आश्रय पा जाने के कारण उन्होंने तेलुगु भी सीख ली थी। उन्होंने स्वयं कहा है

“आश्रयमाश्र भाषा च नात्पस्य सप्ततः कृतम् ।”

महालिंग शास्त्री ने अपना निर्णय दिया है कि अण्णम्मे दीक्षित का जीवन-काल सन् १५२० से १५९३ तक रहा है। अण्णम्मे ने अपनी वृद्धावस्था में अपनी जन्म-भूमि 'अद्वैत पालिम' में श्री वासव टेंडवर महा-देव का मन्दिर बनाकर १५८२ ई० में उसकी पूजा की थी। गुप्तिन्यात विद्वान् रंगराज मरिय उनके पिता थे। अण्णम्मे ने बैसूर के नायर नरेश सोम्मानायक के यहाँ अपना आसन जमाया था। उन्होंने भूने-विगरे 'श्री कंठमाय्य' का पुनरुद्धार किया और उस पर 'निवाकंमल्लि-दीपिका' के नाम से एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी। उन्होंने अपने ५०० शिष्यों को विधिपूर्वक निष्ठा-दीक्षा देकर शैव-सम्प्रदाय के प्रचार के लिए सारे देश में भेजा दिया था। सोम्मानायक ने टेंको और दीनारो में अण्णम्मे

दीक्षित का कनकाभिषेक करवाया था ।

यहाँ पर एक सोमरे सम्प्रदाय की चर्चा हो जानी चाहिए । 'विज-  
याध्र मिथु' ने माध्व सम्प्रदाय का प्रचार किया । यदि अल्पव्यय का  
कनकाभिषेक हुआ था तो विजयान्ध्र मिथु का 'रत्नाभिषेक' हुआ ।  
अर्थात् उन्हें रत्नों से नहलाया गया था -

“विदुद्वरोऽस्माद्विजयी प्रयोगी विद्यानुह्यास्वतुल प्रभाषः ।

रत्नाभिषेकम् किल रामराजात् प्राप्याप्तश्रीनृत्वाग्रहारात् ॥”

विजयान्ध्र ने अपनी प्रचार बड़ाकर अल्पव्यय के साथ कटार-मे-कटार  
भिठाई थी, पर उसे आखिर हारकर भागने ही बना । ताताचारी ने भी  
अल्पव्यय पर बार-बार-बार कराये, पर शास्त्रार्थ में उससे पार न पा सके ।  
कहते हैं कि ताताचारी ने अल्पव्यय दीक्षित को भरवाने की भी चेष्टा की  
थी, किन्तु तानाचारी के मन्त्र-तन्त्रों की परवाह न करके अल्पव्यय दीक्षित  
राजा बेंकटपति राय के शासन-काल में भी सात साल तक जीवित रहे  
और ७३ वर्ष की वृद्धावस्था में अपनी जीवन-लीला समाप्त की ।

एक चौथे असाधारण व्यक्ति की चर्चा भी यही पर हो जाय ।  
'रत्नखेट दीक्षित' राजा जीजी नायक के गुरु भी थे और मन्त्री भी । वह  
महान् विद्वान् थे । उनकी असाधारण योग्यता के सम्बन्ध में लिखा है :

“विपश्चित्तामपश्चिमे, विवाद केलि निश्चले

सपस्त जितयमत्नमेव, रत्नखेट दीक्षिते

बृहस्पति बव जल्पति, बव सर्पति प्रसर्पराट्

असन्मुखश्च वप्सुपश्च, सुमुखश्च दुमुखः ।”

उस समय के एक और दिग्गज पंडित थे गोविन्द दीक्षित । सन्  
१५२७ में इन्होंने तंजावर में रघुनाथ राय को राजगद्दी पर बिठाया था ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विजयनगर-नरेश रामराजराय ने  
ताताचारी को और उसके बाद उसके बेटे को अपने दरबार में आश्रय देकर  
वैष्णव धर्म के प्रचार में खूब सहायता दी । ताताचारी के घोर प्रचार  
तथा झूठ नीति के कारण रामराज को शत्रुओं का विद्वेष सहना पड़ा ।



इस प्रकार जैन, वैष्णव तथा साध्व सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए हितैषिक नीति को भी अपनाकर अपने-अपने दिव्य नरेशों को एक-दूसरे से भिदाकर हिन्दू राज्य की दुर्बल करने के और अन्त में उसके विनाश के कारण बने। विजयनगर साम्राज्य के पतन और उसके बाद की अराजकता और देश की दीन-हीन अवस्था के लिए मन्त्र-तन्त्र के ये आचार्य कितनी बड़ी हद तक जिम्मेदार हैं, इसका विस्तृत व्योरा देने के लिए एक अलग ही ग्रंथ की आवश्यकता होगी।

उस समय के प्रचलित अनेक शब्द हमारे शब्द-कोशों में नहीं मिलते। इसका एक कारण है। भाषा में शान्धिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के शब्द रहते ही हैं। बोल-चाल के शब्दों की अशिष्ट समझकर शब्द-कोश में न देने का परिणाम यह हुआ कि आज उनको बोलने और बताने वाला कोई नहीं रहा। इस प्रकार साहित्यकारों का बोल-चाल की भाषा की अच्युतलना करना स्वयं साहित्य के लिए घातक है।

### इस अध्याय के आधार

१. शुक सप्तति—रचयिता श्री बदरीपति। 'शुक सप्तति' उत्तम कोटि की रचना है। सामाजिक इतिहास के लिए इसका प्रथम स्थान है। इसके दो सम्करण छत्र चुके हैं, किन्तु उनमें छुटियों की भरमार है। वाचस्पति के सम्करण में कुछ पद्य रह गए हैं। वे लेखक के पाम हैं। इस ग्रन्थ के एक-से अधिक शब्द शब्द-कोशों के अन्दर नहीं हैं। इसके अन्दर छोट बगानों जैसी हैं जो प्रेम-शृंगार आदि में अट्टनी हैं। शृंगार में नाक-भी बढाने वाले सम्जन इन छोट बगानों को तो अलग में प्रकाशित कर ही सकते हैं। बदनाम तो यह ग्रन्थ है, किन्तु वास्तव में सुप्रसिद्ध शिष्ट प्रबन्ध-काव्य कहाने वाले शृंगार 'नैरध', 'हरवितास', 'वैजयन्तीविजय', 'विहगणीयम्', 'कुमारसम्भव' आदि ग्रन्थों में जिन भोगादियों का विपुल वर्णन है, वह इसमें नहीं है। इस ग्रन्थ को एक अच्छी भूमिका के साथ, उल्लेखों को सुधारकर बठिन तथा अप्रचलित शब्दों के

अर्थ के साथ सुन्दर रूप में प्रकाशित कर ही देना चाहिए ।

२. वैजयन्ती माला—रचयिता सारयतिम्मर्थे । इसी कथानक को 'विप्रनारायण चरित्र' के नाम से चंदलवाड़ा मल्लन्ता ने भी लिखा है । कविना इसकी वैजयन्ती विलास से प्रीड है । किन्तु हमारे सामाजिक इतिहास के लिए वैजयन्ती ही अधिक उपयोगी है ।

३. पांडुरंग माहात्म्यम् (अथवा पादुरय विजयम्)—रचयिता तेनालि रामलिंगम् । मुप्रसिद्ध हास्य कवि तेनालि रामलिंगम् से इनका कोई सम्बन्ध नहीं । इस पुस्तक का 'निगममर्मापाख्यान' विशेष रूप से हमारे इतिहास के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

४. मल्हण चरित्र	रचयिता	पेदनाटी एरंनार्थ
५. साम्बोपाख्यान	„	रामराडु रण्णा
६. विप्रनारायणचरित्र	„	चंदलवाडुमल्लना
७. चन्द्रभानुचरित्र	„	तरिगोप्पमु मल्लना
८. निरंकुशोपाख्यान	„	सकुमाल रत्नकवि
९. अप्पकवीयमु	„	काकतूर अप्पकवि
१०. गडिकोटमुट्टि		

११. पञ्चतन्त्र—रचयिता वेकटनाथ । इन्होंने अपने सभी कथान प्रवाजीवन से लिये हैं । अपनी हास्य-प्रियता, उभय-भाषा-बहुव्य तथा उत्तम कविता को अपने लोकानुभव के साथ श्रोत-श्रोत करके प्रकाशित करना वेकटनाथ का ही काम है । वीरेभल्लिंगम् पंतुलु ने इस ग्रन्थ पर लक्षण वैद्व्य का लाक्षण लगाया है, पर यह ठीक नहीं । कवि ने लक्षणों की अपेक्षा भावों को अधिक प्रधानता दी है । कविता उत्तम कोटि की है, और सामाजिक इतिहास के लिए बड़े काम की है ।

१२. वेत्तंगोरि वंशावलि ।

: ६ :

## सन् १६०० से १७५७ तक

विजयनगर के पतन के साथ सन् १६३० ई० में आन्ध्र जाति का पतन परिपूर्ण हुआ। हिन्दुओं के पतन तथा मुसलमानों की उन्नति के कारणों पर पिछले अध्यायों में संदर्भानुसार जगह-जगह चर्चा की गई है। बिसेण्ट स्मिथ ने अपने 'आक्सफोर्ड इण्डियन हिस्ट्री' में इस विषय पर विस्तृत चर्चा की है।

मलिक काफूर ने उत्तर में दिल्ली से जो झंडा उठाया तो उसे बिना झुकाये जीत-पर-जीत पाते हुए दक्षिण में सीधे मदुरा तक पहुँच गया। हमने आश्चर्यजनक तो मिर्जापुरा नामक मलिक काफूर का सन् ११६७ में २०० घुड़सवारों को लेकर बिहार पर कब्जा करना है। उससे भी आश्चर्य की बात है ११६६ में उसका केवल १२ घुड़सवारों के साथ बंगाल के नदियाँ बहाव पर दृष्ट पड़ना और राजा का पिछनी पिछनी से भाग निकलना ! उन दिनों बंगाल और बिहार की प्रजा अधिकांश बौद्ध थी। इस्लाम धर्म से ही उसकी यह दुर्गति हुई थी। यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दुस्तान के इतिहास में हिन्दुओं तथा बौद्धों का पतन परस्पर ही लगभगपूर्ण घटना है। उत्तर में मलिक काफूर मुसलमानों ने और दक्षिण में बहमनी मुसलमानों ने हिन्दुओं को मर्त्यियों की तरह मगत दिया था। किराजराह बहमनी का नियम था कि बीस हजार हिन्दुओं की हत्या करने पर तीन दिन तक जशन मनाया जाय। एक बार तो उसने पोंच

नाथ हिन्दुओं को मौन के घाट उतारने के बाद रोड़ा खोना था । हिन्दू जान बचाने के लिए नाथों की तादाद में मुसलमान बने । कारण क्या है ? विसेन्ट स्मिथ से सुनिये :

“युद्ध-क्षेत्र में मुसलमान हिन्दुओं से निश्चय ही कहीं अधिक निपुण थे । जब तक मुसलमान भोग-विलास में नहीं फँसे, तब तक उनसे लोहा लेना हिन्दुओं के बस का रोग न था । बरफानी पहाड़ों से उतरे हुए ये मुसलमान गर्म मैदानों के हिन्दुओं से अधिक बलवान थे । उनके मांसाहार में शाकाहारी हिन्दुओं को हथम करने की शक्ति थी । उनमें जात-पाँत नहीं थी, छुपाटून या खान-पान के भेद-भाव नहीं थे । उनकी यही शिक्षा मिली थी कि काफ़िरों को मार डालने से जन्नत मिलेगी या जंग में मारे जाने पर शहीद बनकर सोचे स्वर्ग में स्थान मिलेगा । वे पराये देश से आये थे । वे जानते थे कि हारने पर उनकी बरबादी निश्चित है । इसलिए उनका नारा था—जीत या मौन । उन्होंने अपने क्रूर कृत्यों से हिन्दुओं को दबा दिया । मन्दिरों-शहरों और बस्तियों में सोना-चाँदी, हीरे और जवाहरात भरे थे । इसलिए वे जानते थे कि उनकी बहादुरी बेकार नहीं जायगी । बम युद्ध में जान की बाजी लगा देते थे । हिन्दुओं की युद्ध-नीति पौराणिक युग की थी । वे प्राचीन नीति-नियमों पर ही भरोसा किये बैठे थे । उन्होंने नये युग की स्थितियों के अनुरूप अपने को बदला नहीं था । हिन्दू-सेना में निम्न-भिन्न जात-पाँतों और उनके अनेक सरदारों की न तो एक जाति थी और न ही वे किसी एक के नेतृत्व में युद्ध ही करते थे । विदेशी सेना की एक जाति थी और उनका एक ही सरदार था । हिन्दुओं की भयभीत करके नितर-बितर करने के गुण उन्हें सुब याद थे । सासकर मुसलिम घुड़मवार जब बेघड़क हिन्दुओं के बीच घुस पड़ने लगे तो हिन्दू अपनी सुष-नुष खो बैठते थे । प्राचीन पद्धति के अनुसार हिन्दू हाथियों पर अधिक विद्वत्ता रखने लगे । यह उनकी मूल थी । घोड़ों के भूषणों के सामने हाथी की घोमी चाल चल नहीं सकती थी । हिन्दुओं ने अपने पास घुड़सवार सेना नहीं रखी और रखी भी तो

उसे तरबकी नहीं दी।”

इस इतिहासकार का कथन अक्षरशः सत्य है।

विजयनगर के महाराजाधिराज भुक्त-धुरु में मुसलमानों से मोरचा न ले सके। द्वितीय देवराय ने (सन् १४२१ से ४८ तक) मुसलिम घुड़-सवारों और उनके तीरदाजों के महत्त्व को पहचानकर अपनी सेना में भी मुसलमानों की भरती की। उनको युद्ध रणों के लिए मसजिदें बनवाई और उन्हें भुँह मंगा दिया। पर सब बेकार। अन्त में देवराय को बहुमती मुलतानों से मुलह करने ही बनी। उन्हें मालाना कर देना स्वीकार करना पड़ा।

तालीकोट की लड़ाई सन् १५६५ में हुई। उसके साथ ही भान्ध की राजनीति कमजोर पड़ गई। विजयनगर छोड़कर उन्होंने कुछ दिनों तक पेनुगोडा में गद्दी संभाली। उसे भी छोड़कर जब चन्द्रगिरी पहुँचे तब तो भान्ध जानि का राजनैतिक महत्त्व मटियामंठ हो चुका था। सन् १६०० ई० तक मुसलमानों की दूरमत आकेले गोलकोंडा में ही थी। गोलकोंडा के मुसलमानों ने एक तो गृध्र शिया होने के कारण और दूसरे वगल में ही विजयनगर के बनवान राज्य के मौजूद होने के कारण हिन्दुओं पर आत्याचार नहीं किये। लेकिन तालीकोट की लड़ाई के बाद दक्षिण में मुसलमानों का बोझ-बाला हो गया। अब तक बाबतीय विजय तथा बेलमें देही राजाओं के अपनी-अपनी सीमाओं के अन्दर सतर्क रहने के कारण मुमकिन भान्ध पर आधिपत्य जमा नहीं पाये थे। इसलिए मुसलमानों का जो कदवा अनुभव उनपर हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की था, वह दक्षिण वाली को नहीं था। अचानक सन् १६०० ई० में और उसके बाद लगातार १५० वर्षों तक मुसलमानों की चढ़ाईयों का मिल-मिला यकता रहा और बर्गुल, कटवा और गुण्डूर में नवाबी राज्य कायम हो गए। उत्तर सरकार का जिंसा भी उनके अधीन हो गया। इस प्रकार एक और मुमकिन धान्तावियों ने और दूसरी ओर निहारों और मुटेरी ने प्रजा को तरह-तरह की तकलीफें देकर गूट-भार मचाईं ! मन्दिर तोड़

दिये गए। महिनाघो का मान भंग किया गया। उन घोर यातनाओं का चित्रण हम कविताओं, पुस्तकों और कहावतों के रूप में आज भी देख सकते हैं। जब विशाखापट्टम की सीमा में मुसलमानों का प्रवेश हुआ तो प्रजा की दुर्गति देखकर वहाँ के कवि गोमुलपाट कूर्मनाथ ने 'सिहाद्वि नरसिंह भगवान्' को ही गानियाँ मुना दी और 'सिहाद्वि नरसिंह शतक' के नाम से एक आक्रोशभरी पुस्तक लिखी। वह १७००-१७५० ई० के लगभग हुए थे। मुसलमानी फौजें पोटनूर, भीममिर्गी, जामी, चोंड वरम् आदि इलाकों में घुसी और मन्दिरों को लूट-पाटकर फिर उन्हें तोड़-फोड़ डाला तथा मनमानी करती हुई गुजर गईं।

कवि कहता है :

"न सोमयाजी महाराज की पूजा का नलदार कलश  
कलश रहा अब, उसमें तुकों की लगती हुक्के की कश !  
यतों के मंडप मंडप अब कहीं रहे ?  
उनमें तो मात्र तुकं तमाछू पान !  
धूरुदान बन गए हवन के पात्र !  
चन्दन चूल्हे का ईंधन !  
घरिसंहारी नरसिंह भगवान् !  
कैसे सहता है तू यवनो से विप्र-  
पराभव का अपमान ?"

लाड़े-लाने मीठी पूढी भी कड़वी हो जाती है !"

फिर कवि भगवान् पर बिगड़कर उसे मुसलमान बन जाने की सलाह देता है। कविता में भगवान् को जो कपड़े पहनाये हैं उससे उस समय के मुसलमानों की पोशाक का पता चलता है :

"त्याग जटा, जुल्फें सँवार ले, बाँध पगड़िया तुरादार  
माथे का टीका पुँछवा ले, कूण्डल अपने फेंक उतार  
चोंगा-याजामा कस ले, पेटो कस, उसमें खोस कटार,  
पत्नी नाँचारम्भा के बीबी नाँचारी नाम पुकार,

सोख तुरुक भाषा नूतिह ! देवाधिदेव तू है बेकार ।  
दम ही नहीं अगर तुझमें, तो तुरुकों का ही बाना घर  
नोचों की बंबगी-सत्ताभी तेरी, सहन शक्ति ॥ वार ॥”

आगे कहता है -

“लल बटोहियों को घर-घरकर सबकी नाकें काटते हैं,  
तू डुक-डुक देला करता, ये घूतें सूटते-घाटते हैं !  
हाथ गुहारें सबी हुई हैं सभी ओर, तू बहरा है !  
तुर्क हमारी स्त्रियाँ बाँध लें, तू पत्थर का पहरा है !  
गाँवों के झूहे ठंडे हैं सेती-बाड़ी उजड़ी है ।  
घर की अगवाडो-पिछवाड़ी बाड़ी-भाड़ी उलड़ी है !  
एक लंबोटी छोड़ सभी कुछ सूट ले गए तुर्क हाथ !”

एक जगह कहा है कि मुसलमानों ने अन्त में जब सिहाद्रि नूतिह भगवान् के मन्दिर पर भी धावा बोल दिया, तब कवि कहता है कि भगवान् ने वरों की फौज भेज दी और मुसलमान भाग खड़े हुए । कवि आगे कहता है कि जब तुर्क रोष भी हो गया है तो इन मुसलमानों का रूप ही मिटा डाल और आन्ध्र मस्तिष्क की रक्षा कर !

बाचीवरम् के निवामी कवि केवटाध्वरी सन् १६००-५० के लगभग के हैं । उनके लिखे मस्तुन ग्रन्थ ‘विदगगुणदर्शन’ में भी मुसलमानों के अत्याचारों का वर्णन है । कुछेक घरा यहाँ दिये जाते हैं

“हाय, इस आन्ध्र देश के अन्दर सब सर्वदा महामानी, मुसलमान ही घूमते-फिरते दिखाई पड़ते हैं ।

‘यहाँ पर घुड़सवार मुसलमान मन्दिरों में घुसकर उन्हें धूल में मिला रहे हैं और धर्म का विनाश करके, भुवन-भीकर रूप धारण किये विचरते हैं ।

“एक भी मुसलमान गुस्से में आकर तलवार घुमाते हुए मंशन में कूद पड़े, तो आन्ध्र सैनिक चाहे एक हजार भी क्यों न हों, उन्हें भागने

ही बनती है !

“हां उन्हें ताड़ी धूब पीने दो, पराई स्त्रियों का हरण करने दो, घूम-घूमकर देश का नाश करने दो, घरों को लूटने दो, ग्रहर के बड़े-बड़े फाटकों को तिनके के समान तोड़ फेंकने दो ! यह सब वे भले ही कर लें, किन्तु इन्द्रपुरी के किवाड़ वे कभी नहीं तोड़ सकेंगे । (अर्थात् नरक में जायेंगे ।)”

सम्भवतः १७५० के लगभग भद्राचल के आस-पास के एक ग्रीर कवि ने ‘भद्रगिरि शतक’ में गोगुल पाटी कूर्मनाथ के समान भद्राचल के रामचन्द्र भगवान् को कोसा है । इस कवि अल्ला पेंग के सभी पद्यों का उल्लेख करने से ग्रन्थ भारी हो जायगा । इसलिए केवल उन्हीं पद्यों का यहाँ उल्लेख-मात्र किया गया है, जिनमें कवि ने मुसलिम सरदारों, मेनानियों, स्थानीय अधिकारियों आदि के द्वारा की गई धूर्तताओं का वर्णन दिया है :

‘छुद्र अचिद्धकणों’ के अनघीन हो विप्र तुकों से कम्पी कटाते रहे ।  
कभी खाँ-साहूबों की न ताबोम की, अनसुनी की भ्रष्टानें !

सजा ले रहे :

मन्दिरों में घुसे तुर्क, कल्लाण-मँड़वे तथा बहनापार मरघट बने;  
आग्न में आग्न भाया, न संस्कृत रही, यहाँ अपसत्य-भायो ॥

जमघट बने

सत्र, प्याऊ, हवनघर सभी बर्बरी की भ्रष्टह बर्बरीयत के

छप्पर हुए,

भागते भाल भी तुर्क धर चाट लें, पुण्ड्र-छाये-तिलक

रफूचक्कर हुए !”

यहाँ पर कवि ने ‘धमा’ का उल्लेख किया है । यह स्थान हैदराबाद राज्य में निर्मल के निकट है । सम्भवतः यह कवि निर्मल के ही धाम-धाम के निवासी रहे होंगे ।

१. अनदिडे कानों वाले मुसलमान ।



त्रिपति वाला जो ग्रान्ध देश का एक तीसरा कोना है, वही पर भी शान्ति न थी। बेंकटाचल-निवासी की टेक के साथ एक 'शत्रु-संहार' शतक मिलता है। इसमें भी सूदखोर भगवान् वेरुटेश्वर की खूब निन्दा की गई है।

इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सारे ग्रान्ध देश के ग्रन्धर अराजकता का साहब नृत्य चन रहा था। जनता की यातनाओं का अनुमान-मात्र किया जा सकता है।

ग्रान्ध देश पर एक ओर जब उत्तर की ओर से विपत्तियाँ-पर-विपत्तियाँ उतर रही थी, तब दूसरी ओर दक्षिण दिशा से एक दूसरी बला दूट रही थी। इसका आगमन सात समुद्र पार से हुआ। वह थी क्रिस्तानो की क्रूरताएँ। तजावर में जब ग्रान्ध का शासन चल रहा था तभी पुर्तगालियों ने कालीकट पर कब्जा करके न केवल तलवार की धार पर बालक बन्दूक की मार पर भी उस सारे समुद्र-तट पर ईसाई धर्म का प्रचार किया। तजावर के राजा चव्वप्पा ने ही सबसे पहले पुर्तगालियों को अपने राज्य के ग्रन्धर आश्रय दिया था। धीरे-धीरे उनका अत्याचार पैर फैलाता गया।

इतने में हार्लैण्ड निवासी डच भी भारत में आये। डचों ने तजावर-निवासियों को पकड़-पकड़कर उन्हें विदेशों में दास के रूप में बेच डाला। तजावर पर मुसलमानों के अत्याचार भी कम नहीं थे। उन्होंने हिन्दुओं की हत्या करके उनके घर-बार आदि सूट लिये थे। यह सब-कुछ तजावर के रंगीने राजा विजयराघव (१६३३-७४) के शासन-काल में हुआ। इस खली राजा ने युद्ध-भूमि में बाक्षियों के हाथ तुलसी-जल भेजा था। इस भूढ़ विश्वास के साथ कि तुलसी-जल-प्रीक्षण से मरे पड़े मुराजमान जलकर राख हो जायेंगे। परन्तु वह धाप ही अपनी स्त्री तथा बच्चों के साथ समूल नष्ट हो गया।

तेरे भीरु समय में अकेले राधाबालू ने ही ग्रान्ध जाति का मान बचाया। वे सब-के-सब हाथों में नहीं तलवारें लेकर मंदान में मरते हुए

वीर गति को प्राप्त हुए ।<sup>१</sup>

ऐसी दृश्यति में अर्थात् मुसलमानों और ईसाइयों के वाद के समय, प्रजा की रक्षा करने वाले राजा महाराज नहीं थे । वे तो साधु-सन्त तथा वेदान्ती महापुरुष थे, जो गीतो और पद्यों से लोगों में नवीन उत्साह भरते हुए तथा समाज का सुधार करते हुए देश-भर में भ्रमण करते फिरते थे । इन सत् पुरुषों में वेमनायोगी तथा पोतलूर वीर ब्रह्मम् मुख्य हैं ।

पोतलूर वीर ब्रह्मम् जाति के सुनार थे । वह सनहवी शती के मध्य के लगभग हुए । वे कन्नूर जिले के पोतलूर गांव के निवासी थे । छुटपन में वनगाने पढ़ने में बँकट रेड्डी के घर डोर चराया करते थे । उन्होंने मूर्ति-पूजा का खण्डन किया, जात-पात के भ्रमों को धता बताई और इसी प्रकार के अन्य उपदेश दिये । वह गृहस्थ थे । उनके बाल-वच्चे भी थे । अनेक शिष्य थे । उनमें एक धुनिया सिद्दिया मुख्य था ।

वेमन्न वेदान्ती थे । ऐसे वेदान्ती, जो संसार को भी अच्छी तरह समझते थे । वह अत्यन्त ही महान् समाज-सुधारक हुए । सबको बुरा-भला कहने लगे, पर साथ ही हँसाने हुए सीधी राह बता देते थे । वेमन्ना के समय शैव तथा वैष्णव अपने-अपने सम्प्रदाय का प्रचार जोरों से चलाने रहे थे । वेमन्ना दोनों की त्रुटियों को खोलकर रख देने थे ।

गैबों के सम्बन्ध में वेमन्ना कहते हैं कि :

“लिंगायत में दोंगा जनमे, बको परस्पर गाली,  
पड़ा तुकं से पाला, पल में धूल-धूल उड़वा सी !”

“मुसलमान मखहब भी कितना सस्ता है सुलतान  
खिला-खिला पशु-मांस सभी के बदल लिये ईमान !”

वैष्णवों के सम्बन्ध में कहता है :

“मछ-मांस सेवेंगे, माते रिद्धते नहीं विचारेंगे ।

ये भाटी के मायो तो भाटी की राह सिधारेंगे ।”

“बने-ठने ये रंगनाथ के मन्दिर में तो जाते हैं ।

१. ‘तंजावर आन्ध्रनायक चरित्र’ ।

मगर खिल रहे मुख से ताड़ी की मुग्ध धँताते हैं !”

मेरी राय में ऊपर के ये चारों पंक्तियाँ वेमन्ना के नहीं हो सकती। एक-दूसरे के साथ गाली-गलौज करने के लिए वेमन्ना के नाम से कविता जोड़ने की चाल-सी की गई जान पड़ती है। वेमन्ना के जीवन-काल के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते हैं कि वह सप्तहवी या अठारवी शती के थे।

उस समय की तेलुगु जाति के सम्बन्ध में बेंकटाध्वरी ने ‘विश्वगुण-दर्शन’ में लिखा है :

“भारत देश के प्रायेक गाँव में धूर्त हो ग्रामाधिकारी हैं और ब्राह्मण उनके चाकर बनकर, उसके बगल में बैठे लिखने का व्यवसाय पटवारीगिरी का काम करते हैं। ऊपर भूमि के बीज बढ़ने के समान एकाध वेद-पाठी ब्राह्मण कहीं हो भी तो वह वर्तन मॉजने का ही काम करता है।” इस वाक्य से प्रतीत होता है कि उस समय गाँवों में रेड्डी वम्मा जाति का ही बोल-बाला था। वही गाँव के पटेल या मुखदम होने थे। गाँव के पटवारी होते हुए भी नियोगी ब्राह्मणों का इतना जोर न था। पूजा-पाठ करके जीवन व्यतीत करने वाले पुरोहित ब्राह्मणों की और भी दुर्दशा थी। अधिकतर ब्राह्मण दूसरों के घर रसोई पकामा करते थे।

उन्होंने यह भी लिखा है कि भारत देश के ब्राह्मण यज्ञ-हवन आदि नहीं करते, वेदाध्ययन नहीं करते, फिर भी इस देश में भगवान् के प्रति भक्ति तथा ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा खूब पाई जाती है। यहाँ के ब्राह्मण गोदावरी नदी में स्नान करके वही रेत का महादेव बनाकर दैन्य-पत्र तथा तिलाक्षत में शिवजी की पूजा करते हैं। उन्होंने ऐसा भी लिखा है कि “गोदावरी के तटवर्ती ब्राह्मण शिवजी की पूजा तथा वेदाध्ययन के साथ पावन जीवन व्यतीत करते हैं।” दृष्टा-गोदावरी के मध्य भाग के ब्राह्मण यज्ञ-हवन आदि करके पवित्र जीवन बिताते हैं।

बेंकटाध्वरी के समय मद्रास में अंग्रेज जम चुके थे। लिखा है कि “अंग्रेजों ने व्यापार की अच्छी उन्नति की है, और अपने अमीन मद्रास

में न्यायालय की स्थापना की है।”

‘तिरुवनिकवेनि’ आजकल मद्रास शहर का एक मुहल्ला है। वहाँ पर पारमसारयो का एक बहुत बड़ा मन्दिर है। उसके सम्बन्ध में बेंकटाध्वरी ने लिखा है कि : = ‘तिरुवतिस्वेनि’ प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। उनको करविणो अर्थात् कुई वाली भील भी कहा है। (सम्भव है तब उस ताताव में कमस कुई झिलती रही हो, आजकल तो गंदा पानी, काई और कीड़े भरे हैं।)

अप्रेजों के बारे में उनसे कहा है :

“हूणाः करणाहीनाः तूरावत् ब्राह्मण्यणम् न गणयन्ति,  
तेषाम् दोषाः पारे बाचाम् ये नाचरन्ति शौचमपि।”

यानी अप्रेजों के दिलों में दया का नाम नहीं है। ब्राह्मणों को तो वे तिनकेके समान भी नहीं गिनते। उनकी बुराईयाँ बाणी के परे हैं। वे तो टट्टी के बाद जन-शौच भी नहीं करने। (आज भी गोरे मूला शौच ही करते हैं, धोने नहीं। कुछ हिन्दुस्तानी भी उनकी नकल करते हैं।) आगे भी उनसे कहा है :

“शौचात्यागिषु हूणा कविषु धनम् सिष्टे च विनष्टताम्।”

ऐसी गन्दी जाति को भगवान् ने लक्ष्मी दी !

बैने, अप्रेजों की प्रशंसा भी बहुत की है। कहते हैं :

“ये हूणा (अंग्रेज) पराये धन के लिए तलवाते नहीं, झूठ नहीं बोलते, चित्र-विचित्र वस्तुएँ तैयार करके बिक्री करते हैं। अपराध की जाँच करके दोषी को दण्ड देते हैं।”

परन्तु यदि बेंकटात्रि आज वहाँ जीवित होते तो वे अपने साम्राज्य की स्थिरता के लिए सब-कुछ कर गुजरने वाले अप्रेजों के लिए ऐसे शब्द कभी नहीं लिख सकते।

आन्दिनु मूर कवि मन् १७५० से पहले का है। उस समय अंग्रेजों, फार्सियों और मुसलमानों ने देश के अन्दर जो अन्धाधुन्व मचा रखी थी उसके सम्बन्ध में मूर कवि ने लिखा है कि वे कच्चा माल और ताड़ी

पीते थे। चिलय पीते और गुदगुडी का गरम पानी पीते थे। गी को मार गिराकर उसकी बोटी उड़ाते और मद पीकर मन्धे हो जाते थे। बटमारी करना और जेब काटना इन बाँझालों की वृत्ति थी। ऐसे वही और हों सकते हैं।

उस समय भानु में कोई केन्द्रीय शक्ति न थी। सारा देश छोटे-छोटे सरदारों में बंटा हुआ था। वे भी बाहरी राजाओं के अधीन थे। अंग्रेज फ्रांसीसी और मुगलमान राजगद्दी के लिए छीना-झपटी करते थे। इससे देश-भर में अराजकता फैल रही थी। दिन-बहुते चोरी-डाकें होतीं थीं। सन् १६०० के आस-पास अमरावती के छोटे-से राज्य में बामि रैड्डी बेंकटाद्रि नायडु का शासन चल रहा था। वह अपने दान-धर्म तथा वीरता के लिए बहुत प्रसिद्ध था। "ह्रीक नाथो" वाली कहावत उसीके कार्य-कलापों से चल पड़ी थी। उन दिनों बटमारों का बड़ा खोर था। जान लेकर माल छूट लेते थे। इससे देश में घातक मचा हुआ था। बड़ी मेहनत और दौड़-धूप करके बेंकटाद्रि ने एक सौ डाकुओं का पकड़ भंग-बाधा, उन्हें सिलसिले से खड़ा करवाया और सबकी गरदन उड़ा देने का हुक्म दिया। यह देखकर चोरो ने कहा कि बसतार के दूसरे छोर में गरदन उड़ाना शुरू करें। वे समझने में कि जब कुछ मारे जा चुकेंगे तो राजा के दिल में दया उत्पन्न होगी और बाकी सारे बच जायेंगे। किन्तु राजा ने एक न मुनी और सबके सिर उड़ा दिये। इस प्रकार बेंकटाद्रि ने प्रजा को चोर-डानुओं से छुटकारा दिलाया।<sup>१</sup>

उस समय के लोगों की वैश-भ्रूया के सम्बन्ध में हमें विशेष कुछ ज्ञान नहीं। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि आज के जीवित बड़े-बूढ़ों के और आज में तीन सौ वर्ष पूर्व के लोगों की पोशाक में विशेष अन्तर न था। भर तो गिर पर ब्राप (घम्रेजी बान), शरीर पर पोटा और पैंतों में बूट देन के जोने-जोने में दिगार्ई देने हैं। तब से चीजें नहीं थीं। पुरप साधारणतया गिर पर गाँजे बाँधते, साँके गोंन

१. 'बादु पय मंजरी' के आधार पर।

भी ये और बाँके भी । कुरता-कमीज न थी । लोग छः बन्दों वाला 'बारहबन्दी' अँगरखा पहना करते थे । बन्द चाहे कम हो, पर यह बारह बन्द कहलाता था । बाद में चार ही बन्द लगते रहे । फिर भी उसका नाम 'बारहबन्दी' ही रहा । साधारण लोग इसे नहीं पहनते थे । वे केवल एक मोटी-सी चादर ओढ़ लेते थे । कानों में बालियाँ सभी के होती थी । धनियों के कान के ऊपरी भाग में एक छोटी बाली होती थी, जिसमें मोती या हीरे लगे रहते थे । बहुतेरे बाजू पर सोने या चाँदी के बड़े पहना करते थे । वेमना का एक पद्य है ।

"जिसके सिर पर पाग, बदन पर चादर, कान में कुण्डल हो,  
झंगुलियों में झंगुलियाँ हों, और पेट भी तौंदल हो,  
सभी सगे नाती उसके बन जाते हैं मुँह के बल हो,"

एक खाते-पीते व्यक्ति की साधारणतया यही पोशाक होती थी । अपना काम बनाने के लिए ऐसे व्यक्ति के पास सभी लोग कोई-न-कोई बहाना लेकर पहुँच जाते थे । महावत है, "क्या फरोड़पती के घर कौड़ी नहीं चलती ?" गोया कौड़ी सबसे छोटा सिक्का था और उसका अच्छा चलन था । (तब का पैसा चलने के बाद तक कौड़ी का रिवाज था । कोई पचास साल की बात है, एक पैसा देकर दुकान से कौड़ियों के हिसाब कई चीजें खरीद लाते थे ।)

वेमना का एक और पद्य है : जिसका भावार्थ है :

"कौड़ी-कौड़ी धन जोड़ो कपो सालच के व्यवहार कर ?

घरती में गाड़ो, पीछे पछतामो ठीर बिसार कर ?"

उन दिनों भी घरों में सन्दूक-बक्से और बाहर बैंक आदि नहीं थे । लोहे के धड़ों में मोना-चाँदी भरकर गाड़ देते थे । दैनिक व्यय के पैसों को भी पिछवाड़े जाकर मिट्टी के नीचे दबा रखना और फिर आवश्यकता पर ले लेना, साधारण प्रथा-सी थी । कभी-कभी रखते एक जगह और दूँडते दूसरी जगह थे और परेशान हो जाते थे कि कोई उठा तो नहीं ले गया । दूसरे सबमुच उठा भी ले जाते थे ।

स्त्रियों का पुरखों को और पुरुषों का स्त्रियों को बदा में करने के लिए बशीकरण की औपधियाँ खिलाने का रिवाज तब भी था। विशेष-कर स्त्रियाँ अपने पुरखों को बदा में रखने के लिए उल्टी-सीधी वस्तुएँ खिला देती और बेचारा उसे खाकर जो सो जाता वो उठने का नाम भी न लेता। बेचारो रोती-पीटती रह जाती। इस भाग्य का बेमना का एक पद्य है। किन्तु मँली से प्रतीत होता है कि यह बेमना की कविता नहीं है। एक और पद्य है :

“घो के बिना बना भोजन तो, जानो जैसे घास है।

भाजी सग न हो, तो कुछ भी हो कुत्ते का घास है।”

अर्थात् लोग साधारणतया भोजन में घी तथा सख्खी का प्रयोग करते थे।

लोगों को सगुन पर विश्वास अधिक था। उसके सम्बन्ध में भी पद्य मिलते हैं। लिखा किमी ने हो, बेमना के नाम की छाप लगा दी। जैसे बेमना के नाम से एक पद्य यह है :

“कहे येमना, रास्ता काटे दरहा, बाँभन, मंकी, नाग,  
या घागे हों तो जानो निश्चय भ्रनधं, निश्चय दुर्भाग।  
लेकिन अगर कहीं संयोग मिले गरुड के दर्शन के,  
तो समझो निश्चय कि मनोरथ पूरे होंगे सब मन के।”

ऐसे धन्य-विदवास घाज भी पाये जाने हैं। किन्तु जित्त बेमना में धन्य-विदवामो का खण्डन किया हो, वह ऐसे पद्य कभी भी नहीं लिख सकता था।

मोनी की माँग की बात एक पद्य में कही गई है कि ‘विधवा मोती की माँग सँबारे क्यों?’ (उत्तर भारत में माँग में सिंदूर लगाने हैं।) उक्त पद्यास में जान पड़ता है कि दक्षिण देश में उन दिनों पुर्वतियाँ माँग में मोतियों की लड़ी पहनती थीं।

बगिबिन के बारे में बेमना ने बार-बार कहा है ‘बगब’ वृषभ में बना है। बगब भगवान् शिव के साँट को कहते हैं। जैसे गाँव छोड़े जाते हैं, उसी प्रकार घर की बेटी को उसबिन बनाकर घरों में रखने

की धार्मिक प्रथा थी। साँड व राँड दोनों का समाज में आदर था। यह प्रथा शीवों में थी। जवान लड़कियाँ रुद्राक्ष की माला गले में डालकर और माथे पर विभूति पोतकर मन्दिरों में बैठती थीं और बाहर घूमा-फिरा करती थी। यह ताताचार्य से पहले की बात है। वैष्णवों ने इस प्रथा में कुछ परिवर्तन किया। वैष्णव गुरु अपनी तिप्याओं को तिरमणि (तिलक) और तुलसी-आसा पहनाकर दासरी बना डालते थे।<sup>१</sup>

वेमना ने चित्रकारी की उपमाएँ दी हैं। इसमें सिद्ध होता है कि उस समय इस कला की महिमा थी। इगलीक (सिद्धूर) आदि से रंग तैयार किये जाते थे और उसीसे चित्र रंगे जाते थे।

वैद्यक में आयुर्वेद की ही पद्धति चलती थी। पर देशी वैद्यक का ही प्रचार अधिक था। जैसे किसी को कुत्ता काट ले तो सिर मुँडवाते, जगह-जगह चमड़े पर नदनर लगाकर उन स्थानों में नीबू का रस भर देने थे। आज भी कहीं-कहीं ऐसा किया जाता है। वेमना के नाम से वैद्यक पर भी कुछ पद्य हैं। एक पद्य में लौह-भस्म की महिमा खूब गाई गई है :

“लौह-भस्म-सेवन शरीर में फुरती लाता,  
लौह-भस्म-सेवन क्षय तक को दूर भगाता,  
लौह-भस्म-सेवन से बढ़कर काया-कल्प न होगा,  
नित सेवे तो लोहे से बल अल्प न होगा।”

शंती के विचार से ये पद्य वेमना के नहीं जान पड़ते।

अब पशु-चिकित्सा की बात सुनिये। देहात में आज भी बलि के द्वारा ही इलाज होता है। पशु-चिकित्सालय तो अब खुल रहे हैं। वेमना का एक पद्य है :

“पशु को जो हो जाये दोम्मा-रोग,  
बकरे को बलि दो, बतलाते लोग,

१. अनन्तकृष्ण दर्माश्रित ‘वेमना’।



कहे वेमना, धकरा तो छुद खाना होता !

देवी का तो नाम बहाना होता !”

वेमना के समय में कांच की कुप्पियाँ प्रचलित थीं। उन कुप्पियों में दिया जलाते थे। श्रीनाथ ने भी अपने ‘भीमेश्वर पुराण’ में कांच की कुप्पी की बात कही है कि उसमें दस्तूरी-जल भरकर रखा जाता था।

यह तो पता नहीं कि ‘चन्द्रशेखर शतक’ का रचयिता कौन है, पर भाषा से इतना तो प्रबल है कि वह किसी ब्राह्मण की लिखी हुई पुस्तक है, और वह ब्राह्मण नेल्सूर प्रान्त का निवासी रहा होगा। ब्राह्मणोंतर जातियों के रीति-रिवाज की उसने हँसी उड़ाई है। पुस्तक के रचना-काल का भी ठीक अन्दाजा नहीं लग पाता। अनुमान होता है कि यह कवि सप्तहवी-प्रठारहवीं शती में रहे होंगे।

अपने देश में तम्बाकू की प्रथा डालकर देशवासियों को तबाह करने वाले पुर्तगाली ही थे। तम्बाकू का श्रीगणेश भारत में सन् १६००-५० के लगभग हुआ है। इस ‘चन्द्रशेखर शतक’ में उसकी चर्चा है। इसलिए उस कवि का जीवन-काल १६०० और १७५० के बीच में होना चाहिए। चन्द्रशेखर का एक पद्य है :

“सब सगी, से चित्तम-तमाखू बड़े सकारे  
अगिया साने जा पहुँचे संभना के द्वारे,  
बड़ी चिरीरी की, कर जोरे, दांत निपोरे  
लेकिन भभका संभन, न जाने काहे को रे !  
बोला, (घर में तीन-तीन अगियाँ) थीं जो-पर)  
‘भाग-भाग पापी, कोई अगियन हियाँ पर !’  
बड़ा बवेला किया, बहुत सारी दी गारी,  
बोला, बलपुग है, सारे पापी, अविचारो !  
बोला, अगियाँ ये देने की नहीं, कहा मेरे को मूरत.

बिगाड़ा—घातम<sup>१</sup> ! चुपके पलट पड़ा मुँह की चाल ।”

पद्य की भाषा एकदम देहाती है ।

हमारे लङ्कपन तक इस देश में गाँवों और शहरों में भागवन, रामायण आदि पुराणों की कथाएँ करना और लोगों का धडा से मुनना एक परिपाटी-सी रही है । यह प्रथा सत्रहवीं-अठारहवीं सती में भी अवश्य थी । दामाधिकारी तथा धनी लोग गाँव वालों के लिए मनोरंजन आदि का प्रबन्ध करवा देते थे । पड़ति यह थी कि गाँव में कोई विद्वान् या नट आ जावे तो मारा खर्च धनी लोग उठाते थे, पर आनन्द सब लोग उठाने थे । दोम्मरी (नट) खेत मानो उन दिनों का सरस्वत था । (दोम्मरी एक जाति ही है, जो सरस्वत के-के करतब दिखाती गाँव-गाँव फिरती है । अनु०) । ‘चन्द्रसेखर-सतक’ के रचयिता ने तो यहाँ तक कहा है कि ब्राह्मणों की विद्याएँ भी दोम्मरी के करतबों के सामने तुच्छ हैं ।

उत्तर भारत में ‘मात्हा’ का जो स्थान है वही स्थान आन्ध्र में ‘बुरंकथा’ या ‘ताननन्दाना’ को प्राप्त है । आज भी गाँव के लोग ‘बुरं कथा’ को बड़ी श्रद्धा से सुनते हैं । चन्द्रसेखर ने अपने एक पद्य में चन्द बुरंकथाओं के नाम गिनाकर कहा है कि ये तो सुन सों भव न जाने फिर सुनने का ऐसा सौभाग्य कब मिले !

“तिम्म राजु की कथा, धीर-भाया सोरो के गीत सुने,  
नायकुराळ की कथा सुनो, नन्दी के बचन पुनोत सुने,  
पांडु चरित सुनके तो मन को पीर उठो है जाग रे !  
ना जाने इस मूरख के फिर कब बहुरें ये भाग्य रे ?”

भागोत नाटक—(यह नौटंकी की तरह का होता है विवरण पहले आ चुका है ।) चन्द्रसेखर तिम्मा है :

“रात्र मैंने स्वांग देखे, जान के !  
सोह गुरु की बड़े सुन्दर स्वांग थे !

भागवत की सत्यनामा का वित्ताप क्या कहूँ कहने न देते बोल घाप !

१. दुरात्मा ।

राधिका सचमुच बड़ी है पापिनी !

रविमणी की सौ .....!

चन्द्रशेखर क्या मुनासिब था यही ?”

इस प्रकार के नाटक करने वाले अधिकतर दासरी जानि के होने थे । जिस प्रकार दोम्मरी की वृत्ति नट के करतब दिखाना है, उसी प्रकार दासरी की नाटक दिखाना है ।

जातरा (मेला)—आज की तरह उन दिनों भी देव-स्थानों पर 'जातरा' या मेला लगता था । भगवान् की सवारी निकलती थी । चारों ओर के लोग दकट्टे होते थे ।

कवि चन्द्रशेखर कहता है :

“मैंने अनेक तीर्थ देते, पर अवनगोडा, जातरा का मुकाबला कोई भी नहीं कर सकता । वहाँ दोल, नगाड़े, नारसिंगी आदि तो बजते ही हैं । कवि ने रंजुराइनम (झूलों) को भी खर्चा की है । ये यही झूले हैं जो आज भी मेलों में एक बड़े खम्भे के चारों ओर हवा में गोल-गोल घूमते हैं । सौदो की खर्चा पीछे छा चुकी है ।”

पाठशाला और पढ़ाई—उन दिनों गुरु जी रेत बिछाकर उस पर भँगुनी से बणमाला के अक्षर, गिनती और पहाड़े लिगवाया करते थे । इस तरह की पाठशाला के नमूने आज भी जही-जही देहात के अन्दर दिखाई दे जाते हैं । तीस-बालीस साल पहले तो ऐसी पाठशालाएँ ही अधिक थी । कवि कहता है :

“मेरे पिताजी ने बचपन में मुझे रामायण, भागवत और महा-भारत आदि खूब पढ़ाये । नीचे की पढ़ाई, अर्थात् जमीन पर रेत बिछाकर सोखने की चीजें पहले ही सिखा ली थीं । किन्तु आह्मण डॉन माते हैं कि मेरी पढ़ाई तो कुछ नहीं, असल पढ़ाई तो उनकी होती है । ये छोटे हैं, मूर्ख हैं ।”

पाठशाला की पढ़ाई मूरज उगने से पहले भँधेरे में ही शुरू होती थी । गुरु जी के पास एक छड़ी या कीड़ा होता था । जो विद्यार्थी पाठ-

धाना में सबसे पहले पहुँचता उसनी हथेली पर वे 'श्री' निश दिया करते थे। इनके को 'तारा' कहकर कोड़े में छू लेते थे। दोनों ही चीज कोड़े के सिरे से की जाता था। उसके बाद एक, दो, तीन.....बैठे-बैठे बच्चे आगे-पीछे पाटलाना में पहुँचते, बैठे-बैठे उनके झुक बढ़ते जाते और घर मोड़ते समय कोड़े की डठनी ही चोटें उनकी हथेली पर पड़ती। 'विद्यया विनाश' में चमकूर बेकंट कवि ने एक भुवती के नखों की चमक का वर्णन करते हुए तारों को चमक को इनका ही दर्जा दिया है।

'श्री' लेने के लिए बच्चे अपने बाप को बाध्य करते कि वह रात भद्यते ही गुरुजी के घर छोड़ आवें। वहाँ पहुँचकर 'श्री'-बच्चा गुरुजी के कम्रान में घुसकर छिप मो जाता (और घंटे-घर के 'नूतान' दानी गीठ-आदना में मौजूक पहुँचकर और बच्चों के थो-तारा बन को उलट-पुलट कर खाना—धनु०)।

धाना उन समय नी घूम और बपों में सोय छत्रियाँ लगाया करते थे, पर बहुत कम। छत्रियाँ आत्रकन की-सी नहीं थीं। आत्रकल केरन के देहाती बांस के डन्डे में बांस की ही सीतियाँ लगाकर उन्हें ताड़ के पत्तों में गोच छा लेते हैं और उससे छत्ररी का काम लेते हैं। इसे 'कोड़े' कहते हैं। कोड़े ही टेन्गु में गीहुगु (धाना) हुआ। इसका मतलब यह नहीं कि हमारे पूर्वज ऋषड़े की छत्ररी बनाना जानते ही न थे। मगवान् की मवारी के समय अयशा राजाओं के सिरों पर दो गज के डन्डे में रग-बिरगें ऋषड़ों के छाते चलते थे। इस सम्बन्ध में मास्कर कवि, जो १७०० ई० के लगभग हुए हैं, निम्नते हैं : "बिम प्रकार प्रत्येक पेड़ की प्रत्येक डाल छाते की टण्डी नहीं बन सकती, कहीं-कहीं एकाध डाल ही ऐसी मिलती है, उसी प्रकार जाति में एकाध व्यक्ति ही धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं। ऐसे सज्जनों की संख्या अधिक नहीं हो सकती।"

चाम के पुतले—मनोरंजन के कामों में चाम के पुतलों का भेत भी एक है। विविध प्रकार के गीतों के साथ चाम के पुतलों को नचाने का रिवाज आन्ध्र देश के चन्दर आदिकाल से था। प्राचीन कवि पातकुरिकी,

सोमनाथ ने अपने 'पंडिताराध्य चरित्र' में लिखा है :

“ 'भ्रमर', 'जाल' या 'ययनम्' आदि की 'पंचांग घेरणि' सतित गति, रमणीक विधि में नाचने वाले नटन-भणि तथा प्रथम पुराणतन उत्तम चरित्रों की यथायथ अनु-चरित अभिनोत करने में कुशल अभिनय-अप्रतिरथ..... ”  
आगे कवि कहता है.

“ दक्ष शैलूषिणी दोम्मरी जानि की  
प्रांशु वशाप्रभूडा-स्वित्ता नाचतो,  
नाचतो हो यथा देवता-कम्यका !  
रज्जु पर, मक्षिणी नाचतो हो यथा !  
वस्त्र की छोट अभिनोत करते कथा  
राम के काव्य भारत-कथा आदि की  
सूत्रनट, यग्नवत् पुततिथी नाचती !  
मक्ष-गन्धर्व-विद्याधरी भूमिका  
में उतरते कुशल नाट्यपुट नटप्रवर ! ”

‘भास्कर-शतक’ के रचयिता कवि बौन हैं, कुछ पता नहीं चलता ।  
किंतु उनके समय में भी वाम के पुतलों के नाच हुआ करते थे । अपनी  
कविता के सम्बन्ध में भास्कर कवि कहते हैं :

“ यह तेरी कृपा है कि साम्य हुई मेरी कविता अति सुख्य प्रभो !  
षट-छोट चतुर नट के कर में नाचते सूत्र के सुख्य, प्रभो !  
घरना धमड़े के पुतले की कम हो सकती है यह मजाल—  
भायुक-मन-मोहन नृत्य करे, कि हिला भी सके तिर-सुख्य, प्रभो ! ”

‘भास्कर शतक’ के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि इन दो  
कवियों में मिलकर रचा है । इस पद्य में ‘येरी’ शब्द का प्रयोग इस मान  
का प्रमाण है कि इसका रचयिता कोई एक ही व्यक्ति था, एकाधिक  
नहीं ।

विप्र विनोद—आन्ध्र देश के शन्दर विविष्ट मनोरंजन की एक और

भी सामग्री देखने में आती है ! वह है 'विप्र विनोद' । इसके करने वाले ब्राह्मणों की ही एक जाति-विशेष के लोग थे, जो किसी शुद्ध देवता की उपासना करके या मन्त्र-तन्त्रादि क्रियाओं से मदारी के-से उच्चकोटि के करतब दिखाया करने थे । आज भी इस तमाशे के करने वाले ब्राह्मण ही पाये जाते हैं । गोलकोडा के अन्तिम मुलतानों के समय गुण्डुपल्ली मुनुराजु नामक एक मन्त्री हों गए हैं । उनके सम्बन्ध में एक कविता है :

"गुण्डुपल्ली-श्रीमंत मन्त्री-सिलामणि जो  
भोजन को उठने सज्जनकोटि-भूजन उपरांत !  
उनकी 'बंति' बंठ भोजन पाना ही भोजन है,  
नहीं तो समस्त शूकर-दास-'बंति'-पर्यापांत !  
'बंतियाँ' वे 'बंतियाँ' नहीं हैं, बल्कि 'बंतियाँ' हैं,  
'बंति', 'बंति'-जोड़ी, विप्र-'बंति', 'बंति'-चोरिकांत !"

सन् १७०० ई० के बाद आन्ध्र में भी भूमि की व्यवस्था महाराष्ट्र-पद्धति पर होने लगी थी । कवि कहता है :

"यशस्वी मन्त्री श्री नरसिंहराय की कोठी का व्यय तो केवल परिमेय उमरी सांवासर-व्यय से जो कि वर्ष भर में करता है एक बेस पांडेय ।"

देशमुख, देशपांडे आदि की यह पद्धति महाराष्ट्रों की है ।

पेम्पसिंग राजु की सोय प्रौढ देवराय का समकालीन बनाते हैं । यह ठीक ही होगा, क्योंकि उसके समय तक आन्ध्र में मिर्च का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था । मिर्च जो आज दक्षिण में इतनी अधिक खाई जाती

१. हिन्दी के 'सारंग' शब्द की तरह तेलुगु का 'बंति' शब्द अनेकार्थ-वाची है । इस पद्य में प्रयुक्त 'बंति' शब्द के प्रथम, द्वितीय आदि प्रयोगों के क्रमिक शब्दार्थ ये हैं : (१) पंगत । (२) टोलो, पांत । (३)-(४) पंगत । (५) गेंद । (६) कांटेदार साठो या नोक-बरछी । (७) हल के बंलों की जोड़ी । (८) विप्र विनोद (बाजी-गरी) । (९) चोरी (के उद्देश्य से ही रखी गई यानों चोरों) की जगोजो ।

है, पहले-पहल स० १६०० ई० में अमरीका से आई और तीन सौ साल के अन्दर ग्रान्ध में उसका इतना अधिक प्रचार हो गया कि मिर्च अब ग्रान्ध की खास पैदावारी में से मानी जाती है और घास भोजन-सामग्री भी। और कहीं इतनी मिर्च नहीं होती। पहले यहाँ के लोग गोल मिर्च ही खाया करते थे, जो कि विदेशों से आती थी। "गोल मिर्च से रहित निपट फोकी सरकारों और परल-रहित दानी से मिली सम्पदा-सरी" (दोनों समान हैं)। मिर्च का रिवाज हमारे देश में सन् १६०० ई० के बाद ही बना।

तेलुगु-देश का कुछ हिस्सा समुद्र-तट पर है। इस कारण प्राचीन काल में ही यहाँ समुद्री व्यापार होना आ रहा है। किन्तु हमारे समीक्षित समय में देश के अन्दर अराजकता का दौर-दौरा था। व्यापार की रक्षा करने वाला कोई नहीं था। गोलकोंडा का पतन हो चुका था। बड़पा-बमूल में अफगानी नबाब हुजूमत कर रहे थे। दक्षिण में अरकाट के नबाब की सत्तनत थी। उत्तर सरकारों में अंग्रेज और फ्रांसीसी ने जहाँ-जहाँ व्यापार किया, वहाँ सब भी और सब भी हम हिन्दुस्तानियों के लिए कोई जगह नहीं है।

अंग्रेजों ने सन् १६११ ई० में मद्रासी अन्दर (मगूलीपटम्) में अपना एक कारखाना खोला। उस समय मगूली की मलमत बहुत प्रगिद्ध थी। 'मलमत' का पर्यायवाची अंग्रेजी 'ममलिन' शब्द इसी मगूलीपटम् से बना है। गोलकोंडा सत्तनत के अकबर्ना मादन्ना मन्त्रियों के आग्रह में जाकर अंग्रेजों ने उन्हें तरह-तरह के नजराने दिये और बदले में अपने लिए मद्रास प्रान्त में व्यापार करने की अनुमति ली। गोलकोंडा के पतन पर उन्होंने औरंगजेब से बीन-पट्टे की पट्टी पर मद्रास, विजगा-पटम्, मगूली, मोटुपल्ली तथा अन्य स्थानों में व्यापार करने के इजारे की मंजूरी ले ली।

तेलुगु प्रान्त भारत-भर में हीरो की भाँति के नाम में मशहूर था। गोलकोंडा के हीरो का नाम योरप-भर में गूँज उठा था। किन्तु वास्तव

उस्तिपल्ली में भी कभी हीरों की खानें थी। हैदराबाद से तीस मील की दूरी पर 'नरकोंडा' नामक स्थान पर ही 'निजामूहीरा' प्राप्त हुआ था। यह तोल में ३७५ केरट था, और दाम उसका दो लाख बीस हजार पौंड था। इनके प्रतिरिक्त कर्नूल जिसे के रामल्लाकोट में भी हीरे की खानें थी। 'रब्बा' (नग) हीरे को ही कहते हैं। यह रामल्लाकोट पहले रब्बलाकोट अर्थात् हीरों का दुर्ग कहलाता था। रायल सीमा के मन्दर एक गाँव बसकूर है। यहाँ भी हीरे निकलते थे। बसकूर के लोग आज भी वर्षा होने के बाद जहाँ-जहाँ से पानी की धारा बही हो, वहाँ-वहाँ हीरों की खोज करते हैं और कुछ पा भी जाते हैं। गुत्ती के निकट मुनिमडुगु में भी हीरे की खानें थी। परन्तु आजकल कहीं भी हीरों की खुदाई नहीं होती। 'वेणुगोपाल-शतक' में एक पद्य आया है। उसमें उन्हें मन्दा का वाङ्मय है। इससे प्रतीत होता है कि ग्राम्य देश में उस समय मुसलिम हुकूमत भली भाँति जम चुकी थी। पद्य यों है :

"राजा यदि मंदमति हुआ तो उसका शोचन  
राय देगा : शर्मियों को देना मत कोई शान !  
मुग्धी कहेगा एक, बहरी बहेगा धान !  
तथा करेगा मन्त्रमवार तीनों बतरान !  
सिर झुता सिरिस्तेरार करेगा सिफारिश एक,  
कर जोड़ के बकीत देगा श्लोषों की टंक  
प्राप-तृष्ण देशपांडे बाँव से कहेगा कुछ  
कान में मुसद्दी मन्त्र फूँकता रहेगा कुछ....."

'वेणुगोपाल शतक' के एक पद्य में कुछ शर्मियों का, विशेषकर उनकी पोशाक का वर्णन है। सम्भव है यह वर्णन राजवारी राजाओं का हो :

"बड़ी-बड़ी धुटिया पर पाग, पग-पावुकाएँ,  
उजली धुती चादर ओ धोती साँवरार,



मे गोलकोडा के इर्द-गिर्द हीरे की कहीं कोई खान नहीं थी। यावनिपेर नामक पादचाल्य यात्री ने लिखा है कि : "गोलकोडा से दक्षिण की ओर पाँच दिन का रास्ता चल चुकने के बाद कृष्णा नदी के तट पर 'रावल-कोडा' नामक एक स्थान मिलता है। वहाँ पर हीरे की खानें थीं।" वह लिखता है कि उस समय वहाँ पर ६०,००० मजदूर काम करते थे। सन् १५६५ ई० में कृष्णा-तट पर ही एक और स्थान कोल्हूर में हीरों का पता लगा। कोल्हूर यही से निकला था। एक ही शताब्दी के भन्दर कोल्हूर की हीरे की खान बनार-भर में प्रसिद्ध भी हुई और फिर बंद भी हो गई। हीरों के कारण कोल्हूर का वैभव इतना बढ़-बढ़ गया था कि कोल्हूर के खड्गहरी पर एक गाया ही चल पड़ी थी। 'कोल्हूर की जगमग' एक कहावत ही बन गई थी। क्या यों है—

कोल्हूर में एक देवता का प्रादुर्भाव हुआ। उस देवता की विशेषता यह थी कि यदि कोई व्यक्ति अपने पैसाब में अपना निगोकर उस देवता की मूर्ति पर चढ़ाये, तो सारे दान हीरों में बदल जाते थे। सभी लोगो ने यही किया दुहरानी शुरू की और बड़ी-बड़ी कोठियाँ खड़ी कर ली। गहर में एक गरीब ब्राह्मण भी रहता था। उसकी ब्राह्मणी यह रट लगाये रहती थी कि तू भी हीरे बना ले और मुझ से जीवन बिताया कर ! पर ब्राह्मण तनिक भी न मानता। वह कहता कि चाहे कुछ हो जाय, मैं तो ऐसा निवृत्त कार्य बदापि न करूँगा। एक दिन आधी रात के समय एक बूढ़ा ब्राह्मण ने बाहर से आकर उसका किवाड़ खटखटाया। गरीब ब्राह्मण ने किवाड़ खोल दिया। बूढ़ा उसे अपने साथ गहर के बाहर ले गया और अँधेरी रातों में जगमगाते कोल्हूर शहर को दिखाकर खुद गायब हो गया। यह थी कोल्हूर की जगमग। दिन कहे ही क्या बता रही है कि यह केवल कोल्हूर के हीरों की कहानी है। ब्राह्मण-ब्राह्मणी की नहीं।

हैदराबाद और नमूलीपट्टम् की सड़क पर बन्दरगाह से पचास मील पर 'परिटाना' नाम का एक स्थान है। दरिद्रता ने और पास ही

उत्तिपल्ली में भी कभी हीरो की खानें थीं। हैदराबाद से दूरी पर 'नरकोंडा' नामक स्थान पर ही 'निजामूहीरा' था वह तोल में ३७५ केरट था, और दाम उसका दो लाख पौंड था। इनके प्रतिरिक्त कर्नूल जिले के रामल्लाकोट में भी खानें थीं। 'रब्बा' (नग) हीरे को ही कहते हैं। यह रामल्ला रब्बलाकोट अर्थात् हीरों का दुर्ग कहलाता था। रामल सीमा एक गाँव बसकर है। यहाँ भी हीरे निकलते थे। बसकर राज भी वर्षा होने के बाद जहाँ-जहाँ से पानी की धारा बही वहाँ हीरो की खोज करते हैं और कुछ पा भी जाते हैं। मुत्ती मुत्तिमदुगु में भी हीरे की खानें थीं। परन्तु आजकल कहीं भी खुदाई नहीं होती। 'वेणुनोपाल-रातक' में एक पद्य प्राप्ता है उन्हें शब्दों का बाहुल्य है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रान्ध के समय मुसलिम हुकूमत अभी भीति जम चुकी थी। पद्य यो है :

“राजा यदि मंदमति हुआ तो उसका दोबारा  
राय देना ; श्रमियों को देना मत कोई शान ।  
मुग्धी कहेगा एक, बरशी बहेगा धान ।  
तथा करेगा मजूमदार सीजी यतरान ।  
सिर झुला सिरिष्टेदार करेगा सिफारिश एक,  
कर जोड़ के वकील देगा इतीलों की टंक  
भाष-हड़प देशपांडे राँव से कहेगा कुछ  
कान में मुसहो मन्त्र फूँकता रहेगा कुछ.....”

‘वेणुनोपाल रातक’ के एक पद्य में कुछ श्रमियों का, विशेषकर उनकी पोशाक का वर्णन है। सम्भव है यह वर्णन राचवारी राजाओं का हो :

“बड़ी-बड़ी घुटिया पर पाण, पय-पादुकाएँ,  
उबसी बूली घावर भी घोती सांगदार,

छाया पड़ी। उसका अन्तर साहित्य पर भी पड़ा। कविता में फारसी शब्द भरने लगे। 'विष्णुगोपाल शतक' का ऊपर उद्धृत पद्य इसका प्रमाण है।

इस प्रकार सन् १७०० तक पहुँचते-पहुँचते तेलुगू जाति का सम्पूर्ण पतन हो गया। उनके बाद रह गए केवल फुटकर छोटे-छोटे सरदार। उनका स्तब्ध जित्त हृद तक रहा, उसी हृद तक हमारी बलाओं की मर्मादा भी रही।

यह है सन् १६०० से १७५७ की हमारी सामाजिक स्थिति का स्पूल रूप।

### इस अध्याय के आधार

१—वेमना पद्य—वेमना के नाम से बहुत सारे शेषक पद्य हैं। मान्य होता है कि धनने से अनबन रहने वालों की दूषणा करने के उद्देश्य से बहूँ ने वेमना की छाप (भण्डिता) अपनाकर—'बहे वेमना' या 'मुन वेमा' की टोक लगाकर कहकर पद्य रच-रच लिये। रसवादों को कविताबद्ध करके या 'विद्वत्ताभिराम वेमों' कहकर भी बहुत लोगों ने तुकबन्दीयाँ कर डाली। झूठ-झूठ बात बनाकर गाली-मलौबा करने वाले कवियों ने अपना नाम तक देने का भी साहस नहीं किया और बेचारे वेमना को बदनाम किया। मेरे विचार से वेमना ने सभी पद्य 'घाट बिल्ली' में लिखे हैं। यदि त्याग का पूरा ध्यान रखकर सुन्दर कविता लिखी है। उन सभी पद्यों की छानबीन करके पुनः प्रकाशित करना चाहिए।

२—बैकटाश्वरि—मूल 'विद्वत्गुरादशमम्' संस्कृत में है। तेलुगू अनुवाद उतना अच्छा नहीं है।

३—गोगुत्पाटि कुमनाब—'सिंहादिनायनिह शतक'।

४—भल्लापर कवि—'भद्रादि शतक' (तीसरे और चौथे नम्बर के) ये दोनों शतक मुचलपानों के अत्याचारों के वर्णन में भरे पड़े हैं।

५—चन्द्रोत्तर शतक—कवि ने अपना नाम नहीं दिया है।

उसके लिए राजाओं ने चावरें पसार दीं ..."

इसी मूर कवि ने प्राचीन परम्पराएँ मिटते देखकर अपने मनस्ताप भड़काये हैं।

कवि ने कहा है :

"अग्रहार मिट गये, मिटी माटी में भाकी माटी,  
बंद पंडितों की भावक धों' भस्म की परिपाटी,  
वर्षाशन न रहे, बंधक पड़ते हैं हाथी-घोड़े,  
धर्मस्थल धोरान, कबीश्वर भाग्य-भरोसे छोड़े,—  
कठिन-हृदय होता न नृपति तो ये सब होते छोड़े ?"

सन् १६०० से आन्ध्र का राजनीतिक पतन आरम्भ हुआ। हाँ तजावर में रघुनाथ राय के राज्य-काल में ( सन् १६१४ से १६३३ ई० तक) आन्ध्र जाति की कुछ प्रतिष्ठा अवश्य बनी रही। रघुनाथ राय के समय मुसलमानों के आक्रमण अथवा अत्याचार नहीं चल सके। उसने मुसलमानों को हराकर आन्ध्र संस्कृति को कुछ दिन तक गिरने से बचा लिया। उसके शासन-काल में तेलुगु यक्ष-गानों की अच्छी उन्नति हुई। नाटक, नृत्य और संगीत-कलाएँ समुन्नत हुईं। आन्ध्र-देश के अन्त्याय अथवा अपनी पूर्वाजित सम्यता तथा संस्कृति से वंचित हो गए, किन्तु तजावर ने पुराने दुर्गों की रक्षा ही नहीं की, बल्कि नये-नये दुर्ग भी बनाये। स्वयं रघुनाथ राय ने एक सुन्दर दुर्ग, राज-भवन तथा सुन्दर कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण करवाया। संगीत-कला का वह अद्भुत ज्ञाता था। उसने स्वयं एक वीणा तैयार की थी, जो 'रघुनाथ मेल' के नाम से प्रसिद्ध थी। दक्षिणी भाषाओं में 'मेल' संगीत-मंडली को कहते हैं। आन्ध्र-सरस्वती ने तजावर के मोती महल में नृत्य किया था। इस प्रकार यही कविता, संगीत, नृत्य, शिल्प इत्यादि ललित कलाओं की अपेक्षा उन्नति हुई, परन्तु रघुनाथ के मरने के बाद उसके बेटे के राज्य-काल में तजावर की स्वतंत्रता भी मटियामिट हो गई।

इन डेढ़ सौ वर्षों के भीतर तेलुगु जाति पर मुसलमानों की गहरी

छाया पड़ी। उसका अक्षर साहित्य पर भी पड़ा। कविता में फारसी शब्द भरने लगे। 'विश्वगुणसाल शतक' का ऊपर उद्धृत पद्य इसका प्रमाण है।

इस प्रकार सन् १७०० तक पहुँचते-पहुँचते तेलुगू जाति का सम्पूर्ण पतन हो गया। उसके बाद रह गए केवल फुटकर छोटे-छोटे सरदार। उनका स्वभाव जिष्ठ हृद तक रहा, उन्हीं हृद तक हमारी बलाओं की मर्मादा भी रही !

यह है सन् १६०० से १७५७ की हमारी सामाजिक स्थिति का स्थूल रूप।

### इस अध्याय के आधार

१—बेमना पद्य—बेमना के नाम से बहुत सारे सोंपक पद्य हैं। मानूम होता है कि अयने से अनयन रखने वालों की दूषणा करने के उद्देश्य से बड़ों ने बेमना की छाप (भण्डिता) अन्तर्नाकर—'कहे बेमना' या 'गुन बेमा' की टंक लगाकर कहकर पद्य रच-रच लिये। रसवार्ता को कविताबद्ध करके या 'विन्दताभिराम बेमा' कहकर भी बहुत लोगों ने तुकबन्दियाँ कर डाली। झूठ-झूठ बात बनाकर गाली-मलौज करने वाले कवियों ने अयना नाम तक देने का भी साहस नहीं किया और बेचारे बेमना को बदनाम किया। मेरे विचार से बेमना ने उन्हीं पद्य 'घाट बिल्की' में लिखे हैं। यत्र त्याग का पूरा ध्यान रखकर सुन्दर कविता लिखी है। उन सभी पद्यों की ध्यानवीन करके पुनः प्रकाशित करना चाहिए।

२—बेंकटाप्यरि—नून 'विश्वगुणसंनम्' संस्कृत में है। तेलुगू अनुवाद उतना अच्छा नहीं है।

३—गोणुनपादि कूर्मनाथ—'मिहाद्रिनाथनिह शतक'।

४—भस्तापेर कवि—'भद्रादि शतक' (तीसरे और चौथे नम्बर के) ये दोनों शतक मुत्तनमानों के अत्याचारों के वर्णन से बरे पड़े हैं।

५—अम्बरोत्तर शतक—कवि ने अयना नाम कहीं नहीं दिया है।

पुस्तक हास्य-रस से भरी हुई है। नेल्सूर प्रांत के ग्रामीण शब्दों के अर्थ सबके लिए अगम्य हैं। ऐसे शब्दों की टीका के साथ पुस्तक पुनः प्रकाशित की जानी चाहिए।

६—अज्ञितम सूर कवि—‘रामलिण्देवर शतक’।

७—वेणुगोपाल शतक।

८—भास्कर शतक।

प्रस्तुत समीक्षा ने अन्तर्भूत काल के लिए हमें केवल शतकों पर निर्भर करना पड़ा। अर्थात् इस युग में अच्छे कवियों का सृजन भी नहीं हो सका। हमारे इतने शीघ्र पतन का यह भी एक कारण है।

## सन् १७५७ से १८५७ तक

घोरंगजेब की मृत्यु सन् १७०७ ई० में हुई थी, और सिराजुद्दीन की १७५७ में। इन पचास वर्षों के भीतर मुगल-साम्राज्य धीरे-धीरे गिरता गया। इस बीच भारत में मराठा-शक्ति हो बड़ी-बड़ी थी। सन् ११६६ में मुसलमानों ने केवल १८ सवारों को लेकर बंगाल को जीता था। सत्तार में इससे बढ़कर विचित्र घटना दूसरी कोई नहीं है। साठे पाँच सौ साल के बाद वही मुसलमान पचासी की लड़ाई में मुँह के बल गिरे। अंग्रेजों की यह जीत सन् ११६६ ई० की मुसलमानों की जीत के समान ही एकदम सस्ती पड़ी थी। इतनी सरलता से हिन्दुओं की परास्त करने वाले मुसलमानों की ऐसी दुर्गति क्यों हुई? हिन्दुओं ने चार-पाँच साल के अनुभव के बाद भी इससे शिक्षा नहीं ली। मराठों ने सह्याद्रि पर्वतों की घाटियों में छुड़सवारों को लेकर कठोरता से, कूटनीति से, पतुराई से और चालबाजी से मुसलमानों को तुक-ब-तुक जबाब दिया था। किन्तु भारत को जीतकर बाबर के हवाले किया था राजपूतों ने ही। मतलब यह कि उनमें स्वाभिमान तथा देशाभिमान का अभाव था। मुसलमान भी भोग-विलास में मग्न रहने लगे। कमजोर पड़ गए। सभी अंग्रेज भाये। मुसलमान जब हिन्दुस्तान भागे थे, तब वे अपने समुपेत युद्ध-तन्त्र तथा अपने नवीन धर्म के लिए घोर आसक्ति-जैसे गुणों को और इन गुणों के सहयोगी जूझ, धोला आदि दुर्गुणों को भी अपने साथ

लिये हुए आए थे। ये गुणावगुण उनमें पलासी की लड़ाई तक बराबर बने रहे। पर अंग्रेज उनके भी गुरु बनकर आए। अंग्रेज यह सोचकर भारत आये थे कि यहाँ पर पेड़ों पर दीनार लगते हैं, भाड़-भूँडकर सोने की चिट्ठिया उड़ा ले जायेंगे। यूरोप में उच्चकोटि की तोपें-बन्दूकों बन चुकी थी। ये इन नये अस्त्रों में सुसज्जित होकर भारत-भूमि पर उतरे थे। हिन्दू-मुसलमानों ने सन् १४०० में ही तोपों से काम लेना शुरू कर दिया था, किन्तु वे घटिया दरजे की तोपें थी। बन्दूकों को भी यहाँ वालों ने अभी-अभी हाथ लगाया था। किन्तु तैलुगु-माहिश्य में बन्दूक का उल्लेख 'शुक-सप्तति' के समय से ही चला आ रहा है। कविरीपति के कामदेव भगवान् ने प्राचीन तीर-कमान फेंककर नये प्रकार की "तम्भि रुम्मी फिरंगी" का अपना लिया था। एक रेड्डी बहू के वर्णन में कवि ने कहा है

"तम्भी-रुम्भी-फिरंगी बोरा तुरंगी बिलास" अर्थात् तोप के समान चाल चली।<sup>१</sup>

यह 'रुम्भी' तोप रुम की बनी हुई बन्दूक या तोप नहीं थी? उस समय खेत-तोप का शब्द बन्दूक के लिए प्रसिद्ध तो नहीं था? अस्तु। अंग्रेजों के अस्त्र-शस्त्र बढ़िया थे। हिन्दुस्तानी सेना में बयायद-परंज में शिक्षित सिपाही नहीं थे। अंग्रेजों की सेना में सैनिकों को युद्धोपयोगी बरदी पहनाकर उनको अच्छी शिक्षा दी जाती थी। अंग्रेजों ने मरुआ को उतना महत्व नहीं दिया जितना कि अच्छी मैनिंक-शिक्षा को। भारत का इतिहास ऐसी घटनाओं में भरा पड़ा है, जिनमें नावों की बेइमानी फौज को अच्छी तरह शिक्षित कुछेक हजार सिपाहियों ने ही बढ़िया अस्त्रों के प्रयोग से महज परास्त कर दिया है। अंग्रेज अपने साथ एक घोर अस्त्र भी ले आए थे : 'धोला' ! यही उनका असली हथियार था। त्रिभुवनचतुराई से अंग्रेजों ने हमारे ही बीच में देव-द्रोहियों को तैयार किया, वह चतुराई मुसलमानों में नहीं थी। देश के अन्दर अन्धविश्वास छोटे-बड़े



राज्यों का होना, हिन्दुओं और मुसलमानों का परस्पर बैमनस्य, मुगल साम्राज्य का पतन, ये सारी बातें अंग्रेजों के लिए अनुकूल ही पड़ती थी। इस देन में एक राजा को दूसरे से भिटाकर और फिर किसी एक का साथ देकर अंग्रेज हमारे इलाके-पर-इलाके हड़पने लगे। मीर जाफर के देश-द्रोह और अपनी बातबाजी से उन्होंने बंगाल को हथिया लिया। इन विशेषताओं को समझकर यदि हम इतिहास पढ़ें तो देश की राजकीय परिवर्तनों की कहानी सहज ही समझ में आ जायगी। मुसलमानों ने जुलम-जबरदस्ती करके, तलवार के जोर पर भारत में अपने मजहब का प्रचार किया, तो अंग्रेजों ने उपाय के साथ प्रेम से लाखों हिन्दुओं को ईसाई बना लिया। सन् १६५२ ई० में ही दक्षिण के मलाबार में सेंट थामस नामक पादरी ने ईसाई-धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। उस समय के बने हुए सीरियन क्रिस्तान छात्र भी मलाबार में पाये जाते हैं। इस प्रकार ईसवी शती के आरम्भ से ही हमें ईसाई धर्म की बू-बास लग चुकी थी पर, बहुत कम। बाद में जब पुर्तगाली उतरे तब उन्होंने भी मुसलमानों के समान ही भारत के पश्चिमी तट पर मलाबार और तमिल प्रान्त में बन्दूकें दिखा-दिखाकर ईसाई बनाये। फ्रांसीसियों ने भी यही किया। ध्वेज्वाय नामक फ्रांसीसी पादरी तो हिन्दुओं की तरह घांती पहनकर तमिल परगों में भूमता और उन्हें ईसाई बनाता फिरता था। उसने हिन्दू धर्म की दूषणा करते हुए एक बड़ी पोथी ही लिख डाली। मानना पड़ेगा कि नामा जाति-सम्प्रदायों से भरा हुआ, पुमापूत की बीमारी से ग्रस्त हुआ, तमिल देश तो ऐसी पोथी का अधिकारी था ही। ये बीमारियाँ वैसे तो आज पूरे भारत-भर में ही फैली हैं, पर दक्षिण में और विशेषकर तमिल देश में उनका रूप प्रयुक्त ही भयंकर था; और है। पर हम है कि ठोकरें-पर-ठोकरें खाकर भी न नई (धब्बों) बात सीखते हैं, और न पुरानो (पुरी बात) छोड़ते हैं। ईसाई पादरियों को देखिये, जो २००० साल से जहाजों पर सात समुद्र पार करके छ-छः मास तक तफर करके, पराचे देश में बसकर, पराई भाषाएँ

सीखकर, दाहरी, देहाती और जंगली बोलियों तक का अभ्यास करके, यहाँ के मँने-कुचेंले लोगों को गले लगाकर, उनके लिए स्कूल-अस्पताल आदि खोलकर अपने धर्म का प्रचार करते हैं। यह दृश्य हम आज इतने वर्षों से देखते आ रहे हैं, पर क्या हम भारतीयों को उनका दशाश या दानाश भी करने की प्रेरणा होती है ? अस्तु ! पलासी की जीत के बाद ईसाई धर्म के प्रचार में अधिकाधिक बढ़ावा मिलता गया।

### आर्थिक स्थिति

पलासी की लड़ाई के बाद देश बड़ी तेजी से अंग्रेजों के अधीन होने लगा। सन् ११२० में १७०७ तक के ६०० वर्ष की लम्बी अवधि में सब-कुछ करते हुए भी मुसलमान सारे भारत को अपने अधीन नहीं कर पाए थे, किन्तु अंग्रेजों ने मी सात के ही भीतर भारत में अपना आधिपत्य जमा दिया। अपने शासन के इस दौर में अंग्रेजों को हम भारतीयों की सुविधाओं का विचार तनिक भी नहीं था। अपने देश के तैयार माल के लिए भारत को अपना बाजार बनाने के उद्देश्य से उन्होंने यहाँ के उद्योग-धंधों का सत्यानाश कर दिया। लोग यहाँ के मरने कि जियेंगे, इसकी चुरा भी परवाह न करके उन्होंने अधिकाधिक कर वसूल किए। प्रायः से सौ मील पहले डिगबी नामक एक अंग्रेज ने स्वयं लिखा था कि उनके राज में हिन्दुस्तान में अकाल बहुत पड़े। मुसलमानों ने भी हिन्दुओं को छूटा था, पर तूट का माल हम देश के भीतर ही रहा, बाहर नहीं गया। किन्तु अंग्रेजों ने व्यापार के रूप में, करों के रूप में, सरकारी नौकरियों के रूप में और अन्त में प्रत्यक्ष तूट के द्वारा जो कुछ भी बटोरा वह सारा-ना-सारा सात समुद्र पार भेज दिया। हमारी यह संप्रदा सदा के लिए ईगलिस्तान चली गई और यही हमारे आर्थिक पतन का कारण हुआ।

सन् १८०० ने पहले ही ग्राम्य देश के समस्त सीमा के चारों ओर कडवा, कर्नूल और धनन्तपुर तथा गुट्टर के साथ-साथ उत्तर सरकार का

इलाका भी मंशेजों के ऊबड़े में आ चुका था। सन् १८५७ ई० में तो सारा भारत ही मंशेजों के ऊबड़े में आ गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तब तक मालूम का सारा इलाका भी उनकी छत्रछाया के नीचे आ चुका था। उत्तर सरकार कहलाने वाले ब्रिगाडापट्टन पूर्व एवं पश्चिम मोरादारी और इच्छा जिलों में जमीन के मानिक बड़े-बड़े जमींदार थे। ये जमींदार बड़ी पुराने सरदार थे, जो मुगलों को कर-मात्र देकर अपने-अपने इलाकों के मन्दर राजाओं के समान राज करते थे। राजा साहब पैदापुर मुगलों को तीन लाख सत्तर हजार रुपया वार्षिक कर देने थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उससे पाँच लाख सठ हजार बमूल किया। इसी प्रकार दूसरे जमींदारों पर भी कर बढ़ा दिये गए। उत्तर सरकार में ३१ जमींदारियाँ थी। उत्तर सरकार के जिलों के पुराने नाम थे—बिकाकोल, बमदा, श्रीकाकुलम्, राबमदरी, एल्लूर, सांदापल्ली। उन्हें १७६५ में मंशेजों ने मुगलों से ले लिया था। कम्पनी ने उत्तर सरकार की जाँच-पड़ताल के लिए एक कमेटी नियुक्त की। कमेटी ने सन् १७८८ ई० में अपनी रिपोर्ट दी। उस रिपोर्ट से कुछ बातों की तज़वील मिली। मालूम हुआ कि उन जमींदारों में से कुछेक उड़िया राजाओं की सनान थे। उन जमींदारों के निजी सौरात भी थे, जिन्हें हुदेली कहा जाता था। हर गाँव में बारह घामदार होते थे। रेड्डी (पटेल), कण्णम् (पटवार), चौकीदार, तोटी, नेरडी (पानीदार), पुरोहित, घम्यापक, जौशी, बड़ई, लुहार, कुम्हार, थोडी, नाई, बेंच और वेदया। इन मन्त्री गिनती घामदारों में थी। हर खेत की पैदावार से उन्हें निश्चित भाग मिला करता था। इस प्राचीन पद्धति को कम्पनी ने खत्म कर दिया। उत्तर सरकार तथा बंगाल में कम्पनी ने दबामी बन्दोबस्त की व्यवस्था की। सौरात जमींदारों को दिये तो वही, लेकिन उनके लिए भी नोताम बीत-बीतकर पहले बड़ी-बड़ी रकमे बमूल कर ली।

मद्रास के मंशेजों में उत्तर सरकार को छोड़कर अन्य जिलों के मन्दर रैनतवारी पद्धति चालू की गई। इसका श्रेय विशेषतया धानस मनरो

की है। उस जमाने के ग्रामेजो में वह सबसे बच्छा धादमी माना जाता था। मनरो ने मद्रास के दलाके में २४ साल तक काम किया था। अन्तिम वर्षों में उसने रायल सीमा के लिए बड़ा परिश्रम किया। अन्त में कर्नूल जिले के अन्तर्गत पत्तिकोडा में हैजे से उसका देहान्त हो गया। रायल सीमा की प्रजा उससे बड़ा स्नेह रखती थी। कई हिन्दुओं ने तो अपने बच्चों के नाम 'मनरोप्रिया' रखे और इस प्रकार उसकी याद को ताज़ा रखा। आज भी पट्टेदारी पद्धति वास्तव में मनरो की पद्धति ही है। पहले जमीनों ठेके पर दी जाती थी। गाँव-के-गाँव नीलाम बाँसकर ठेके पर दे दिये जाते थे। कादतबारों का सरकार से सीधा सम्बन्ध नहीं था। ठेकेदार उनसे मनमानो एकमे सगान में वसूल करते थे। मनरो के कारण कादतबारों का सरकार से सीधा सम्बन्ध हो गया और वे अपनी जमीन के मालिक भाप हो गए। अब वे अपने खेत को चाहे जिसके भी हाथ बेच या खरीद सकते थे। अब वे अपना सालाना सगान सीधे सरकार को देने लगे। मनरो ने करो में भी काफी कमी बर दी थी।

तेलुगु इलाक़ों की इस रीयतदारी पद्धति के सम्बन्ध में उस समय के साहित्य में हमें अधिक जानकारी मिल नहीं पाई। रमेशचन्द्र दत्त ने इसे रीयतदारी पद्धति कहा है।

॥नेल्दूर के कलक्टर ने कोयूर की रीयतदारी पद्धति की जाँच कराई। सन् १८१८ ई० में जमीनों की पैमाइश की गई। सिचाई वाले खेतों पर २०) खंडी की दर से सगान बिठाती गई। इस हिसाब से बन्दो-बस्त किया गया कि जमीनों की उपज से कुल ३४३७४ ४० की रकम आई। निराई वगैरह पर सब की तरह सब धः ४० संकड़ा के हिसाब से किसानों की फटीती थी गई। इस हिसाब से कुल २२३४ ४० का पध काटकर बाकी ३२१३६ ४० का ज़ेदबारा सरकार और किसानों के बीच करना था। हर २० में से ६ हिस्से धर्मान् संकड़े ४५ ४० किसान को और प्यारह हिस्से खान्ते संकड़े ५५ ४० सरकार को दिये गए। इस

प्रकार कोचूर में सिचाई वाली जमीनों से किसानों को १४४६२ और सरकार को १७६६७ रुपये मिले। इसी प्रकार सूखी (बिना सिचाई वाली) जमीनों पर २८ रु० के हिसाब से बाजार-भाव लगाने पर सरकार को ७६८ रु० की आय हुई। कुल मिलाकर कोचूर ग्राम से सरकार की १५०० रु० की आयदानी हुई।" अर्थात् पैदावार में से शर्धी सरकार ने ले ली।

गाँव के बारहो कामदारों को कितना हिस्सा दिया गया, इसके सम्बन्ध में तेलुगु साहित्य में कोई मसाला नहीं मिलता। किन्तु बुकानन नामक एक व्यक्ति ने सन् १२०० ई० के बंगलूर के एक गाँव की तफसील दी है। हम उसीको यहाँ दे देते हैं। इसी दर से हम तेलुगु-देश का भी अनुमान लगा सकते हैं :

गाँव की कुल पैदावार	२४०० सेर
कामदारों या आगमियों का हिस्सा	—
पुरोहित	५ सेर
दानधर्म	५ "
जोशी	१ "
ब्राह्मण	१ "
नाई	२ "
कुम्हार	२ "
सुहार	२ "
पोबी	२ "
सरपि ( नाज नापने वाला )	४ "
चांडल	७ "
रेड्डीपटेल	८ "
पटवारी	१० "
चौकीदार	१० "
देशमुख	४५ "

देसाई

४५ सेर

नेरड (पानीदार)

२० "

कुल खर्च १६६ सेर

ऊपर के व्योरे से स्पष्ट है कि पंदावार में से सवा पाँच सैकड़ा हिसाब आयागारो के हिस्सों में निकल जाता था। १० हिस्से ठेकेदार ले लेता। बाकी की सरकार और किसानों के बीच बराबर-बराबर बाँट दिया जाता था। रमेश दत्त की पुस्तक में तेलुगु-देश का व्योरा तो नहीं है, किन्तु मंभूर, मलावार और तमिल देश का व्योरा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

सन् १८१३ ई० में इंगलिस्तान की पार्लियामेंट की तरफ से हिन्दुस्तान में जाँच कमिटी बैठी। उसमें मनरो ने बयान दिया था कि "भारत में खेत पर काम करने वाले मजदूरों को माहवार २ से ३ ४० तक मजदूरी मिलती है। प्रत्येक मजदूर को खाने-पीने पर साताना खर्चा नौ से साढ़े दोरह ४० तक का खर्च पड़ता है। लोग थोड़े कम्यल छोड़कर गुडारा करते हैं। विलायती कम्यल खरीदने की शक्ति उनमें नहीं है। हिन्दुस्तानी अच्छे दस्तकार होते हैं, अच्छी सम्भल-बूझ रखते हैं। अच्छे अंग्रेजी उद्योगों का भी वह अनुसरण कर सकते हैं।" यह पूछे जाने पर कि क्या भारत की स्त्रियाँ दामियो की-सी नहीं होती? मनरो ने जवाब दिया : "हमारे घरों में जितनी स्वतन्त्रता स्त्रियों को दी जाती है, वह भारतीय स्त्रियों की भी प्राप्त है।" जब उससे यह समाधान पूछा गया कि हमारे व्यापार से तो हिन्दू ( भारतीय जनता की ) सम्भ्यता निश्चय ही उन्नत हो सकती है। तब मनरो ने मार्कवा जवाब दिया - "हिन्दू सम्भ्यता से आपका मतलब क्या है? विज्ञान में, राजनीति में, तथा विद्या में वह हमसे कम जरूर है, किन्तु यदि सम्भ्यता के लक्षण उत्तम किसानी, अनुपम निर्माण-कला, जीवन की सुख-सामग्रियों के जुटाने, गाँव-गाँव में पाठशाला चलाने, दान-धर्म तथा प्रतिष्ठि-सत्कार, नारी के आदर आदि को माना जाय, तब तो भारत वाले यूरोप वालों से कितने

भी माने में पीछे नहीं हैं। अगर हिन्दुस्तान और इंगलिस्तान के बीच सन्ध्या का ही सौदा होवे, इंगलिस्तान हिन्दुस्तानी सन्ध्या को आयात से लाभान्वित हो होगा।" मनरो ने अपने एक ऊनी दुशाले को दिखाते हुए कहा कि : "यह सात साल पुराना हो चुका है, पर आज भी नया लगता है। यह हिन्दुस्तान का बना है। आज यदि कोई मुझे इंगलिस्तान का नया दुशाला ला दे और उसके बदले में यह पुराना दुशाला मांगे तो मैं हरमिठ नहीं दूंगा।"

सुदासी नामक व्यक्ति ने उसी जाँच कमेटो के सामने बयान दिया था : "हम लोगों ने हिन्दुस्तानी उद्योगों को तबाह किया है। अब भारतवर्ष का जीवनाधार केवल भूमि ही है। आज (सन् १८१३ ई०) हिन्दुस्तानी रेशम यहाँ पर हमारे यहाँ की कीमतों से २०% कम दामों पर बिकता है। किन्तु हमारी सरकार उस पर ७० या ८० प्रतिशत कर लगाकर अबवा उसकी बिक्री की मनाही करके हिन्दुस्तान को घोर हानि पहुँचा रही है। यदि ऐसा न किया जाता तो हमारे कल-कार-खानों में ताते पड़ जाते।"

मनरो ने कहा था : "भद्रास के घाते में कम्पनी वालों ने जुताहों को बुताकर मजबूर किया कि वे सस्ते दामों पर कपड़ा तैयार कर दें। बुनाई में देरी हो जाने पर कम्पनी के नीकर जुताहों पर पहरा बिठा देते थे और एक घाना रोज के हिसाब से उनसे जुर्माना वसूल करते थे। फिर उन्हें बेत लगवाते थे।"

१७५७ में पनासी की लड़ाई में मोंटेज़ों की जीत हो चुकने के बाद भी हमारे व्यापारी हिन्दुस्तानी माल को हिन्दुस्तानी जहाजों पर लाद कर इंग्लैण्ड में जाते थे। जब हमारे जहाज तदन की टेम्स नदी पर पहुँचें तो मोंटेज़ उन्हें देखकर ऐसे पहरा उठे मानो नदी में आग लग गई हो। उन्होंने कहा : "ये हिन्दुस्तानी हैं। हमारे गुताम हैं। क्या हमारे दात ही हमारे देश में आकर व्यापार में हमसे होड़ लगायेंगे?" इस

उनका इतना सोचना भर था कि देखते-ही-देखते हमारा व्यापार भी और हमारे जहाज भी गंधे के सींग की तरह छूपकर हो गए। थब रही केवल जमीन। उसमें भी आधी से अधिक उपज तो कम्पनी ही हड़प कर जाती थी।

सन् १७६४ से ६६ ई० तक अंग्रेजी माल का व्यापार लगभग बाईस लाख सील हजार रुपये के मोल तक हों जाता था। सन् १७८० में तीस लाख पचास हजार का हुआ। सन् १७८१ में इर्लैंड में बाप्प-यम का प्रादुर्भाव हुआ। उस साल पचासी लाख पचास हजार का माल भारत में उतरा। सन् १७८० तक उनका व्यापार एक करोड़ बीस लाख तक बढ़ गया। सन् १८०० ई० में उसका चौगुना हो गया। सन् १८०६ में दस करोड़ बीस लाख का माल यहाँ भेजा गया। १७८३ में पार्लमैण्ट में रिपोर्ट पेश हुई थी, जिसमें बताया गया था कि राज हिन्दुस्तान में हर-एक दुकान के अन्दर इंगलिस्तान की घनमल ही बिकती है। और यह बिकती है देशी माल के बीचाई दाब पर।<sup>१</sup>

यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति अंग्रेजों का भारत में आना, हमारे उद्योग-धंधों का पतन आदि सभी इसी घंटी की घंटनारण हैं। यह ऐसी मार थी कि जिसमें हम संभल नहीं पाये। अंग्रेजों ने हमें कभी संभलाने ही नहीं दिया। समीक्षित-काल में भारत के लिए पुराने मुगल-साम्राज्य की अपेक्षा नया अंग्रेजी राज्य ही अधिक भयंकर था।

### आचार-विचार

सन् १७५७ के बाद से भारत में अंग्रेजी राज्य जमाने लगा। देश के अन्दर बड़े-बड़े परिवर्तन होने लगे। मुसलमानों का प्रभाव घटने लगा। देश पर और देश-वासियों के आचार-विचारों पर अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ने लगा।

कूचिपुडि लिप्ता कवि सन् १७५७ के बाद हुए है। 'कुवकुटेश्वर शतक'  
१. रत्नम क विलिपम तृतीय कृत 'हिन्दू धर्म इतिहास', पृष्ठ १३२-३१।



मे उनकी कुदृष्ट इस प्रकार प्रकट हुई है :

“निगमागम और पुराणों की पढ़िताई कौड़ी-भोल नहीं,  
उपहासजनक विद्याओं की कौड़ी ही चलती सभी कहों।  
नानाविध पद्य-पद्य-रचनाएँ सब-को-सब बेकार हुई,  
कि कयाएँ अहीर-गड़रियों की सब जनकंटों के हार हुई।  
बेगी भाषाओं को पूछे सब कौन ? फारसी चलती है,  
आचार-विचार न बेंगल-शैव, कि दोनों पर जाति मचलती है।”

एक घटक ‘गुब्बल चन्ना’ के नाम से है। कुल का कहना है कि यह कवि कोई गड़रिया था। सम्भवतः यह कवि सोलहवीं शताब्दी सप्तहवीं शताब्दी के सवि-काल का है। बाबिल्ला मद्रास के प्रकाशन में यही पद्य प्रकट किया गया है।

इस शतक के एक पद्य पर यह अनुमान लगाया गया है कि इसका लेखक गड़रिया था। दूसरे पद्य पर यह पद्यवा है कि वह ब्राह्मण नहीं था और रायल सीमा का निवासी नहीं था। एक और पद्य में बकोल के लिए ‘प्लौडर’ और गिरवी के लिए ‘तनछा’ शब्द का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि यह गुब्बल-चन्ना उत्तर प्रदेश का निवासी था, और सन् १८००-२० ई० का था।

उपरोक्त पद्यों के भाव इस प्रकार हैं :

“जिसके माता-पिता गुहारा करते होंगे,  
कहीं गड़रिये या बनिये के घर पर।  
वही मैं कि मंदिर तक को हूँ देख न पाता,  
ऐसा हुआ बकोल कि रहता नसे फुलाकर।”

स्पष्ट है कि कवि गड़रिया नहीं है। अपने-आपको इस तरह नहीं लिख सकता। इसी प्रकार नीचे के पद्यों से प्रतीत होता है कि वह ब्राह्मण भी नहीं है।

“तहसन का छौंछ गोंगुरे का छट्टा-सा साप सराहे कौन भला ?  
गोंगुरे का मजा सभी है, तेन मिलाकर खूब उछे दे खूब गला।”

शायद घड़ियाल दोख जाय कहीं बस्ती मे ।”<sup>१</sup>

बड़े शहरो मे घण्टे नहीं, बल्कि ‘घड़ियाँ’ बजाई जाती थी । इसका वर्णन पहले भा चुका है । घड़ो को पहले ‘घड़ियारम्’ घड़ियाल कहते थे । नाम तो वही है, पर आजकल की घड़ी-घड़ी नहीं, बल्कि घण्टे बताती है ।

नारायण कवि के समय में मन्दिरों और मकानों पर में विविध रंगों से भित्ति-चित्र बनाये जाते थे :

“हरित भौं हरिद्र कृष्णरक्षितम्, अथवात, शबल,  
धूम्र वर्ण, श्याम वर्ण, कपिल वर्ण, धा पाटल  
भौति-भौति वर्णों की तूलिका से चित्रधन,  
मन्दिर में विविध-चित्र चित्र कर रहे सकन” ।<sup>२</sup>

डेढ़ सौ साल पहले ग्राम्य जाति में जिन खेलों का प्रचार था, उनकी एक लम्बी सूची कवि ने देल रखी है । किन्तु छंद है कि माधे से अधिक शब्दों के तो आज अभ्र भी नहीं लगाये जा सकते । यदि कोई परिश्रम करके उन खेलों का खोरा तैयार कर दे और उस पर एक छोटी-सी पुस्तिका यदि लिख डाले, तो बहुत ही धन्य हो । कवि के वर्णित खेलों के नाम यो हैं :

‘बूचि, जाबिल्ली, बूचि कम्बुस कश्चि  
गुडिगुडि, कुम्बम्, कुम्बेन गिरि चौकटि मोकटि  
कायें, चिन्ताकु चेन्दुनु, पुतिपाटें, चिट्त्तें पोट्त्तें,  
तूरण तुङ्गा, तूनिम तानिग, चहुगुड, मोके  
भाटा, चिल्ला कट्टे, बागिलमता, तनुपिल्ला,  
यावकी, गुपट गुरिगिज, कौडा कोति,  
चिरकज बिल्ला, जल्लेमामोडुगु, बिल्लाविय,  
लविरु बिरिक बंडें, गडुर बोडी, घोवकसि कोवकु.

१. ‘हसविमति’, ३-१५६ ।

२. वही, ३-६ ।

वरिगाय पोदु, योनगिजा, बोंगरमु ।”<sup>१</sup>

ऐसे बहुत सारे खेनो के वर्णन भी दिये हैं। उत्साहीजन मूल पुस्तक में देख लें।

प्रायः लोग अपने आँगन में चट्टानों पर शेर-बकरी की पटिया छुदवा लेते थे।<sup>२</sup> आज भी इसकी प्रथा देहातो में पाई जाती है।

मुर्गबाजी में आन्ध्र जाति की रुचि अत्यन्त प्राचीन है। तेलुगु साहित्य में केतन कवि से लेकर नारायण कवि तक अधिकांश कवियों ने मुर्गबाजी का वर्णन किया है। इसका एक शास्त्र ही बन चुका था। कवि नारायण का एक पद्य है :

“काचिपात्र, मुष्ट, ताग गिरहबंद,  
जल-मटके, बूटी, मन्त्र छुरीछन्ब,  
रखतरोक-रस आदि ले-लेकर  
मुर्गबाज पहुँचे रंगस्थल पर !  
कुक्कुट हैं पंचजाति : नेमिली,  
काकि, डेकें, कोडि तथा पिंगली !  
सुबो-बदो रातो के देख सगून,—  
नौब. मरण, राज, भोग और गमन……”

इसी प्रकार के और भी चार-पाँच पद्य नारायण कवि ने इस विषय पर लिखे हैं।<sup>३</sup>

गैवो में वीरभद्र की यात्री रखने की प्रथा थी।<sup>४</sup>

तावीरों के प्रति लोगो की श्रद्धा अधिक थी। इसमें पहले इसकी चर्चा आ चुकी है। नारायण कवि ने भी इसका उल्लेख किया है।<sup>५</sup>

१. 'हस्त विशाति', ३-१४७।

२. वही, ४-१२३।

३. वही, ३-२१३।

४. वही, ३-१८८।

५. वही, ५-६६।

लड़कियों के खेलों में भी नाचना सोमयाजी से नारायण कवि तरु गुट्टे-गुडियों की यादी, खाने की पगत, घरीदे आदि खेलों के वर्णन बराबर मिलते हैं।<sup>१</sup> उत्साहोजन पूरा पद्य मूल में देखें। इसमें सभी खेलों का समावेश है। यह पद्य बड़े महत्त्व का है।

चरखा तब भी मूव चलता था। 'हमविशति' में कताई का वर्णन फई जगह है।

धनी-मानी लोग गमियों के दिनों में रास्तों पर जहाँ-तहाँ प्याऊ बनाकर पुण्य कमाते थे। उन प्याऊघों में ठण्डा जल नहीं, बल्कि मट्ठा पिनाया जाता था और साथ ही यह भी मुन लीजिये।

"नमक, सोंठ, जंबीर-जीर-परिपूरित दही-मट्ठे से भरे अति-विशाल घट शीतल निर्मल जल के मटकों में मिसरी और इलायची की स्वादु पुलावट जीरक, 'परिषेपाकु',<sup>२</sup> चन्दनादि से गंधित देवपेय देने हुए गटके, संघव तथा पलांडु से तड़ुल-तंडक-मुत भाड़-काड़-भरे भाड़-मटके।"

अन्तिम चरण (मूल तेलुगु का हो) देखिये :

"गंध पहिए सामञ्जस प्रशस्त कायमान मुहुर्मुहुर्जायमान,  
मन्द परमान घन मार मृन्द वेदि कासम यितान पानीय शाला।"

अर्थात् "घस तथा चन्दन की पुशबू सूब-पूब भरे रहने के कारण प्याऊ की वेदिका से मुगंधित हवा निकल रही थी।"

उन दिनों के ब्राह्मण मस्त्रुत का विशेष रूप से अभ्यास करते थे। ब्राह्मण विद्याधियों का 'मेघ संदेश', 'कुवलयानरमु', 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'मणिमार', 'सिद्धान्त कौमुदी', 'रस मंजरी', 'काव्य-प्रकाशिका' आदि पुस्तकें पढ़ाई जाती थी।<sup>३</sup>

पिछले माठ वर्ष के भीतर ही हम भारतवासी मंग्रेजी की शिक्षा की ओर अधिक झुके हैं। नारायण कवि के समय देशी पाठशालाएँ विधि

१. 'हस विशति', ५-१४७।

२. तैलपात।

३. 'हस विशति', २-१४२।

पूर्वक चालू थी। कवि ने उस समय की पाठशालाओं का सजीव चित्र दिया है :

“गुरुजी कहते कि बरुणमाला पर हाथ फेर,  
 मुनते ही रो उठता पेट-ददं टेर-टेर।  
 ‘गुपित’<sup>१</sup> के लिखने को बुलाया यदि जाता मे,  
 अंगुलि-संकेत कर ‘सघुशंका’, भग जाता मे।<sup>२</sup>  
 चटिये घसीट लाते, पटिया से बँठता,  
 ‘लरिया नहीं है’ यह बहाना ले, बँठता !  
 खिसियाते गुरुजी घौ मल देते दोनों गाल,  
 जाँघों में चिकोटी से, कर देते चारों लाल।  
 ‘काबंडम्’<sup>३</sup> के ऊपर टाँग देते छत मे,  
 ऐसी मार मारते कि रहता न गत मे।  
 बाँहें बाँध सुबह-साँझ छड़ियों से पीटते,  
 टूट-टूट जातों वे, फिर घर घसीटते।  
 उँगली भकभोर कर घर देते अक्षर पर,  
 मैं काहे को बोलूँ, मुँह तकता बकर-बकर।  
 घड़ी-भर की छुट्टी को दिन-भर मनाता मे,  
 भरी साँझ तक घरबाहो-सँग बिताता मे।  
 मैया मनाती कि पढ़ पूता, पढ़ बासक,  
 मुनकर मैं रो पड़ता सिसक-सिसक फफक-फफक।  
 तेज पोत-पोत देता पटिया के ऊपर मैं,  
 या पपडियाँ ही उड़ा देता छुरच-छुरच कर मैं।

१. स्वर-जोड़, बाराखड़ी।

२. कानी उँगली का संकेत माने सघुशंका, दो उँगलियों का दीर्घशंका, तीन का नाक पोंछना, चार का पानी पीने जाना, यही पाठशालाओं में छुट्टी के लिए संकेत-भाषा थी।—अनु०

३. फलक।

बाल-रामायण दिया रखता कि दूँदो तो न मिले,  
 छोड़ तोड़ देता मानो सर किये कुम्भन के किले ।  
 पड़ा फोड़ देता और डोरो तोड़ देता मैं,  
 लरिया चबा-चबा बहाना जोड़ लेता मैं ।"

×            ×            ×            ×  
 "एक दिन कराई गई मुझसे उठक-बंठक,  
 पात लगाये मैं भी रहा बाँध को तक-तक ।  
 बुपहर हुई, गुरुजी हमलो के पेड़-तले,  
 जा सोये, सोते ही खुराटे भर चले ।  
 चुपके से बाल भूँका खुदिये से बाँध गिरा,  
 जग-जगें तब तक हो गया मैं नी-शे-ग्यारह ।  
 और उधर गुरुजी महाराज बिस्ताते रहे,  
 पेड़ से टंगे लटके हुए बिस्ताते रहे ।"

×            ×            ×            ×

गाँव की पाठशालाओं में गुरुजी दिन के समय बंठक की घटाई पर  
 ही बैठकर खुराटे भरा करते हैं । गर्मियों में पाठशाला हमली की धनी  
 छाँव में चलती थी । पटिया लकड़ी की होती थी और परिया-बली  
 सेलम मिट्टी की ।

तम्बाकू का रिवाज बढ़ गया था । लोग कपड़े की छोटी-नी धेली में  
 तम्बाकू भरकर सदा साथ रखते थे ।<sup>१</sup> गाँव के पटवारी (पाह्यण) भी  
 तम्बाकू के मुट्टे (हरे पत्ते में तम्बाकू) भरकर धुएँ के बड़े-बड़े बरा खोचा  
 करते थे । पटवारों की पोशाक पर नारायण कवि ने लिखा है -

उजली पगिया, 'बोष्का', घंटी में तम्बाकू का बटुआ,  
 कलकदार धावर काँधे, मुँह के 'मुट्टे' से उठे धुआँ,

१ १-१४४ ।

२ २-७६ ।

१७५७ से १८५७ तक

सुन्दर घोती घोर जुतियां पहने धी पटवारी की  
बिजे हुई; राजा नल से उद्योत न शान सवारी की !”<sup>१</sup>

‘चोक्ता’ असल में भरवी शब्द ‘चोपा’ का ही रूपान्तर है, पर अब  
यह गुड़ तेलनु शब्द माना जाता है ।

द्वित्रयां भी पान-मुपारी के साथ तम्बाकू खाने लगी थी ।<sup>२</sup> ‘शुक सप्तति’  
और नारायण कवि के बीच के नब्बे समय में स्त्रियों के आभूषणों में  
कोई विशेष अंतर नहीं आया । नारायण कवि ने भी आभूषणों की तम्बी  
नूची दी है :

“कुप्पे एगडीबिल्ला, कुंकुम रेखा पापेटा बोट्ट,  
कम्मलु, बाबत्तोलु, नितिमूर्धं चन्द्रवंकलु, सुसकमु  
केम्पुरध्वला, पत्तेर पुल्लु, रावि रेखें एवं बुगडा,  
नानवीगें, मेडानुल, कुत्ति कंदु, सर्पला, गुण्डल्लेपेह,  
सरिगे, मुक्करा, वम्मासरम्, सुतं डालु, कंकण, तट्लें,  
कडियम्, संवि बंड, बड्डालाम, मुद्रिकें तथा हंसकम्मुलु,  
ओपुगज्जालु, धोवतकोयलु, गिलुरु मेट्टे ।”<sup>३</sup>

आदि ।

अभिलेखों के समान आभूषणों में भी हमारे पूर्वजों की बहुत-  
सी चीजें हमारे लिए अज्ञेय हैं । इस सम्बन्ध में विशेष रचि रखने वालों  
का कर्तव्य है कि उन आभूषणों के चित्र देकर तथा पहनाई का ग्योरा  
देकर एक छोटी-सी पुस्तक लिख डालें । विशेषकर शब्द-कोशों में तो ये  
शब्द अवश्य ही दिखे जाने चाहिए । अर्थ देने के बदले ‘आभूषण-विशेष’  
कह देने से भी काम नहीं चलेगा । वहाँ उस आभूषण का चित्र भी दिया  
जाना चाहिए ।

एनुगुन वीर स्वामी नान के एक सज्जन मद्रास शहर में ईस्ट इंडिया

१. ३-६२ ।

२. ४-१५२ ।

३. २-३६१ ।

कम्पनी की नौकरी में किसी अच्छे पद पर थे। उस समय भारत में रेलें नहीं चली थीं। उन्होंने परिवार के साथ काशी जी की तीर्थ-यात्रा करनी चाही। १८३०-३१ ई० में वे पालकियों में सवार होकर यात्रा पर चल पड़े। कडपा, कन्नूल, जटपोल, बनपत्ती, महबूबनगर (पालमूर), हैदराबाद, निजामाबाद आदि होते हुए वह काशी पहुँचे थे और वापसी में उत्तर सरकार के रास्ते बिछाखा, राजमदरी आदि होते हुए मद्रास लौटे थे। यात्री के नाते उन्होंने सारे आंध्र का भ्रमण किया था और अपनी दैनिकी में रोज की बातें स्थो-को-स्थो लिख डाली थी। अतः दैनिकी के रूप में इसका 'काशीयात्रा चरित्र' मन् १८०० से १८५० ई० तक के आंध्र-देश की परिस्थितियों की जानकारी के लिए अत्यंत उपयोगी पुस्तक है।

उस समय आंध्र-देश अंग्रेजों के अधीन हो चुका था। हैदराबाद का तेलगाना क्षेत्र निज़ाम के राज्य में था। अंग्रेज अभी अपने राज्य को जमाने की फिक्र में थे। देश में आन्ति-रक्षा का प्रबन्ध ठीक न था। फिर भी अंग्रेजों के अधीनस्थ आंध्र के अन्दर निज़ाम राज्य के तेलुगु-प्रान्त से वही अधिक आन्ति तथा मुख्यवस्था थी। बीर स्वामी के 'काशीयात्रा चरित्र' तथा श्री बिलग्रामी की अंग्रेजी पुस्तक 'हिस्टोरिकल एण्ड डिस्कप्टिव स्केचज ऑफ हैदराबाद स्टेट' दोनों ही से हमें यह विदित होता है।

बीर स्वामी के 'काशीयात्रा चरित्र' में नीचे दी हुई बातें भावूम होती हैं :

आन्ध्र-देश के अन्दर घाँस की घनावट अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग थी। रायल सीमा में किमानों के घरों में अनुप्य और पशु एक ही छत के नीचे बस करते थे। यह बुरी प्रथा अभी तक चली आ रही है। बड़ी घातमाकूर पहुँचकर बीर स्वामी लिखते हैं कि किसान अपने रहने-सहने के घरों की अपेक्षा अपने बैलों के लिए अच्छे कोठे बनाने हैं और पशुओं की अच्छी देख-रेख रखते हैं। गो का दूध नहीं निकालते।



प्रायः मंत्र के दूब-दही-घी से ही जान चनाया जाता है।<sup>१</sup> रायल चीना के बेल न तो तब अच्छे होते थे और न अब हैं। यहाँ नेल्तूर प्रान्त के बंनों के व्यापारी आया करते हैं और जहाँसे यहाँ के लोग अपने बेल खरीदने हैं। एक बेल दस-बाँस बरहा में बिल जाता है।<sup>२</sup>

कनूँस जिन में चावल की बहुत कमी है। गरीब ज्वार अपना कोशों के भात से गुज़ार करने हैं।<sup>३</sup>

कृष्णा जिन में जौ अच्छे बने हैं वैसे दक्षिण भारत-भर में किसी दूसरी जगह देखने में नहीं आते।<sup>४</sup>

ममूलीपट्टन के बारे में वह लिखने हैं :

“यहाँ के लोग उतने स्वस्थ और सुहृद नहीं होने। त्रिपरा तब-भय-कर सुन्दर दिखाई देती हैं। कानों में तम्बो-तम्बो साँकल पहनकर उन्हें ज्वार बालों में, माँग के निकट, काँटों से झटका लेती हैं। यहाँ के स्त्री-पुरुष नील के धुले कपड़े पसंद करते हैं।”<sup>५</sup>

“यहाँ के लोग साधारण महकृत को भी मेढबानी कहते हैं।” (मेढबानी फारसी शब्द है, तेलुगू नहीं। किन्तु तेलुगू में अपना लिया गया है विशेष अर्थ में। ‘मेढबानी’ के लिए बेरपाएँ अनिवार्य हैं।) धावकन भी बेरनामो के नाम को ‘मेढबानी’ कहते हैं।

“कृष्णा नदी के उत्तर में पूर्वी समुद्र तक लोगों की बोलियाँ राग-पुस्त होती हैं, अर्थात् वे शब्दों की ध्वनि को खींचकर बोलते हैं। त्रिपरा इतनी बड़ी नहीं पहनती हैं कि पूरा मुँह छिप जाता है।”<sup>६</sup>

‘नेल्तूर-निवासी स्त्री-पुरुष भी शरीर के गठे होते हैं। कथवान

१. पृ० ११।

२. „ १४।

३. „ २३।

४. „ ३५८।

५. „ ३५०।

६. „ ३५३-४।

भी । उनके चेहरे कुछ गोल हो होते हैं, किन्तु रंग अधिक साँवला होता है । उनका स्वभाव साधारणतया कपट-रहित होता है ।”

“राजमन्द्री और घवलेश्वर प्रान्तों को ‘कोन सीमा’ कहते हैं । इसमें गोदावरी नदी का डेल्टा है । इसलिए इसे सप्त गोदावरी कहते हैं । यहाँ के ब्राह्मणों के पास काफी जमीन भी है ।” ये अध्ययन और यज्ञादि सत्कार्यों में अच्छी धृष्टा रखते हैं ।” उड़ीसा के अन्तर्गत ग्राम्भ बेलमें है, जो तेलंगा कहलाते हैं ।”

“छोटे गंजाम और समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों में नमक तैयार किया जाता है । नमक बनाने वालों को उप्परा (सोनिया) कहते हैं । इनकी स्त्रियाँ नाक में बोहरी नथें पहनती हैं ।”

“पुरी जगन्नाथ के मन्दिर में मुसलमानों के समान जोगी-जंगमों आदि शैवों का प्रवेश भी मना है । हिन्दुओं में भी धोबियों और चमारों का मन्दिर-प्रवेश निषिद्ध है ।”

इन दो बातों का सम्बन्ध ग्राम्भ से नहीं है ! ये तो उड़ीसा की प्रथाएँ हैं । फिर भी चूँकि उड़ीसा ग्राम्भ के सीमान्त पर है, इसलिए यह जानकारी अच्छी ही है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि उड़ीसा में धोबी को चमार के ही समकक्ष समझा जाता है । ग्राम्भ में धोबी की गिनती दूदों में तो है, पर अछूतों में नहीं !

तमिल प्रान्त में दूदों को विशेषकर चमार आदि को, अपमानित करने की रीति तथा उन्हें छूने और देखने तक की मनाही होने के कारण हजारों लोग ईसाई बन जाते हैं । पेदा पातेम और भंतापुर के गिरजा-घरों में देसी ईसाइयों की भीड़ हम अपनी धाँसों से देख सकते हैं ।

विशाखापट्टन (वैजाग) के लोगों के सम्बन्ध में बीर स्वामी ने लिखा है -

१. पृष्ठ ३४३ ।

२. पृष्ठ ३४४ ।

३. पृष्ठ ३४४ ।

“यहाँ की स्त्रियों की नाक और छाँवें बड़ी सुन्दर होती हैं। इतने वे बड़ी स्फुटती दिखाई पड़ती हैं। तहेंने के ऊपर केसरिया परिधान पहनती हैं, और पंरों में कड़े डानती हैं।”<sup>१</sup>

### हैदराबाद के सम्बन्ध में

“निजामाबाद जिने में छारनूर ने छ मौत की दूरी पर एक गाँव जाना होता है। हैदराबाद छहर छोड़ने के बाद गाँव-गाँव में तम्बलियों के घर दूध-बही घूब मिलने लगा है। इस प्रांत में तम्बली दूध-बही और कन-कन मुईया करते हैं तथा मन्दिरों और शारी-भ्याह में डोल बजाते हैं। नाई मनाल जलते हैं।”<sup>२</sup>

तेलगान में धोड़ों नछान जलाने हैं। यहाँ के धोबियों ने ही गाइयों को यह काम दिया है।

### भाषा के सम्बन्ध में

कडपा छोड़ने के बाद तमिल बोलने वाले बहुत कम मिलते हैं। तेलुगू बोली को हाँ राग के साथ नुर सीचकर बोलते हैं। उत्तर-सूचक वाक्यों को भी प्रदन-नूचक बनाकर बोलते हैं। हिन्दुस्तानी शब्दों को मिलाकर तेलुगू बोलते हैं।<sup>३</sup>

ये बातें रायल सीमा के सम्बन्ध में कही गई हैं। उनकी राय में कडपा ग्राम की दक्षिणी सीमा है। हैदराबाद के घन्तगंत “आरिस्ताबाद से उत्तर की ओर इस भीत पर ‘मेकल गढ़ी’ के नाम से एक पहाड़ी घाटी है। उसके बाद बरधा नदी पड़ती है। यही हैदराबाद की सरहद है। बरधा नदी के बाद नागपुर का इलाका शुरू होता है। नागपुर के सरहदी गाँवों में तेलुगू भी कुछ-कुछ बोली जाती है।”<sup>४</sup>

१. पृष्ठ ३३५।

२. पृष्ठ ४६।

३. पृष्ठ ४८-४९।

४. पृष्ठ ५६।

वैजाग प्रान्त के लोगों के सम्बन्ध में चोर स्वामी ने कहा है कि साधारणतया यहाँ की तेलुगू अच्छी है। लोग राग-मुक्त बोली बोलते हैं। चुपके-चुपके भी बोलने का स्वभाव है। लिखावट शिकस्ता लिखते हैं। (तेलुगू में इसे सकल लिपि कहते हैं। अर्थात् अक्षरो और व्यंजनों का परस्पर सकल की तरह मिलाने जाते हैं।) बोली इनकी मीठी है। दिल में बुराई पर भी तुल्य हों, फिर भी भुँह पर मीठी ही बात करेंगे।<sup>१</sup>

“गजाम जिला ग्राम्य की एक और सीमा है। गजाम के बाद कर्नाट अर्थात् उत्कल आरम्भ होता है। आभूपण, सजावट, सगुन आदि की परिपाटियाँ भी दक्षिण से मिलती-जुलती हैं। छोटे-छोटे घरों के सामने भी दरवाजों पर चबूतरे बने होते हैं। यहाँ प्रत्येक स्त्री नाक में ‘बुलाक’ और ‘नय’ लगाती है। पास ही में मानन नामक एक ग्राम है, जहाँ पर सभी लोग तेलुगू बोलते हैं।<sup>२</sup> ऐसी तेलुगू जो किसी को नहीं आती।” (अर्थात् बिगड़ी भाषा बोलते हैं।)

“दक्षिण में नेल्लूर ग्राम्य की एक और सीमा है। नेल्लूर में तमिल भाषा सुनने में आती है। इस इलाके की बोली में पश्चिम से कन्नड़ भाषा का मिली है, दक्षिण से तमिल, और उत्तर में तेलुगू। यह दक्षिण-देश का मध्य-देश है। यहाँ पर तेलुगू, कन्नड़ और तमिल तीनों ही भाषाएँ घुल-मिल गई हैं। यहाँ के निवासी तीनों भाषाओं में दूढ़ी-कूढ़ी बातचीत कर सकते हैं।”

परिणाम यह है कि जब उन-उन भाषाओं के बोलने वालों से इनका सम्पर्क होता है, तो वे इनकी हँसी उड़ाते हैं।”<sup>३</sup>

मद्रास शहर और उसकी भाषाओं के सम्बन्ध में चोर स्वामी लिखते हैं :

“दो सौ वर्ष पूर्व (१६३० ई० के लगभग) चन्द्रगिरि में विजय-

१. पृष्ठ ३३५।

२. पृष्ठ ३१६।

३. पृष्ठ ३६३।

नगर के अधीश रंगराय का शासन था। उसी समय डे नामक अंग्रेज ने इस समुद्र-तट पर एक शहर बसाने के उद्देश्य से विजयनगर के राजा से इस इलाके के जमींदार दामल वेंकटाद्रि नायडू के नाम सनद प्राप्त की। वेंकटाद्रि से डे की दोस्ती थी, इसलिए उसकी इच्छानुसार वेंकटाद्रि नायडू के पिता चेन्नप्पा नायडू के नाम पर शहर बसाने का निश्चय किया गया। उनके जमींदार होने के कारण शुरू दिन से ही इस शहर का नाम 'चेन्नापट्टणम्' पड़ा। इससे पहले अंग्रेज इस बन्दरगाह को 'मदिरास' कहा करते थे। मदिरास के बन्दरगाह पर अंग्रेजों ने शहर बसाने के लिए इमारती लकड़ी लाकर उसका पहाड़-सा लगा रखा था। उन दिनों हार्लण्ड वाले लकड़ी के ढेर को अपनी उच्च भाषा में मदार कहते थे। इसलिए इस जगह का नाम 'मदारस' पड़ा। वही बाद में 'मदिरास' हुआ।<sup>१</sup>

“मदिरास के लोग स्वभाव से चालाक तो हैं, पर साहसी नहीं। आरम्भ में ही यहाँ पर तेलुगू, कन्नड़ और तमिल-भाषी लोग मिल-जुलकर रहते आए हैं तथा संस्कृत सबकी धार्मिक भाषा है, जिसके कारण तथा पहले मुसलमानों का, और अब अंग्रेजों का शासन होने के कारण यहाँ के लोग सभी भाषाओं का स्पष्ट उच्चारण कर सकते हैं। यहाँ की स्त्रियाँ घमण्डो होने पर भी पुरुषों के हृदयों में जगह पाने की चेष्टा करती हैं। वे ऊँची घनाब-सिंगार के प्रति धृष्टा बिखाती हैं। भीतर से उनमें सचाई या साहस की ग्यूनता दिखाई देती है।”<sup>२</sup>

### तेलंगाणा

हैदराबाद राज्य के तेलुगू-बोलत तेलंगाणे के सम्बन्ध में वीर स्वामी ने अपने 'बागोबाधा चरित्र' में रास्ते के गाँवों और शहरों के सम्बन्ध में जो दैनिक टीपें लिख छोड़ी हैं, उन्हें देखते हुए तेलंगाणे पर अलग से

१. पृष्ठ ३६६।

२. पृष्ठ ३७३।

लिखना जरूरी हो गया है !

हैदराबाद के अन्दर समस्यान कोल्हापुर तथा वनपर्वी के राजा आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं। एक-दूसरे के गाँव पर हत्ता बोलकर घोर लूट-पाट मचाकर ये गाँव-के-गाँव तबाह किये जा रहे हैं। ऐसे भागड़ों पर एक-दूसरे से मेल-मिलाप करवाने के बदले हैदराबाद के दीवान चन्द्रलाल आदि आपसी भागड़ों को उल्टा बढ़ाकर तमाशा देय रहें हैं।<sup>१</sup>

यहाँ के जमींदार अपने ग्रामों और जमीनों के पूर्ण स्वामी हैं, वे उन जमीनों के काश्तकारों से ऐसा बुरा बर्ताव करते हैं मानो काश्तकार उनकी ब्याही बीवियाँ हों।

बीर स्वामी को ये दावद लिखे सब से साल बीत गए, किन्तु जागीरों के किसानों को दशा धव भी यही है। जागीरों की रैयत 'रैयत' नहीं 'सर्वे रहित' है। उन्हें रैयत नहीं, बल्कि 'रहित' बहना चाहिए। जागीरदार इन 'रहितों' पर ऐसा दबदबा रखते हैं कि कोई पति अपनी पत्नी पर क्या रखेगा।

जागीरदारों के अत्याचारों के बारे में बिलसामी ने लिखा है।

"हर गाँव में जागीरदार व्यापारियों को सत्ता-सत्ताकर महमूल बसूल करते थे। परिलाम-स्वरूप सन् १८००-४५ के बीच सारा व्यापार बेठसा गया था।"

बीर स्वामी ने लिखा है :

'हैदराबाद के सब लोगो ने हाथ में हथियार लेकर बेघारे कमदोरों पर मार-काट मचा रखी है।<sup>२</sup> हैदराबाद शहर के अन्दर भी यदि कोई किसी को मार डाले, तो कोई पूछने वाला नहीं। यदि कोई व्यक्ति कोई पेड़ लगाये तो उसके फल छाने वाले यही होंगे, जो हथियारों को धपना आभूषण और अत्याचार को अपनी स्थाति का कारण बनाये हुए हैं।

१. पृष्ठ २४-५।

२. पृष्ठ ३४।

शान्तिपूर्ण शासन के अधीन रहने वालों के लिए हैदराबाद शहर में ठहरना या राज्य के अन्दर यात्रा करना खतरनाक होगा।" (अन्त में राजाकारों ने जो कुछ किया वह सब इसी पुरानी नीति का परिणाम था।) "नागपुर के निवासों कृत्रिम स्वभाव के जरूर हैं, परन्तु हैदराबाद वालों की तरह बात-बात पर हथियार उठाने वाले नहीं हैं।"

बिलग्रामी साहब लिखते हैं : "उत्तर सरकारों ने निज़ाम की जो ज़मीनें हैं, उनमें प्रजा पर बड़े अत्याचार किये गए हैं। पिंडरियों और मराठों के दल देश को लूट-मारकर बराबर कर देते थे।"

"हैदराबाद राज्य के अन्दर प्रतिदिन चोरियाँ होती थीं। डाके पड़ते थे। रहेलों के दल और चोरों की टोलियाँ गांव-के-गांव लूट डालती थीं। डाके डालने वाले अधिकांश रहेले ही होते थे।"

हैदराबाद राज्य की इस दुःस्थिति के कारण व्यापार एकदम ठप पड़ गया था। ज़मींदारों के अत्याचारों से खेती तबाह हो गई थी। परिणाम यह हुआ कि अकाल-पर-अकाल पड़ने लगे और लोग मक्खियों की तरह मरने लगे।

जाने व नाने—फ़ारसी में जान प्राण या प्राणी को कहते हैं और नान रोटी को। अर्थात् एक रोटी देने पर एक प्राणी मिल जाता था। सन् १६२६-३० ई० में बहुत बड़ा अकाल पड़ा था। उसी समय यह कहावत चल पड़ी थी। अर्थात् माता-पिता अपने प्यारे बच्चों को एक-आध रोटी के बदले बेच डालते थे। कुत्ते का गोشت बकरे के गोश्त के नाम पर बिकता था। अकाल से लोग इतने मरने लगे कि उनको जलाने या गाड़ने वाला तक नहीं मिलता था। लोग मुरदों की सूखी हड्डियों को पीसकर उन्हें आटे में मिला-मिलाकर बेचा करने लगे। कहीं-कहीं तो मनुष्य ही मनुष्य को मारकर खा जाया करते थे। सन् १६५६ और

१. पृष्ठ ३६।

२. पृष्ठ २२-३।

३. पृष्ठ २-१६६

१६६१ ई० में फिर अकाल पड़ा।<sup>१</sup> सन् १७०२, १७१३, १७४६, १७६६, १७८७ और १७९३ ई० में तेलगाणों में भारी-भारी अकाल पड़े। अकेले हैदराबाद शहर में ६०,००० भूखे अकाल के कौर बन गए। इतने सौ गिनती के मरे। घरों के भीतर जो मरे उनकी किसी ने गिनती नहीं की। रायचूर में २००० जुलाहों के घर थे। अकाल शान्त होने पर उनमें से केवल ६ प्राणी बचे थे। सारा देश आदमी की खोपड़ियों से भरा पड़ा था। इसका नाम ही खोपड़ी-अकाल पड़ गया था।<sup>२</sup>

सन् १८०४ में फिर अकाल आया। उस समय रागी का अनाज, जो रुपये में साठ सेर बिकता था, रुपये का छद्द सेर बिकने लगा। कुछ ने सौ मानव-मांस भी खाया।<sup>३</sup>

१८३१ में फिर अकाल पड़ा। माताओं ने मुट्ठी-भर अनाज के लिए अपने बच्चों को बेच-बेच डाला। सोन पेड़ों की पत्तियाँ ला-याकर प्राण बचाने लगे।<sup>४</sup> अकाल प्रत्यक्ष शाल बनकर आया। गनी-गनी में, रास्तों और सड़कों पर लाशें पड़ी रहती थीं।

अच्छों के फलस्वरूप लोग भारी कर्जों में फँस गए। कर्ज देने में मारवाड़ी आगे थे। मारवाड़ियों के भी बाबा दूसरे लोग हैं, पर न जाने क्यों, कोई उनका नाम भी नहीं लेता। घरब और रहेले हैदराबाद के मन्दर २५० साल से लोगों को कर्ज देकर इतना अधिक रुपया व्याज पर वसूल करते हैं कि किसी ने कहीं देला-मुना भी न होगा। आज भी वे ४०० सैकड़े के हिसाब से मूँद वसूल करते हैं। कर्जदार कर्ज न चुकाये तो जम्बिया औरकर वसूल किया जाता था।

मारवाड़ी सठ नास्तकारों से अनाज खरीदते और अपने दही खोटों में भर रखते थे। अबसर पाकर उसे जैचें दामों में बेचने दे। उन दिनों

१. २-१६-७।

२. २-२४।

३. २-२६।

४. २-२६-४०।



मारवाड़ियों के सम्बन्ध में कहावत ही चल पड़ी थी कि लोटा-डोर लेकर मारवाड़ी नर्मदा पार करता, हैदराबाद पहुँचता और सूद-पर-सूद बाँधकर थोड़े ही दिनों में वह इतना अधिक धनी हो जाता था कि बँलगाड़ी पर सोना लादकर अपने देश मारवाड़ लौटता था।<sup>१</sup>

हैदराबाद के एक पुराने दीवान राय राजा राम्बा ने एक बार अरबों से कर्ज लिया। राजा राम्बा कर्ज न चुका सके। अरबों ने उन्हें इतना त्रास दिया कि राजा राम्बा निजाम की ड्योड़ी में जा छिपे।<sup>२</sup> अरब जिसे कर्ज देते, उसे वसूली में कठोर यातनाएँ देते थे। बाकीदारों को वे अपने घरों के भीतर भूखे-प्यासे बन्द रखकर कर्ज वसूल करते थे। अरबों और पठानों ने जागीरदारों को कर्ज देकर ८० लाख की जागीरें अपने अधीन कर रखी थी।<sup>३</sup> पुराने जमाने में भदालते नहीं थी। बनिये-बक्कास भी अपने कर्ज वसूल करने के लिए अरबों और पठानों को वसूली पर भेजते थे और वे जम्बिया तखवार दिखाकर वसूल कर लाते थे, भयवा कर्जदार को ही घसीट लाते थे। रहैल और अरब अपने कर्जदारों पर चट्टानें लाद-लादकर शरीर पर गरम लोहे से दाग देते थे। बाकीदार कहीं भाग न जाय इस विचार से उस पर दो-चार पहरेदार बिठा देने थे और उससे कई गुना अधिक वसूल करते थे।<sup>४</sup>

हैदराबाद के अन्दर बच्चों को बेचने तथा सती की प्रथाएँ भी थी। सन् १८५६ ई० में बच्चों के व्यापार को कानून से रोक दिया गया। सती की प्रथा भी सन् १८४८ में बन्द कर दी गई थी।

तेलगाना में जमीनों को ठेके पर देने की प्रथा थी। ठेकेदार काश्तकारों में मनमानी रकम वसूल करते थे और सरकार का हिस्सा देकर बाकी अपने पास रख लेते थे। जमीनों पर कोई निश्चित कर नहीं था।

१. २-५६।

२. २-५६।

३. २-११८।

४. २-१६३।

देशपाडे और देशमुख वसूली के जिम्मेवार थे। वे भूमि-कर के साथ-साथ करपा-कर, देहरी-कर, भेड़पट्टी, डेढ़पट्टी, जाति-कर, व्याह-कर, मोत-कर, चाम-कर, हाट-बाजारी, आदमपट्टी (गैर-मुसलिम दस्तकारी में) आदि कोई २७ प्रकार के फुटकर कर प्रथा से वसूल करते थे।<sup>१</sup>

तेलगाणे की कई अपनी दस्तकारियाँ थी। धप्रेजी माल के कारण तथा देश की भरावकता के कारण १८००-५० के लगभग देशी दस्तकारियों का पतन शुरू हुआ। बरगल की दरी-कालीने काकतीयो के पतन के बाद से ही प्रसिद्ध थी। बीदर की बीदरी दस्तकारी वहाँ के मुलतानो के उमाने से ही फलती-फूलती घाई थी। तेलगाणा छानकर बारीक सूती माल के लिए मशहूर था। बरगल की महारानी रुद्रमादेवी के समय पुर्तगाली यात्री मार्कोपोलो यहाँ का सूती कपड़ा देखकर भ्रम में पड़ गया था कि यह भकड़ी का जाला तो नहीं है। बरगल की कालीने १८५१ में लन्दन की प्रदर्शनी में रखी गई थी। हैदराबाद राज्य में लोहा गलाकर पीलाद तैयार किया जाता था। बरगल, बूनसमुद्र, दिदुति, कोमरपल्ली, निर्मल, जगत्पाल, अनन्तगिरि, लिंगमपल्ली, निजामाबाद आदि स्थानों पर लोहे का काम होता था। निर्मल के निकट बूनसमुद्र में इस्पात तैयार किया जाता था। एतद्वल इब्राहीम पटम, कोनापुर, वित्तलपेट आदि स्थानों में भी पक्का लोहा बनता था। बूनसमुद्र में जिस कांठि का पीलाद तैयार होता था, उसके लिए ईरान वालों ने भी प्रयत्न किया, पर वे पार नहीं पा सके। हैदराबाद, गदवाल, बनपती और कोल्हापुर में १८६० तक तलवारें, बटारें आदि तैयार की जाती थी। एक तलवार की कीमत पाँच से लेकर पन्द्रह रुपये तक होती थी। सम्मम जिले के जगदेवपुर में तलवारों पर सोने का पानी चढ़ाया जाता था। गदवाल में बन्दूकें भी तैयार होती थी। बनपती, गदवाल तथा निर्मल में रूहेली बन्दूकें तैयार की जाती थीं। एक बन्दूक का दाम २० से लेकर ६० रुपये तक होता था। सूत व रेशम दोनों

मिनाकर नष्ट नान के पान डेंगर जिसे जते थे । ये करिक्टर हैदराबाद और मदरान में डेंगर होते थे । इन्-रेन्ज वरतन, नारायणपेट, मठवाडा हज्जनगी, कछेनगर, नाचवापुर आदि में डेंगर होता था । इन्दूर (मिर्जानाबाद) आदि मेदक हैदराबाद, कोल्हपुर (नह्नुवनगर) में देखो कागज बनता था ।<sup>१</sup>

बार स्वामी अपनी 'कागोपाया' में लिखते हैं :

“कडरा जिले में एक गाँव बुखूर है । बुखूर से आये हर गाँव में कोंडाकरमा जाति के लोग कच्चे सोहे के कंकरों से सोहा तैयार करते हैं ।”<sup>२</sup>

‘गुल्दूर जिले के वेडा पालेन में एक हजार बुसाहे रहते थे । ये चावरें, रुमात, साड़ियाँ, धोतियाँ आदि तरह-तरह के कपड़े बुनकर सभी प्रदेशों को भेजा करते थे ।”<sup>३</sup>

‘वेगुलवाडे के निकटवर्ती एक ग्राम बालकोडा में गंजीके (ताश) के पत्ते आदि तैयार करके हैदराबाद भेजते हैं । इस गाँव में अनेक सींगारों के घर हैं ।”<sup>४</sup>

“निर्मल के चणो-मिनान आदि बरतन बेश-भर में प्रसिद्ध हैं । इस गाँव में बहुत-से कंकरों के घर हैं ।”<sup>५</sup>

आगे लिखते हैं :

“हैदराबाद में सभी बड़े-बड़े लोग पान साया करते हैं । बालकोडा में पान के बगीचे हैं । कडपा से, निजामाबाद से आगे गोवावरी मदी तक, कच्ची सुपारी बिकती है । इस प्रांत के गरीब लोग तो भीषण पान नहीं खाते, पर सुपारी-मात्र खाते रहते हैं । धूम्रों के हाथ का हुक्का

१. बिलशानो १—पृष्ठ ३६५-४२५ ।

२. पृष्ठ ६ ।

३. ‘कागोपाया’, ३५५ ।

४. वही, ४६ ।

५. वही, ५० ।

अन्य लोग भी दिया करते हैं। हैदराबाद शहर में फल भित्तों तो हैं, पर मद्रास से तिगुने दाम देने पड़ते हैं। इसी तरह सब्जी-तरकारी भी यहाँ महंगी है। पर है बड़ी स्वादिष्ट।”<sup>१</sup> “जहाँ तक सब्जी-तरकारियों का सम्बन्ध है, मैं कहूँगा कि मैं इतने प्रांतों में घूमा, पर कहीं भी हैदराबाद के समान स्वादिष्ट सब्जी नहीं लाई।”<sup>२</sup>

“म्राजकाल हिन्दू-मन्दिरों और स्थल हिन्दुओं की वशा प्रति शोचनीय है। हिन्दुओं में जात-पात का भाव यागलपन की सीमा तक पहुँच चुका है।” मद्रास शहर के सम्बन्ध में वह कहते हैं कि “यहाँ चारों ओर के लोग आकर बस गए। उनमें दक्षिण और दाम के नाम से दो पक्ष हो गए हैं।” ये पक्ष अंग्रेजों के हक में कटुदायी बने।<sup>३</sup> “मन्दिरों की आय को अंग्रेज और मुसलमान नवाब अपने-अपने इलाकों के अन्दर बाँट ले लेते हैं। आलाजी वेकटेश्वर भगवान् की भक्तों की ओर से भेंट-स्वयं जो धन मिलता है, उससे ईस्ट इंडिया कम्पनी को लगभग एक लाख रुपये सालाना की आमदनी होती है।”

“आलाजी पर्यंत पर चाहे कोई भी शुभ कार्य करो, सरकार को कर देना पड़ता है।”<sup>४</sup> “‘अहर मिलन’ में उत्सव के अवसर पर ४०० बरहा (डोनार) की बगुली होती है। कम्बकूर का नवाब वह सारी रकम ले लेता है, किंतु मन्दिर की धरम्मत के लिए कुछ नहीं करता।”<sup>५</sup> “इसी प्रकार श्री शंतेश्वर मन्दिर से सालाना २५००० रुपये कम्बकूर के नवाब को मिल जाता है। पर वह देता तक नहीं कि मन्दिर की क्या वशा हो रही है।”<sup>६</sup>

१. ‘काशी माना’, पृष्ठ ३४।

२. वही, २-७४।

३. वही, ३७०।

४. वही, ४।

५. वही, १०।

६. वही, २०।

“हैदराबाद शहर के चारों ओर बड़े-बड़े टीले बने हैं। हर टीले पर एक मसजिद जरूर बनाई गई है। हिन्दुओं के मन्दिर नहीं हैं। यदि हैं भी, तो उनकी उन्नति हो नहीं पाती।”<sup>१</sup>

इंवलवाई पहुँचा। वहाँ रामचन्द्र जी का मन्दिर है। इस नवाबी राज्य में यह जगह मानो अंगीठी में पड़ा हुआ कमल-जंसी है। बालाजी तिरुपति छोड़ने के बाद राजोपचार के साथ पूजा-धाराधना की व्यवस्था बाला मन्दिर एक यही देखने में आया है। मेरे विचार से ऐसे मन्दिर और कहीं ही हो नहीं।”<sup>२</sup> “इस प्रकार अंग्रेजों और कर्नूल तथा हैदराबाद के नवाबों के कारण हिन्दुओं की दशा गिरती ही गई। उसके साथ स्वयं हिन्दुओं में ही जाति-वहिष्कार, ऊँच-नीच और नये-नये बुराचारों का बोल-बाला है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्य और मठाधीश आजकल पता नहीं कहीं छिपे बैठे हैं। शंकर, रामानुज, माध्व आदि आचार्यत्रय के बाद उनकी गद्दियों पर विराजमान होने वाले का नाम तक सुनाई नहीं पड़ा, काम की कौन कहे। ऐसे घोर अन्धकार के युग में भी कुछेक तत्त्वज्ञानियों ने समाज-सुधार को भरसक चेष्टा की। ब्रह्मा-नन्द योगी, कम्बगिरि, इन्द्रपोनी ब्रह्मन् चिन्नूर नरसिंहदास, बरनारायणदास, परशुराम नरसिंहदास, आदिकेशव वीरस्वामी, शिवयोगी, ताटे गजेन्द्र अगप्पा आदि ने इस अन्धकार से पीड़ित जनता में तत्त्व-ज्ञान का प्रचार किया।”

“कर्नूल के नवाबों ने धार्मिक पक्षपात के बशीभूत होकर अनेक मन्दिरों को मसजिदों में परिवर्तित कर दिया था। सात कर्नूल में बड़े-बड़े मन्दिर-मसजिद बना दिये गए। कुछ हिन्दुओं को भी बलात् मुसलमान बनाया गया। शिवाजी ने महाराष्ट्र में कई मुसलमान हो चुके हिन्दुओं को शुद्ध करके फिर से हिन्दुओं में मिला लिया। सन् १७५६ में बसावतजग ने चिन्नातिम्मन्नों को ‘पतिकोंडा’ जागीर में दे दिया। कर

१. ‘काशी यात्रा’, पृष्ठ ३५।

२. वही, ४३।

चुकाने की शक्ति न होने के कारण तिमर्न्ने ने अपनी पत्नी तथा पुत्रों को बसालतजंग के यहाँ (धरोहर) छोड़ रखा। बसालतजंग ने उस स्त्री तथा बच्चों को जबरबस्ती मुसलमानों के हाथ का खाना खिलाया और मुसलमान बना दिया। जब यह खबर मराठा पेशवा को मिली तब पेशवा ने उन्हें वापस मँगवाया। तब भी बसालतजंग की बेगम ने एक बच्चे वासप्पा को अपने ही पास रख लिया। उसका नाम बदलकर रहमत मल्लोखा रखा और उसे अपने बेटे का डोयान बना दिया।”<sup>१</sup>

इस्लाम का प्रचार भव्य घटने लगा था। ईसाई धर्म बढ़ने लगा था। ईसाइयों ने मुसलमानों की तरह तलवार या बन्दूक से धर्म का प्रचार नहीं किया। इसके लिए उन्होंने विविध उपाय जरूर रखे। ईसाई पादरी नियुक्त किये, जो गाँव-गाँव घूमकर धर्म का प्रचार करते थे। ये पादरी भारत-भर में फैले हुए थे। जो जिस प्रान्त में रहता वह वहाँ की भाषा सीखता और अपनी 'इजील' का उस भाषा में अनुवाद करता। इस प्रकार सभी भारतीय भाषाओं में 'इजील' के अनुवाद छप चुके थे। लोगों में उन्हें भुगत वांट दिया करते थे। पादरियों ने जंगलों के भन्दार भील, सयाल, मुण्डा, गोंड, कोया, तोडा, नागा आदि जातियों के साथ रहकर, उनके साथ पुन-मिलकर, उनकी भाषाएँ सीखकर, अपने धर्म का प्रचार किया। उन्होंने उन जंगली भाषाओं के व्याकरण तथा पाठ्य-पुस्तकें तैयार कीं। इस प्रकार उन जातियों के साथ-साथ उनकी भाषाओं का भी उद्धार किया।

इन मिशन वालों ने शुरू से ही हिन्दुओं के धर्म तथा आचार-विचार के प्रतिमूल प्रचार किया। हिन्दुओं की जात-पात में, विशेषकर छूत-छात से ईसाइयों ने खूब काम उठाया। लाखों छद्मों को ईसाई बना लिया। इसमें उनका क्या दोष? यह तो हिन्दुओं का ही दोष है कि उन्होंने सुझावों को मनाकर अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मार ली। पार का फल तो भोगना ही होगा। भोग रहे हैं। ईसाइयों ने यह दुष्प्रचार



सके । राजपूतो से दोस्ती के बजाय उन्होंने लड़ाई मोल ली । इस प्रकार धोरो को भी दुर्बल किया और धास भी कमजोर पड़ गए । इन तमाम कारणों से १८१३ के बाद मराठे मैदान खाली कर गए । मराठा सेना के बहुत सारे सैनिक अपनी परम्परा के अनुसार लूट-मार को अपनाये रहे । यही पिडारी कहलाये । ये पिडारी इधर तेलंगाना, उधर रायन सीमा और उत्तर सरकारों तक एक-सी लूट-मार का बाजार गरम दिये रहे । दो-दो सी की टोलियों में लेकर पाँच-पाँच हजार की भीड़-सी पलटनें बनाकर टिड्डी-दल की तरह बस्तियों में घुम पड़ते और उनका विध्वंस करके नौ-दो ग्यारह हो जाते ! वे लादने-झोने की झंझटों से घरी थे । रुपया-पैसा सोना-चाँदी-जैसी कीमती चीजों पर ही हाथ मारते थे । बरसात की तरह हर साल उनका दौरा हुआ करता था । फसलें कब तैयार होगी, इसका पता किसानों से पढ़ने पिडारियों को हो जाता था । ठीक कटाई पर पहुँच जाते और सारा ममेटकर चपत हो जाते ।

प्रमोज बंगाल-बिहार की लूट-मार में मग्न थे । जब तक पिडारी अंग्रेजों इलाकों से दूर रहे, तब तक उन्हें इनकी चिंता न थी । पिडारी पूरे पचास साल तक बे-रुटके लूट-पाट करते रहे । प्रजा की मुँह लेने वाला कोई न था । जहाँ जैमे जिसकी ममझ में धाया, गाँव वाले मिल-मिलाकर अपनी-अपनी रक्षा करने की चेष्टा करते रहे । भान्ध के ग्रामों का पुराना रूप ही बदल गया । गाँव के चारों ओर बुर्ज बनाकर उनके बीच बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करके एक गली-सी बना लेते और एक जगह गाँव का बड़ा फाटक बना लिया जाता । फाटकों और बड़े दरवाजों में लोहे की पट्टियाँ और मुकीले सींगचे जड़कर अन्दर की ओर बड़ा-मा लोहे का मड़गडा लगा दिया जाता । अंधेरा होने-होते दोल-नगाड़ा बजता, और लोग गाँव की चहार-दीवारी के अन्दर अपने-अपने घरों में पहुँच जाते । फिर फाटक बन्द कर दिया जाता । फाटक पर रात-भर तलार (चौकीदार) पहरेदार बेमार मँत-सिंधी रतबसे करके पहरा देते । पिडारे ताँ दिन-दहाड़े धाया चोन्ने थे । बुर्ज इसीलिए बने थे कि उन पर



दिन में भी पहुँचकर रहने थे। दूर से ही नदें उटती देखी नहीं कि लगावा बसा दिना। मोन खेतों से कान छोड़कर गाँव में आ जाते और घाटक बन्द कर दिना जाता। बुजों के ऊपर से और दोबारों के पीछे से वे निहारियों का मुँहासा करने।

सन् १८१४ ई० में निहारियों के पास २१००० कुटुम्बवार, ११००० पैदान और पचास लाख तोते थे। १८१६ ई० में उन्होंने उत्तर सरकार ने नाईं प्यारह दिनों के अन्दर ३३६ गाँवों को नष्ट किया था। छैन्नाठ हजार व्यक्तियों को नार-पाँटकर अन्नरस करके दिसाने हुए वन का पत्रा मनाया था। उनकी नार विधेयकर कुम्हार पर पड़ी थी। निहारियों को क़रती को सहने की ताब न हो उछने के कारण मँकड़ों बगने अन्नी अन्नदियों में धान मनाकर धान हों करने वान-बच्चों मनेत जब मरे थे। मँकड़ों स्थिती निहारियों के बनावकार को सहन न करके कुम्हों ने हूदकर हूब नपे थी। तीन-तीन चार-चार युवतियों को एक साथ गटुह बाँधकर निहारी घोड़ी को पीठ पर से उठने और उन्हें दानी बनाकर बेचते। चंद बच्चे जो वन निकले उन्होंने प्रिय बहादुर को इनकी लहर निमी।<sup>१</sup>

निहारी त्रियों का नाम-वन स्वयं उनके पतियों की माँतों के आने कर जानते थे। जो नाम करने साथ में आ मुछते, ते जाते; पर जो उनके काम का न होता, उसे भी नष्ट-भ्रष्ट करके बेकार कर जानते थे। जो व्यक्ति करना दिसाना हुआ वन गुरम न बननाडा, उसके मुँह पर गरम-गरम राख की धँसी बाँध देते और कुटुम्भ मुक कर देते। इन कुटुम्भ करने में जो लच जाते, वे भी अन्निक दिन अविन न रहने। मोनों को जंगल पर बिज निहाकर मीने पर लले बड़कर लच पर कई निहारी लड़े हो जाते और हूश-छांश करते थे। इस प्रकार उनके अमानुषिक कृत्यों का कोई अन्त न था। निहारियों ने अधिकतर मरते हो थे। वेस मुत्तनों की सेनाओं ने हटे हुए निहाही भी उनमें शामिल हो नर थे।

मके । राजपूतों से दोस्ती के बजाय उन्होंने लड़ाई मोल ली । इस प्रकार  
 ग्रोरो को भी दुर्बल किया और ग्राम भी कमजोर पड़ गए । इन तमाम  
 कारणों से १८१३ के बाद मराठे मैदान खाली कर गए । मराठा मेना  
 के बहुत सारे सैनिक अपनी परम्परा के अनुसार लूट-मार को अपनाये  
 रहे । यही पिडारी कहलाये । ये पिडारी इधर तेलंगाणा, उधर रायल  
 सीमा और उत्तर सरकारों तक एक-सी लूट-मार का बाजार गरम किये  
 रहे । दो-दो मी की टोलियों से लेकर पाँच-पाँच हजार की भीड़-सी पल-  
 टने बनाकर टिट्टी-दल की तरह बस्त्रियों में घुस पड़ते और उनका विध्वन  
 करके नो-दो ग्यारह हो जाते ! वे लादने-डोने की झुंझटों से घरी थे ।  
 रुपया-पैसा सोना-चाँदी-जैसी कीमती चीजों पर ही हाथ मारते थे ।  
 बरसात की तरह हर साल उनका दौरा हुआ करता था । फसलें कब  
 तैयार होगी, इसका पता किसानों से पहले पिडारियों को हो जाता था ।  
 ठीक कटाई पर पहुँच जाते और मारा समेटकर चपत हो जाते ।

अंग्रेज बंगाल-बिहार की लूट-मार में भाग लेते थे । जब तक पिडारी  
 अंग्रेजी इलाकों से दूर रहे, तब तक उन्हें इनकी चिंता न थी । पिडारी  
 पूरे पचास साल तक बे-गुनहाने लूट-पाट करने रहे । प्रजा की मुर्ख लेने  
 वाला कोई न था । जहाँ जैसे जिसकी समझ में आया, गाँव वाले मिल-  
 मिलाकर अपनी-अपनी रक्षा करने की चेष्टा करते रहे । ग्राम्य के ग्रामों  
 का पुराना रूप ही बदल गया । गाँव के चारों ओर बुर्ज बनाकर उनके  
 बीच बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करके एक गली-सी बना लेने और एक  
 जगह गाँव का बड़ा फाटक बना लिया जाता । फाटकों और बड़े दरवाजों  
 में लोहे की पट्टियाँ और नुकीले सीसके जड़कर अन्दर की ओर बढ़ा-सा  
 लोहे का झड़गड़ा लगा लिया जाता । अंधेरा होने-होते डोल-नगाडा  
 बजता, और लोग गाँव की चहार-दीवारी के अन्दर अपने-अपने घरों में  
 पहुँच जाते । फिर फाटक बन्द कर दिया जाता । फाटक पर रात-भर  
 तलार (चोनीदार) पहरेदार बेगार मेत-सिंधी रतजमे करके पहरा देते ।  
 पिडारे तो दिन-रहते घास बोलते थे । बुर्ज इमीलिए बने थे कि उन पर

दिन में भी पहरेदार रहते थे। दूर से ही गर्द उड़ती देखी नहीं कि नगाडा बजा दिया। लोग खेतों से काम छोड़कर गाँव में आ जाते और फाटक बन्द कर दिया जाता। बुजों के ऊपर से और दीवारों के पीछे से वे पिडारियों का मुकाबला करते।

सन् १८१४ ई० में पिडारियों के पास २१००० घुड़सवार, १५००० पैदल और छठारह तोपें थी। १८१६ ई० में उन्होंने उत्तर सरकार में साढ़े ग्यारह दिनों के अन्दर ३३६ गाँवों को लूट लिया था। छै-सात हजार व्यक्तियों को मार-पीटकर अधमरा करके छिपाये हुए धन का पता लगाया था। उनकी मार विधेयकर गुप्तद्वार पर पड़ी थी। पिडारियों की क्रूरता को सहने की ताब न हो सकने के कारण सैकड़ों घराने अपनी भोपड़ियों में आग लगाकर आप ही अपने बाल-बच्चों समेत जल मरे थे। सैकड़ों स्त्रियाँ पिडारियों के बलात्कार को सहन न करके कुमों में कूदकर हूब मरी थी। तीन-तीन धार-चार युवतियों को एक साथ गट्टड़ बाँधकर पिडारी घोड़ों की पीठ पर ले उड़ते और उन्हें दासी बनाकर बेचते। चंद बच्चे जो बच निकले उसीसे अंग्रेज बहादुर को इसकी खबर मिली।<sup>१</sup>

पिडारी स्त्रियों का मान-भग स्वयं उनके पतियों की आँखों के आगे कर डालते थे। जो माल अपने साथ ले जा सकते, ले जाते; पर जो उनके काम का न होता, उसे भी नष्ट-भ्रष्ट करके बेकार कर डालते थे। जो व्यक्ति अपना छिपाया हुआ धन तुरन्त न बतलाता, उसके मुँह पर गरम-गरम राख की थैली बाँध देते और कुटम्भस शुरू कर देते। दम धुटकर मरने से जो बच जाते, वे भी अधिक दिन जीवित न रहते। लोगों को जमीन पर चित लिटाकर सीने पर तख्ते चढ़ाकर उस पर कई पिडारी खड़े हो जाते और कूदा-फाँदा करते थे। इस प्रकार उनके अमानुषिक क्रूरता का कोई अन्त न था। पिडारियों में अधिकतर मराठे ही थे। वे मे मुगलों की सेनाओं से हटे हुए सिपाही भी उनमें शामिल हो गए थे।

मुसलिम पिडारियों की बीवियाँ भी उनके साथ चलती थी। उनकी पोशाकें हिन्दू स्त्रियों की-सी होती थी और वे हिन्दू-देवताओं की पूजा करती थी। वे बुरका नहीं ओढ़ती थी। सम्भवतः वे पहले हिन्दुओं की ही पत्नियाँ थी, जिन्हें मुसलमानों ने हथिया लिया था। नहीं तो वे ऐसी हिन्दुप्रानियों की भान्साँ थी। वे घोड़ों पर सवारी करती थी और मुत्ती धूमती थी। उनके गठे शरीर मर्दों को भी मात करते थे। वे साक्षात् लकिनो-मी थी। पुष्प पिडारियों से भी वे पिडारिनिर्मा अधिक कठोर होती थी। उनके दिलों में दया-धर्म का लेस भी नहीं था। स्त्रीजनोचित गुण तो उनमें नाम-धाय को भी नहीं थे। इसलिए उन स्त्रियों को देखते ही मन्द-मन्द काँठ के पुनमें बनकर गड़े-के-गड़े रह जाते थे। बाटी तो छून नहीं।

फिर पिडारियों ने अंग्रेजी इलाकों पर हाथ डालने शुरू किये। उस समय के गवर्नर लार्ड हेस्टिंग्स ने एक लाख बीस हजार की सेना को एक साथ चलाकर पिडारियों को चारों ओर से घेर-घेरकर मारा।

पिडारियों से पिड छूटा, पर एक ओर बला घा पड़ी। यह बला ठगों की टोलियों की थी। यह भी एक पुगना पेशा जान पड़ता है। तेरहवीं सदी में फीरोजशाह खिलजी ने एक हजार ठगों को राजाएँ दी थी। तेलुगू में एक शब्द 'टवूरी' है, जिसका पुराना प्रयोग सन् १३०० ई० के लगभग नाचना सोमना की रचना में मिलता है। मराठी में यही 'ठक' है। दोनों भाषाओं के इन तीनों शब्दों के बीच कुछ परस्पर सम्बन्ध तो नहीं। पर इस शब्द के इतिहास का पता नहीं। अस्तु, यह पुराने पापी घड़ भी जीवित थे। वे स्वयं नहीं तो उन्हीं पापियों के पोते-परपोते ही तो थे। देश में अराजकता फैली तो फिर वे फिर उठाने लगे। इनमें हिन्दू-मुसलमान सभी होने थे। सब-के-सब काली पाता की पूजा करते थे। नये भरती होने वालों को आपस में दशारो से बातचीत करने की शिक्षा दी जाती थी। भेष बदल-बदलकर वे गावियों के गाव ही जाते और बीच जंगल में जाकर मूट देने थे। उनके पास कोई विशेष हथियार

नहीं होते थे। दो हाथ की एक फँतरी ही उनकी सब-कुछ होती थी। गले में फटा डालकर खींचना कान्ती था कि दो सेकड़ के घंटे ही प्राण-पखेरू उड़ जाते। कहा जाता है कि कभी बहुत बड़े नामी फकीर हजरत निजामुद्दीन औलिया भी सन् १४०० में किसी ठग-टोली में शरीक थे। धनी महाजनो और जमींदारों से इनका मेल-जोल रहता था। मिल-जुलकर अपने हिस्से बांट लेते थे। ठगों का उपद्रव उत्तर भारत में अधिक था, किन्तु दक्षिण भी उनसे बचा न था। आंध्र के एपल सीमा के अंचल में, और उनसे भी बढ़कर हैदराबाद के कारवान सराय, धनरायनगुट्टा शालीबड़ा आदि में ठग बसा करते थे, और मुसाफिरो का पीछा करके उन्हें मार डालते थे। निजामाबाद और आदिलाबाद की तरफ उनकी धाक और भी अधिक थी। मेडोज टेलर ने 'कनफेसस ऑफ ए ठग' नाम से ठगों का वृत्तांत लिखा है। उसने लिखा है कि अकेले अमीरधली ठग ने ७१६ जानें ली थीं। यह ठगों का सरदार था। १८३१-३७ में स्लीमन नामक एक अंग्रेज ठगों की जाँच करने के लिए नियुक्त होकर भारत आया था। उसने ३२६६ ठगों को गिरफ्तार कर लिया और उनमें से अधिकतर को फाँसी पर लटका दिया।

ठग भी गये। पर खुद विलग्रामी ने लिखा है कि तेलंगाणों में डाकुओं और चोरों का बोल-बाला था। रोहेलो और अरबों ने तो इसे अपना पेशा ही बना रखा था। इसलिए अंग्रेजी राज में अमन हो जाने-मात्र से हैदराबाद के आंध्र को शान्ति नहीं मिली।

### पंचायत-सभाओं का विनाश

राज्य मिटें, साम्राज्य बदलें, पुराने राजवंश जायें, नये राजा अपना नया राज कायम करें, ऊपर चाहे कुछ हो; पर नीचे के ग्रामवासियों को उसकी चिन्ता नहीं थी। उनकी पंचायतें बनी रहें, बस यही उनके लिए काफी था। पंचायत राज ही उनके लिए रामराज था। पंचायतों में कभी कुछ अन्धारा भी होता था। यदि ऐसा न होवे तो पंचायत और

स्वर्ग में घन्तर ही क्या रह जाता ? किन्तु उससे गाँव की व्यवस्था अस्त-व्यस्त नहो होती थी । मानव-मात्र में त्रुटि होती है । पचायतो में दोष रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । फिर भी पचायतें ग्रामिणों की अदालतों से हजार गुनी अच्छी थी । समित् देश के अंदर गाँव-गाँव में साल-साल में ग्राम-पचायतों के पंचों का चुनाव होता था । यही पंच सभी फौजदारी और दीवानी के झगड़े तय करते थे । मासगुजारी वसूल करते थे, गाँव की सफाई रखते थे, नाटक-नमीत आदि के आयोजनों का प्रबन्ध करते थे । अथवा हमें हराकर समझाने लगे कि हम असभ्य हैं, जंगली हैं, हमारी विद्या निकम्मी है । हमारा धर्म, आचार-विचार सब पागल है । इतना ही नहीं, अपनी हकूमत के साथ-साथ अपनी सभ्यता, अपनी शिक्षा और अपने पादशास्य विधान को भी हमारे सिरो पर थोप देने का निश्चय उन्होंने कर लिया । इसलिये सबसे पहले तो उन्होंने हमारी ग्राम-पचायतों को तोड़ दिया और उनकी जगह अपनी छोटी-बड़ी अदालतों और सर्वोच्च न्यायालय खड़े किये । अदालतों के साथ टिकट-स्टाम्प, गवाही-साली, सफर और नफर-खर्च, धर्म और पनीर और उनकी दलील, कानून और उसकी बारीकियाँ, पीस और घूस आदि सब पुराहर्षा आई और खूब बढ़ी । पर न्याय नाम-मात्र को भी नहीं रहा । पचायतों के साथ हमारा न्याय-धर्म भी नष्ट हो गया । पचायतों में जहाँ झगडा होता, वहीं उनकी मुनवाई होती थी । सबके सामने होती थी । इसलिए झूठ, धोखा या बेईमानी की गुञ्जाइश कम थी । झूठो कसमें खाने पर लोगों की बग-बाग का डर लगा रहता । पचायत के आसन पर बैठते ही पंच ममझते मानो जगवान् के सामने बैठे हैं । 'पंच परमेश्वर' कहावत ही बन गई । अब ग्राम-पचायतों को पुनर्जीवित करने का चेष्टा तो की जा रही है, किन्तु जब समाज का मण्डन ही बदल गया है । अब इन पचायतों को उन पुरानी पचायतों की तरह मण्डलता मिल सकेगी, इसकी आशा हमें बहुत कम है ।

जमींदारी और रयतवारी विधान से भी गाँव की सामुदायिक दृष्टि

का ह्रास हुआ। मेन नामक अंग्रेज लेखक ने हमारी प्राचीन सामुदायिक व्यवस्था पर सुन्दर ग्रन्थ लिखी है।

हैदराबाद के अन्दर तेलगाना और मराठवाड़ा में भी गाँव-के-गाँव नीलाम बोतकर ठेके पर दिये जाते थे। ठेकेदार ही रकम वसूल करके सरकार का हिस्सा दे देता और बाकी अपने लिए रख लेता था। इन्हीं ठेकेदारों ने वनपत्ती-जैसे समस्थान (जागीर) बने हैं। फिर १८४० में सालार जग अम्बल ने मौजूदा जिलाबन्दी की दायदेल डाली।

भराजवता के कारण इस युग में आन्ध्र चित्र-कला तो लगभग समाप्त हो गई। प्राचीन चित्र अब उपलब्ध नहीं हैं। बेपात्ती की खुदाई में कुछ शिल्प-कलाएँ शिथिलावस्था में प्राप्त हुई हैं, जो अति सुन्दर भी हैं। उनकी अपनी विशेषता भी है। काकतीय तथा विजयनगर के कोई चित्र हम तक पहुँचे ही नहीं। मुसलमानों ने अपनी विजय के साथ ही उन्हें नष्ट कर डाला। वेमना के पत्थों से ज्ञात होता है कि उस समय के चित्रकार 'इगर्लीक' की सहायता से चित्रों के लिए रंग तैयार करते थे। प्राचीन चित्रकारों के नाम तक हम नहीं जानते। चित्रकार-घराने भी राजघरानों के साथ गिरते गए। बचे-बुचे चित्रकारों ने बचे-बुचे छोटे राजा-जमींदारों के पास आश्रय लिया। मुगल चित्र-कला-पद्धति ही भारत-भर में फैल गई। तेनुगू चित्रकारों ने भी उसीका अनुसरण किया। बेकट-प्पय्या नामक एक चित्रकार ने समीक्षित काल में द्वितीय निज़ाम के दरबार को चित्रित किया है, जिसमें विविध प्रकार के रंगों पर सोने का पानी चढ़ा दिया गया है। उसकी मूल प्रति नवाब सालार जग के म्यूजियम में है। यह चित्र एक अंग्रेजी मासिक पत्र 'पिकटोरियल हैदराबाद' में छपा था। उस पर बेकटप्पय्या का नाम लिखा है। नाम से ही प्रकट है कि वह आन्ध्र था। उन्हीं दिनोंकुछ आन्ध्र चित्रकार कन्नूल के नवाबों के पास भी रहने थे। उनके चित्रों को देखकर चित्र-कला के आधुनिक विशेषज्ञों ने उसे 'कन्नूल कला' का नाम दिया है। सन् १८३५ ई० से कन्नूल के नवाबों का पतन हो गया। साथ ही उस चित्र-कला तथा उन चित्रकारों की भी समाप्ति हो गई। गद-

चौडो रिपोर्टें पेश की कि अंग्रेजों को अनिवार्य करना चाहिए। गवर्नर जनरल बिटिंग ने उसे स्वीकार किया। मन् १८५५ ई० में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में तीन यूनिवर्सिटियाँ खुली। भारतीयों ने फारसी को प्रलपिदा करके अंग्रेजों का 'वेलकम' (स्वागत) किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हमारी विद्याओं को किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट किया था, इसकी जानकारी मेजर वन्सु की पुस्तक 'एजुकेशन अंडर दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी' से मिल सकती है।

इगलिस्तान में भाँति-भाँति के बाप-यन्त्र बने। थल पर रेलें और जल में जहाज चलने लगे। डाक-नार का प्रमत्त शुरू हुआ। लेकिन इन सबको अंग्रेजों ने भारत में कोई तुरन्त प्रभाव नहीं किया। काफी समय बाद ही ये चीजें आईं। वे इन चीजों को साये भी, तो अपने व्यापार तथा सैनिक सुविधाओं को ही ध्यान में रखकर। "अनगो बलीव पतिनी" की मूर्ति के आधार पर हिन्दुओं ने देवी ईसाइयों का मोरुसी हक में बर्चित रखा। अंग्रेजों ने देखा कि इससे उनके ईसाई-धर्म के प्रचार में बाधा पड़ती है। तब उन्होंने मन् १८५६ में हुबम जारी करके भारतीय ईसाइयों को मोरुसी हक दिलाया। कुछ सड़कें बनवाईं, कुछ नहरें खुदवाईं। मन् १८५३ ई० में तार के तबे गाड़े। उससे कुछ पहले डाक-घर खुले। बड़े लाट डलहौजी ने रेलें चलवाईं। मन् १८५६ ई० तक रेल की २०० मील लम्बी सड़क बन चुकी थी।

सती की क्रूर प्रथा हिन्दुओं में प्रचण्ड रूप धारण विद्ये थी। बिहार, बंगाल और राजस्थान में उसे घोर मान्यता थी। धाध्र में इसका दृढ़ता प्रकोप नहीं था। राजा राममोहनराय के प्रयत्नों से १८२८ में सती की प्रथा को कानून बनाकर निषिद्ध कर दिया गया। सभी प्रान्तों में जिनों का विभाजन हुआ। जो जिले पहले से ही बने थे उन्हें बनाये रखा। इस प्रकार धीरे-धीरे हम लोग प्रागुनिक युग में पग धरने लगे।

मन् १८५६ में डलहौजी इग्लैण्ड लौट गया। हिन्दू-मुगलमान, विरोधकर मुगलमान समझने लगे कि उनके सभी अधिकार छिन गए हैं।



राज गया, धर्म गया, रीति-नीति को आपात पहुँचा। इन सबके परिणाम-स्वरूप सन् १८५७ में भारतवासियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध घोर विद्रोह किया। हिन्दुस्तान की यह पहली जने-माजादी थी। हमारा साहित्य, हमारी कला, हमारी दस्तकारी, हमारे रोजगार सभी चौपट हो चुके थे। सन् १८५७ के विप्लव की विफलता ने अंग्रेजों को स्थायी रूप से सारे भारत का सम्राट् बना दिया। यह विद्रोह भारतीय इतिहास की मुख्याति-मुख्य घटना है। यही से हम आधुनिक युग में पदार्पण करते हैं।

### इस अध्याय के मुख्य आधार

- (१) अग्र्यन्तु राजुनारायणकवि-कृत 'हस विवर्ति'—इसमें आरम्भ से अंत तक 'शुक सप्तति' का अनुकरण किया गया है। फिर भी कुछ नवीन विषयों का समावेश है। यह कवि सन् १८०० के लगभग हुए है। मद्रास के बाबिल्सा वालो ने इन्हे नेल्सूर-निवासी बताया है और राज मंत्री की शृंगार ग्रन्थ-मंडली वालो ने कर्नूल-निवासी। दोनों में से एक ने भी कोई प्रमाण नहीं दिये हैं। शृंगार-ग्रन्थ-मंडली की भूमिका श्रेष्ठ है। बाबिल्सा वालो की भूमिका इतनी अच्छी नहीं है।
- (२) गडलूर नारासिंह कवि-कृत 'भाष्य वंडकम्'—यह कवि सन् १८०० ई० के लगभग कर्नूल प्रान्त में हुए हैं। भाषा कर्नूल की देहात की है। इस कविता में हास-परिहास के साथ गाली-गलौज भी है। इसे 'रामा एण्ड कम्पनी' ने प्रकाशित किया है। लेखक के पास ८० वर्ष पुरानी एक मुद्रित पुस्तक है। इस संस्करण में कई अंग अधिक हैं। पाठ-भेद भी हैं। दोनों का समन्वय करके टीका-सहित प्रकाशित करना जरूरी है।
- (३) रमेशचंद्र दत्त-कृत 'इंडिया ग्रंडर अर्ली लिटिचर हल'।
- (४) विलियम स्मिथ-कृत 'ग्रॉक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया'।
- (५) कूचिमचि तिममा कवि-कृत 'कुवकुटेश्वर शतक'—इस कवि ने कई ग्रन्थ लिखे हैं। सभी पुरानी शैली के हैं। एक शतक हमारे कुछ

काम का है ।

- (६) 'गुध्वल चम्पा शतक' बड़ी उपयोगी रचना है ।
- (७) 'काशी यात्रा चरित्र'—एनुमुल बीर स्वामी ने तेलुगु साहित्य में नवीन पाश्चात्य पद्धति का प्रवेश कराया । उन्होंने अपनी काशी-यात्रा को डायरी के रूप में लिखा है । उनकी भाषा सौ वर्ष पूर्व की मद्रासी तेलुगु है । यह पुस्तक हमारे सामाजिक इतिहास के लिए परमोपयोगी है ।
- (८) बिलग्रामी-वृत्त 'हिस्टोरिकल एण्ड डिस्कप्टिव स्केचेस ऑफ़ दी निजाम्स डोमीनियन्स' दो खंड । यह बड़ा ही मूल्यवान ग्रन्थ है ।

: ८ :

## हिन्दुस्तानी तलवार

सन् १७५७ ई० के पलासी-युद्ध में हिन्दुस्तानी तलवार भुकी भर  
यी। सन् १८५७ ई० के सग्रांम में वह टूट ही गई। सन् १९४७ में, हमारी  
वह पुरानी तलवार फिर सही-सलामत होकर हमारे हाथ लौट आई है।  
सन् १८५७ ई० के बाद अंग्रेजी साम्राज्य सारे देश में सुदृढ़ हो गया।  
१८५७ की घटना भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। तब से  
हम आधुनिक यत्र-युग में प्रवेश कर गए हैं। पिछले सौ बरसों के इतिहास  
से हमारा शिक्षित समाज भली भाँति परिचित है। इसीलिए हमने इस  
अध्याय की बल्कि इस पुस्तक को १९०७ पर समाप्त करना ही उचित  
समझा। अर्थात् हम सन् १८५७ ई० के बाद से ५० वर्ष के सामाजिक  
इतिहास को इस अध्याय में संक्षिप्त रूप से कह डानने की चेष्टा करेंगे।

इससे पहले हिन्दुस्तान में इस्लाम का जो प्रसार हो रहा था, वह  
१८५७ के गदर के बाद रुक गया। अब अंग्रेज हमारे शासक थे। ईसाई  
होने के कारण वह अपने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे।  
जहाँ-जहाँ सुविधा देखी, उन्होंने ईसाई सस्थाएँ (मिशन) खड़ी कर  
दी। पादरी विविध प्रकार के सेवा-कार्यों द्वारा लोगों को अपनी ओर  
आकर्षित करने में लगे रहे। वे स्कूल-अस्पताल आदि खोलकर लोगों को  
मुफ्त पढ़ाने तथा दवाई बाँटने लगे। भारत की सभी भाषाओं में 'इजील'  
का अनुवाद किया और छपी हुई सुन्दर बाइबिलें लोगों में मुफ्त बाँटी।  
अधिकतर अछूत ईसाई बनते गए। आध्र देश के अन्दर दो सौ वर्ष पूर्व

से ईसाई धर्म का प्रचार हो रहा था। उच्च जाति के जो लोग ईसाई बन जाते थे, वे स्वजाति और स्वधर्म को भुला नहीं पाते थे। गुट्टर में हजारों रेड्डी ईसाई हो गए, किन्तु ईसाई बनकर भी वे आज तक अपने मालें-मादिर्ग (बमार-पाभी) ईसाई भाइयों से रोटी-बेटी का नाता जोड़ नहीं सके हैं। मजा तो यह है कि हिन्दू रेड्डी भी अपनी लड़कियों का विवाह ईसाई के साथ कर डालते हैं, पर ईसाई रेड्डी अपनी लड़की की शादी किसी हिन्दू के घर नहीं करता।

ईसाई पादरी और मिशनरी ईसाई-धर्म-प्रचार से ही सन्तुष्ट न रहकर हिन्दुओं के जाल-पात के विभेदों, उनके अन्ध-विश्वासों और उनके अनाचारों और पाषण्ड की पोल खोलकर स्वयं हिन्दुओं के अन्दर अपने धर्म और जाति के प्रति अनादर तथा अश्रद्धा की भावना उत्पन्न करने लगे। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी-शिक्षित हिन्दुस्तानी अपने धर्म से दूर होने गए और वे अपनी जातीय परम्पराओं के लिए लज्जा का अनुभव करने लगे। ऐसे निविड-अन्धकार-निमग्न भारतीय गगन पर एक महापुरुष श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जगमगाते सूरज की तरह प्रत्यक्ष हुए। दयानन्द सरस्वती अंग्रेजी का एक अक्षर नहीं जानते थे। वे संस्कृत के प्रमाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने वेद-शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। आधुनिक युग के अपूर्व द्रष्टा थे। उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना करके हिन्दुओं में आत्म-गौरव तथा आत्म-विश्वास का बीज बोया। उन्होंने बताया कि हिन्दुओं में जो पाषण्ड फैला हुआ है, वह प्राचीन नहीं है। हमारी रुढ़ियों का वेदों में कोई सम्बन्ध नहीं। साथ ही उन्होंने इस्लाम तथा ईसाई धर्म की दुष्टियों को भी खोल-खोलकर बनाया। उनकी आध्यात्मिकता के सोपानों की मिट्टी किया। परिणामस्वरूप हिन्दुओं के अन्दर स्वाभिमान की भावना जाग उठी। वे मसजिद-मुपार में जुट गए।

परन्तु आर्य-समाज का प्रचार ग्रन्थ में, बल्कि मारे दक्षिण भारत में, नहीं के बराबर था। आर्य-समाज से पहले ही राजा राममोहन राय के ब्रह्म-सनातन की आम्बाले, कृष्ण-गोदावरी के ग्रन्थों में स्थापित हो

चुकी थी। ब्रह्म-समाज का प्रचार बढ़ा तो नहीं, किन्तु उसको भावनाएँ लोगों के दिलों में घर कर गई थी। आन्ध्र देश के अन्दर ब्रह्म-समाज को अपनाते वालों में श्री कन्दुकूर बीरेश्वरिणम् एक असाधारण व्यक्ति थे। प्रकाण्ड विद्वान् और महान् अनुभवी थे। 'बीराः पंडितकवयः' के न्यायानुसार उन्होंने हिन्दुओं के मूढ़ विश्वासों, पास्तण्डी रूढ़ियों तथा वेद-विरुद्ध मूर्ति-पूजा के ऊपर चोटों पर चोटें कीं। स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों को रोककर, विशेषकर विधवा-विवाह के विरुद्ध मोर्चा लेकर उन्होंने अनेक विधवाओं के पुनर्विवाह करा दिये। अनेक विधवाधर्म खुलवाये। उनके प्रचार से आन्ध्र के अन्दर अपूर्व जागृति उत्पन्न हुई। पुरातनवादियों के साधनों और दुष्प्रवहारों की परवाह न करके अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए वे अविराम प्रयास करते रहे।

हिन्दुओं के अन्दर पिछले एक हजार वर्ष से अर्थात् भारत में मुसलमानों के पदार्पण के बाद से, अनेक अनाचार फैल गए थे। बाल-विवाह का प्रचार, विधवा-विवाह का निषेध, सती-प्रथा, समुद्र-यात्रा पर रोक, जाति-वहिष्कार, भाग्य पर भरोसा, शुभागुण समुनों का विचार, अछूतों पर अत्याचार, दृष्टि-दोष (सूने की वस्तु पर अन्य जाति की छाँट पड़ने से छूत लग जाना), तान्त्रिक बामाचार इत्यादि संकटों प्रकार की श्रुतियाँ हिन्दू-समाज में जड़ें जमा चुकी थीं। इन्हीं श्रुतियों के कारण हमने परस्पर-वैमनस्य उत्पन्न हुआ, सम्भ्रता-संस्कृति की ध्वनति हुई तथा रचनात्मक शक्तियाँ कुण्ठित हो गईं। अन्त में राजनीतिक पतन भी हो गया। विद्वान् विचारकों ने सोचना शुरू किया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए सामाजिक सुधार ही असली साधन है। इससे देश-भर में समाज-सुधारक संस्थाओं की स्थापना होने लगी।

सामाजिक क्षेत्र में एक ओर यह सब तो हो ही रहा था, दूसरी ओर अर्थात् राजनीतिक क्षेत्र में, १८५१ में नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस का जन्म एक महत्वपूर्ण घटना है। जिस दिन कांग्रेस का जन्म हुआ, उसी दिन भारत के अन्दर आधुनिक राष्ट्रीयता का जन्म

हुआ। भगवान् ने भारत की अपनी कोई अनुमति-दाता तो नहीं बना लिया है। तरह-तरह के धर्म-मजहब, भाँति-भाँति की जाति-उपजातियाँ और भिन्न-भिन्न भाषाएँ यही तो पाई जाती हैं। वैदिक काल से लेकर भारत में ग्रसण्ड राष्ट्रीयता की भावना ने कभी भी ऐसा रूप नहीं लिया था। इसलिए कांग्रेस की स्थापना को वास्तव में भारतीय राष्ट्रीयता का शिला-पास समझा जाना चाहिए। जिस प्रकार यूरोप में, जर्मनी में महान् फ्रेडरिक द्वारा, इटली में गेरीवाल्डी मँजनी द्वारा, फ्रांस में १७८९ ई० की क्रान्ति से और संयुक्त अमरीका में सन् १७७६ से राष्ट्रीयता का उद्भव माना जाता है, उसी प्रकार भारत में कांग्रेस के जन्म से राष्ट्रीयता का उदय हुआ। प्रारम्भ में कांग्रेस समाज-सुधार के कार्यक्रम से घलग रही। घलवत्ता कांग्रेस-अधिवेशनो के साथ-साथ सामाजिक सम्मेलन भी घलग में हुआ करते थे।

ब्रिटिश शासन से भारत की आर्थिक हानि अत्यधिक हुई। हमारे उद्योग-धंधे मिट गए। नये उद्योगों को विदेशियों ने यहाँ उगने ही नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि जनता का सारा बोझ खेती पर जा पड़ा, देश में अकाल पड़े और उनके कारण पचास लाख आदमी मरे। १८६० से १८७९ तक १६ अकाल पड़े और एक करोड़ बीस लाख जनता का हनन हुआ। १८६८ में दादाभाई नौरोजी ने अपने अनुसंधानों से सिद्ध किया कि मद्रास प्रान्त में ताँगो की आय केवल १८ रुपये सालाना है। उत्तर अरकाट के कलक्टर ने लिखा था कि उस जिले में दरिद्रता का तात्पर्य-नृत्य हो रहा है। नेल्सूर के कलक्टर ने लिखा था : "जिले के डॉक्टर ने अपने विचार दिये हैं कि बहुत अपराधी जेल में रहकर अधिक स्वस्थ होते जा रहे हैं, क्योंकि उन्हें बाहर खाने को नहीं मिलता।"

धनात्र तथा खाद्य-पदार्थों की कीमतें बहुत कम थी। कृष्णानिवासी एक वकील पेर्से बोर्टन वीरप्प ने लगभग २७ साल पहले 'ग्राम्य-पत्रिका' में लिखा था :

"घात्र से ६० वर्ष पूर्व का एक ऐसा पत्र मेरे देखने में आया है,

जिसमें ममूतोपटम की बाजार-दर लिखी हुई है। सन् १८६० ई० में मद्रासबंदर में एक विवाह-समारोह के लिए सामग्री को खरोद के लिए जो चिट्ठा बना था, वह इस प्रकार है :

नाम वस्तु	दर	प्रमाण (तौल)
चावल	१-०-०	३२ सेर
अरहर	१-०-०	३१ सेर
मूँग	१-०-०	२२ सेर
उड़द	१-०-०	१६ सेर
मिचं	१-६-०	एक मन
घी	४-२-०	एक मन
रेडो का तेल	१-०-०	४ सेर
तेल	१-०-०	४ सेर
इमली	०-१३-६	एक मन
गुड़	०-११-६	एक मन
हल्दी	१-०-०	५ सेर
जीरा	१-०-०	६ सेर
मैथी	१-०-०	एक मन
नारियल	०-३-०	१० नारियल
लौकी	०-२-०	३ लौकी
लकड़ी	०-३-०	१५० कुन्दे
पत्तल	०-१-४	१००
पान	०-१-६	१०००
खोरा-ककड़ी	०-२-०	एक मन
बैंगन	०-२-०	एक मन
हींग	०-०-१०	एक तोला
पिबड़ा	१-०-०	१६ सेर
सूप	०-१-६	४ सेर

तादपात के दलिये ०—०—३

६

इस चिट्ठे से पता चलता है कि सन् १८६० ई० के लगभग धात्र जनता की आर्थिक स्थिति कैसी थी। सन् १८७६ तथा १८७२ ई० में मद्रास और बम्बई के प्रांतों में अर्थात् मारे दक्षिण-भारत में घोर अकाल पड़े। उसकी मार विघेयकर धात्र पर जबरदस्त पड़ी थी। आज भी ८०-६० साल के बूढ़े लोग उस 'धाता' सम्बत् के भीषण अकाल की बातें सुनाते हैं। कहते हैं कि उसी साल दिन में आकाश के तारे टूटें थे। अर्थात् धात्र में उस साल सर्वप्रथम सूर्यग्रहण लगा था। उसी साल गाल आधी चली थी। आकाश-भर में लाल गंदे भर गई थी। उस अकाल में धात्र के अन्दर लाखों नर-नारी विकराल काल के दास बन गए थे। कानून के अंतर्गत कोषनकुटुम्ब के निकट उच्चात्तबाड़ा नाम के स्थान पर बुद्धावेंकट रेड्डी नाम का एक व्यक्ति 'अपर कर्ग' होकर उतरा था। उसने अपना सर्वस्व लोगों की खिता-पिस्ता दिया और फिर कर्ज ले-लेकर नया चढ़े उगाह-उगाहकर अभूतपूर्व अन्न-दान किया और इन प्रकार हजारों अकाल-पीड़ितों की प्राण-रक्षा की। आजकल भी उसका नाम घमर है। उसके नाम के गीत आजकल भी लोग गाया करते हैं।

"बुद्धावेंकट रेड्डी—रहते उच्चात्तबाड़ा।"

इन प्रकार के गीत गाते हुए गरीब लोग धात्र भी घर-घर भीख मांगने फिरते हैं। ऐसे व्यक्ति और भी जरूर रहे होंगे। स्पानीय लोग यदि सहायता करें तो मस्मरण एकत्र बिसे जा गबने हैं। स्वयं अंग्रेज इतिहासकारों ने लिखा है कि इन अकाल में अकेले दक्षिण में पचान लाख से अधिक लोग मरे थे।

उन्नीसवीं सती के उत्तरार्द्ध में भारतीयों के रहन-सहन तथा मा-य-ताओं में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। मुसलमानों ने अब भी हिन्दुओं में भेदन-जोल नहीं किया। हिन्दू भी मुसलमानों से दूर-ही-दूर रहे, लेकिन अंग्रेजों में अपने नवीन विचारों में हिन्दुओं और मुसलमानों को काफी प्रभावित किया। परिवर्तन मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं में ही अधिक



हुए। चोटी उड़ गई, 'बाबरी' (अंग्रेजी ढंग पर कटी डुल्फ) रखी जाने लगी, बन्ददार चोगे और अंग्रे उठ गए तथा उनकी जगह कोट-कमीज ने ले ली। पुरानी पगड़ी गई, नई-नई टोपियाँ आईं। पहले समुद्र-पार जाने वालों को बिरादरी से बाहर कर दिया जाता था। अब प्रायश्चित्त करा-कर लौटा लिया जाने लगा। फिर सारी रोक-टोक खत्म हो गई। जात-पात के बंधन ढीले पड़ गए। बराबर का खान-पान चलने लगा। होटलों ने भी इनमें मदद की। रेलों ने भी सुझावों के बंधन को ढीला किया। जात-बिरादरी ने बाहर ब्याह भी होने लगे। विधवा-विवाह होने लगे। धीरे-धीरे बाल-विवाह बंद होने लगे। अंग्रेजी शिक्षित लोग अंग्रेजों की तरह मूढ़-बूढ़, कालर आदि धारण करने लगे। कुछ ने तो अंग्रेज महिलाओं से नादियाँ भी की। अधिकतर ने अंग्रेजों का रहन-सहन अपनाया।

अंग्रेज जाति जनता के दबाव के सामने झुकती है। समाज-नुषारकों की बात मानकर सरकार भी जब-जब बाल-विवाह की धापु में वृद्धि करती गई। पहले विवाह की अवस्था १० वर्ष निश्चित हुई। सन् १८६० ई० में उसे १२ वर्ष की अवस्था तक बढ़ा दिया गया। सन् १८५० ई० में डाकघर की व्यवस्था की गई। १९५३ में तारघर खुले। धीरे-धीरे ये दोनों खूब बढ़े। सन् १८८५ में लॉर्ड रिपन ने स्थानीय स्वायत्त-शासन के अधिकार दिये।

डाक-तारघर और रेलों के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाएँ भी बढ़ने लगीं। आध्र में अंगवारी की संख्या बहुत ही कम रही। उन्नीसवीं शती के बीच में वल्लारी से 'श्रीवधिणी' नामक साप्ताहिक निकलने लगा। तेलुगू भाषा का पहला पत्र यही है। महाराष्ट्र के गढ़ बम्बई से साप्ताहिक 'आध्र-पत्रिका' के चानू होने की बात सुनकर सभी को आश्चर्य हुआ। बाद में यह मद्रास पहुँचा। काजीनाथ नागेश्वरराव ने उसे दैनिक बना दिया। यह दैनिक पत्र अब तक बराबर आध्र-जनता की सेवा करता आ रहा है। सन् १९०२ में साप्ताहिक 'कृष्ण पत्रिका' का जन्म हुआ। वह भी बराबर

चालू है।

अंग्रेजों का प्रभाव ग्राम्भ-भाषा पर अत्यधिक पड़ा। यह एक विचित्र-सी बात है कि तेलुगु में गद्य-ज्ञान-विधान के अतिरिक्त और कोई नाटक नहीं थे। सन् १६०० के बाद तो तेलुगु कविता एकदम नीरस हो गई। 'अप्प कवीयम्' नियमों से भाषा बँध-सी गई थी। काव्य के अप्रत्याशित उलट-सीधे फूटने-पीसने के गीतों से मिन-जुलकर भी बीभत्स रूप ले चुके थे। केवल दाम्बादम्बर-मान रह गया था। एकाग्रनाथ के 'प्रताप-चरित्र', विजयनगर तथा सामन्तों की कैफियतों तथा तजोर के गद्य महाभारत आदि के अतिरिक्त गद्य-काव्य में और कुछ था ही नहीं। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त आधुनिक विद्वान् श्री कंदकूर बीरेसालिंगम्, कोमर-राजु लक्ष्मणराय, गाडी चरमा हरि सर्वोत्तमराव, कट्टामचिराम, लिंगे-रेड्डी, गिड्डुगुमूति आदि ने ग्राम्भ-साहित्य की धारा ही बदल दी। कट्टामचि की 'कवित्व तत्त्वविचार' ने तो मानो पुरातन साहित्य-दुर्ग पर बम-वर्षा-सी कर दी। उन्होंने सन् १९०० में 'बुद्धिया की मृत्यु' के शीर्षक से एक उन्चकोटि की त्यागमय कथानिका एकदम नवीन पद्धति पर लिखी। सचमुच नवीन भाव कवित्व के लिए 'बट्टमचि' को ही मार्ग-दर्शक मानना चाहिए। बीरेसालिंगम् की सबंतोमुखी प्रतिभा ने समाज के प्रत्येक भग पर अपना पूरा प्रभाव डाला। उन्होंने नाटक लिखे, उत्तम गद्य-काव्य लिखे, व्यंग लिखे, कवियों की जीवनियाँ लिखीं, धारम-कथा लिखी, व्याकरण तथा बालोपयोगी पाठ्य-पुस्तकें लिखी तथा अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य से उत्तमोत्तम विषयों का अनुसरण करते हुए मातृभाषा तेलुगु की सेवा की। कोमरराजु लक्ष्मणराय एक प्रसाधारण व्यक्ति थे। उनके घटल विद्वत्ता, कर्मठता, गद्य-तन्त्र-शक्ति, कार्य-शीली, विषय-ज्ञान, सरल बोधशैली आदि गुण कहीं और विरल ही दिखाई देते हैं। लक्ष्मणराय, गाडीचरमा हरिसर्वोत्तम राव, हैदराबाद-निवासी राविवेन्दु रंगाराव अर्थात् उत्तर सरकार रायल सीमा और तेलंगाणा के प्रतिनिधियों ने मिलकर १९०७ में हैदराबाद के अन्दर

‘विज्ञान चन्द्रिका ग्रन्थमाता’ की स्थापना की। इस ग्रन्थमाता का पहला प्रकाशन या गाडीचरलों-लिखित ‘अबाहम सिकन चरित्र’ कोमराजु ने उसकी भूमिका लिखी। कई विषयों में हम पिछड़े हुए थे, पर महाराष्ट्री और बंगाली काफ़ी आगे बढ़ चुके थे। इनका दिग्दर्शन उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ कराया। उन्होंने लिखा :

“भाषा की अभिवृद्धि के लिए गद्य-रचना नितान्त आवश्यक है। इस तथ्य को सबसे पहले चिन्तया मुरो ने पहचाना था। उन्हें ‘गद्य-नन्त्या’ कह सकते हैं। कंदुकूर थोरेशतिलगम् दूसरे नम्बर पर हैं। कंदुकूर ‘गद्यतिष्कना’ है। ‘पुष्पायं प्रदायिनी’, ‘आग्र भाषा संजीवनी’, ‘मदार-मंजरी’, ‘चिन्तामणि’, ‘श्री वंजयन्ती’ इत्यादि पहले के मासिक पत्रों तथा वर्तमान ‘सरस्वती’, ‘मंजुबाणी’, ‘मनोरमा’, ‘स्वर्ण लेखा’, ‘सावित्री’, ‘हिन्दू सुन्दरी’, ‘जनाना पत्रिका’, ‘आग्र प्रकाशिका’, ‘शशिलेखा’, ‘कृष्ण पत्रिका’, ‘आयं मत-बोधिनी’, ‘सत्यवादी’ आदि समाचार-पत्रों ने निश्चय ही एक प्रकार से उपयोगी साहित्य का मृजन किया है। किन्तु तेलुगु को एक सुसंस्कृत भाषा कहलाने योग्य बनाने के लिए अब तक जो कुछ किया गया है वह उस प्रयास का सहस्रांश भी नहीं है, जो हमें आगे करना है।” उन्होंने अपनी चिन्ता प्रकट की कि तेलुगु में जीवनिर्मा, उपन्यास, कहानियाँ, वैज्ञानिक साहित्य आदि कुछ भी नहीं है। उनकी यह भूमिका नितान्त मूल्यवान है। उन्होंने हमारी भाषा की जिन त्रुटियों की ओर संकेत किया है, उन्हें दूर करने के लिए इस ग्रन्थमाता ने सफल चेष्टा की। परन्तु दुर्भाग्यवश जू १९२२ में ही उनका देहान्त हो गया। उनके बाद यह ग्रन्थमाता दिन-पर-दिन कृन होती हुई, अन्त में सुप्त हो गई।

१९०० में तेलुगु में अंग्रेजी तथा संस्कृत-विद्वानों का अनुसरण करते हुए नाटक, उपन्यास, गद्य-काव्य, जीवनिर्मा, आलोचनाएँ, सप्ताहकाव्य आदि अर्च्छा-सूत्रा में प्रकाशित होने लगे।

१. नन्त्या, तिकन्ता तथा एरप्रगडा यह तीनों आग्र महाभारत के रचयिता तथा कविग्रय कहलाते हैं।

चातू है।

अंग्रेजों का प्रभाव ग्रान्थ-भाषा पर अत्यधिक पड़ा। यह एक विचित्र-सी बात है कि तेलुगु में यक्ष-गान-विधान के अतिरिक्त और कोई नाटक नहीं था। सन् १६०० के बाद तो तेलुगु कविता एकदम नीरस हो गई। 'अल्प कवीयम्' नियमों से भाषा बँध-सी गई थी। काव्य के अष्टादश वर्णन उलटे-सीधे कूटने-पीसने के गीतों से मिल-जुलकर भी बोधरूप ले चुके थे। केवल शब्दाडम्बर-मात्र रह गया था। एकप्रनाथ के 'प्रताप-चरित्र', विजयनगर तथा सामन्तों की कैफियतों तथा तजीर के गद्य महाभारत आदि के अतिरिक्त गद्य-काव्य में और कुछ था ही नहीं। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त आधुनिक विद्वान् श्री कदकूर वीरेशलिगम्, कोमर-राजु लक्ष्मणराव, गाडी चरला हरि सर्वोत्तमराव, कट्टामचिराम, तिर्ये-रेड्डी, गिड्डुगुमूर्ति आदि ने ग्रान्थ-साहित्य की पारा ही बदल दी। कट्टा-मचि की 'कवित्व तत्त्वविचार' ने तो मानो पुरातन साहित्य-दुर्ग पर बम-बर्पा-सी कर दी। उन्होंने सन् १९०० में 'बुद्धिमा की मृत्यु' के शीर्षक से एक उच्छकोटि की श्याममय कथानिका एकदम नवीन पद्धति पर लिखी। सचमुच नवीन भाव कवित्व के लिए 'कट्टामचि' को ही मार्ग-दर्शक मानना चाहिए। वीरेशलिगम् की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने समाज के प्रत्येक अंग पर अपना पूरा प्रभाव डाला। उन्होंने नाटक लिखे, उत्तम गद्य-काव्य लिखे, व्यंग लिखे, कवियों की जीवनि लिखी, ग्राम-कथा लिखी, व्याकरण तथा वातोपयोगी पाठ्य-पुस्तकें लिखी तथा अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य से उत्तमोत्तम विषयों का अनुसरण करते हुए मातृभाषा तेलुगु की सेवा की। कोमरराजु लक्ष्मणराजु एक प्रसाधारण व्यक्तित्व थे। उनके अटल विश्वास, कर्मठता, मर्मटन-शक्ति, कार्य-शीली, विषय-ज्ञान, सरल बोधशैली आदि गुण कहीं और विरले ही दिताई देते हैं। लक्ष्मणराव, गाडीचरला हरिसर्वोत्तम राव, हैदराबाद-निवासी राविवेदूर्त रंगाराव अर्थात् उत्तर सरकार रायल सीमा और तंतगाणा के प्रतिनिधियों ने मिलकर १९०७ में हैदराबाद के मन्दर

‘विद्वान् चन्द्रिका ग्रन्थनामा’ की स्थापना की। इस ग्रन्थनामा का पहला प्रकाशन या साक्षात्करण निम्नलिखित ‘अष्टाह्न निम्न चरित्र’। कोनराज ने उसकी भूमिका लिखी। कई विद्वानों ने हन निम्नलिखित दूर से, पर महाराष्ट्र और बंगालों काटो भागें बड़े बुके से। इनका दिग्दर्शन उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ किया। उन्होंने लिखा :

‘भाषा की अनिवार्यता के लिए दूर-रचना निम्नलिखित आवश्यक है। इस तथ्य को सबसे पहले चिन्तायुक्तों ने पहचाना था। उन्हें ‘दूर-नम्न’ कह सकते हैं। कंडुकर वीरेन्द्रनिम्न दुसरे नम्बर पर हैं। कंडुकर ‘गद्यतिरक्ता’ हैं।’ ‘पुस्तक प्रकाशनों’, ‘आन्ध्र भाषा संशोधनों’, ‘मराठ-मंत्रों’, ‘विन्तायलि’, ‘श्री वंशजन्तो’ इत्यादि पहले के साहित्यिक पत्रों तथा वर्तमान ‘सरस्वती’, ‘मंथुवाली’, ‘मनोरमा’, ‘स्वर्ण सखा’, ‘सावित्री’, ‘हिन्दू मुन्दरी’, ‘बनाना पत्रिका’, ‘आन्ध्र प्रकाशिका’, ‘अशितेखा’, ‘हृष्ट पत्रिका’, ‘आर्ष मन्त्र-शोधनों’, ‘सत्यवादी’ आदि समाचार-पत्रों ने निश्चय ही एक प्रकार से उपरोक्त साहित्य का मृदुन किया है। किन्तु तेनुगु को एक सुसंस्कृत भाषा कहलाने योग्य बनाने के लिए अब तक जो कुछ किया गया है वह उस प्रयास का सहस्रांश भी नहीं है, जो हमें आने करना है।’ उन्होंने अपनी विन्ता प्रकट की कि तेनुगु में शोधनिर्मा, उपन्यास, कहानियाँ, वैज्ञानिक साहित्य आदि कुछ भी नहीं है। उनकी यह भूमिका निम्नलिखित मूल्यवान है। उन्होंने हनारी भाषा की जिन दुष्टियों की ओर संकेत किया है, उन्हें दूर करने के लिए इस ग्रन्थनामा ने सफल चेष्टा की। परन्तु दुर्भाग्यवश जू १९२२ में ही उनका देहान्त हो गया। उनके बाद यह ग्रन्थनामा दिन-पर-दिन हज होती हुई, अन्त में सुष्ठ हो गई।

१९०० से तेनुगु में अनेकों तथा संस्कृत-विद्वानों का अनुसरण करते हुए नाटक, उपन्यास, मन्त्र-काव्य, जीवनिर्मा, आलोचनाएँ, सन्दर्भाद्य आदि अनेक नम्या में प्रकाशित होने लगे।

१. नम्नया, तिकन्ना तथा एराप्रमदा यह तीनों आन्ध्र महाभारत के रचयिता तथा कवियत्र कहलाते हैं।

लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य पैदा करने के लिए ही अंग्रेजों ने बग-भग का यह कुचक्र रचा था। उससे बंगाल में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुई। 'वन्दे मातरम्' राष्ट्रीय नारा बन गया। बंगालियों ने हिसारमक उपायों द्वारा अंग्रेजों के प्रति अपना रोष प्रकट किया। बंगाल से जो हवा चली वह समुद्र-तट से होती हुई आन्ध्र देश के उत्तर सरकारों तक पहुँच गई। इसी सिल-सिले में स्वदेशी का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उसी अवसर पर म्यून्नी-पटम में जातीय कलाशाला (राष्ट्रीय कालेज) की स्थापना हुई। आन्ध्र के लिए यह घटना विशेष महत्व रखती है। पादचार्यों की प्रत्येक बात को श्रेष्ठ धीरे अपनी प्राचीन परम्पराओं को निकृष्ट मानने वाले शिक्षित समाज की विचार-धारा में कुछ परिवर्तन हुआ। इस राष्ट्रीय मस्था ने यह सिद्ध किया कि अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा करते हुए काल-सरणी के अनुसार उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करने जाना ही अगुआ है। चित्र-कला की पुरानी प्रणाली बदल गई। रंग भी बदले, विचार भी बदले। तेलुगु प्रान्त के अन्दर नवीन चित्र-शैली को प्रोत्साहित करने का ध्येय इसी कलाशाला को प्राप्त है।

गोलकोंडा के मुलतानों में से अकेले इमार्हीम जुजुवसाह और उसके एक ओहदेदार अमीनखान के सिवा किसी मुसलिय शासक ने तेलुगु भाषा की कोई सेवा नहीं की। आसफ़जाही शासकों ने तेलुगु का आदर तो किया ही नहीं, उल्टे उनकी उन्नति में अनेक रिझ जाने। अंग्रेजों ने ऐसा नहीं किया। देश के भीतर गिरे पड़े ताड़-पत्र-ग्रन्थों को एकत्र करके मद्रास में हस्तलिखित ग्रन्थ पुस्तकों का एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित किया और इन प्रकार टिपटिपाकर बुझने-बुझने की हो रहे मूल्यवान् माहित्य की रक्षा की। अनेक अंग्रेजों ने हमारी भाषाएँ सीसी। उनमें ब्रोन प्रधान हैं। जुजुवसाही तथा आसफ़जाही के तमाम मुलतानों को तराजू के एक पलड़े में रखें और अकेले ब्रोन को दूसरे में बिठा दें तो ब्रोन का पलड़ा ही भारी रहेगा। उन्होंने ताड़-पत्र-ग्रन्थों को एकत्र किया,

वेमना के पद्यों को पसन्द करके उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा तेलुगु के दो शब्द-कोश तैयार किये । उनमें से एक व्यावहारिक शब्द-कोश है, जो आज भी बड़ा उपयोगी सिद्ध हो रहा है । मैकेजी नामक एक और अंग्रेज ने पुराने शासकों के रिकार्डों को इकट्ठा किया । कार्डवेल ने 'द्वित्रिंश भाषा शास्त्र' के नाम से दक्षिणी भाषाओं का व्याकरण लिखा । सामूहिक दृष्टि से देखने पर तेलुगु भाषा पर अंग्रेजी का पूरा प्रभाव पड़ा । तेलुगु का धीमूर्खी विकास होने लगा । अंग्रेजों ने भाषा के साथ प्राचीन शिल्पों की भी रक्षा की है । जबकि मुसलमानों ने उनका ध्वंस किया था, अंग्रेजों ने उनका उद्धार किया । हम्पी के खड्गहरो की, अमरावती के स्तूपों की, प्राचीन मन्दिरों तथा किलों की मरम्मत करवाई । कहीं कुछ निगान मिलने पर खुदाई करके शिल्पावस्था में पड़े हुए शिल्पाशों को बाहर निकाला और इस प्रकार हमारे पूर्वजों की कला-सम्पत्ति की रक्षा की । अंग्रेजी इलाके में जब यह सब हो रहा था, तब निजाम के हैदराबाद में भी ऐसे काम आगे बढ़ने लगे थे । बरंगल के खड्गहरो, रामप्पमन्दिर, पिक्कलमरी, पानगल आदि शिल्पावस्थाओं की रक्षा होने लगी ।

१८५७ के बाद उत्तर सरकारों में ही अधिक उन्नति हुई । रायल-सीमा उनसे बहुत पीछे था । किन्तु हैदराबाद का तेलंगाणा रायलसीमा में भी गया-गुजरा था । हैदराबाद का शासन ही तेलंगाणा की अवन्ति का कारण था ।

ग्राम्भ्र जाति के नौ सौ वर्षों के इतिहास का यहाँ सक्षिप्त रूप ही बनाया गया है । लिखने योग्य बातें और भी बहुत सारी हैं । योग्य विद्वानों की दृष्टि से सामाजिक इतिहास का हमारा यह अभाव दूर हो जायगा ।

परिपूर्ण-पूत-पुण्यानु-भंगि-उद्वेग गीतमो<sup>१</sup> के गङ्गाभीर रामन वाली,  
आलमपुर के नन्दनाराम-विभ्राजि कलाधिराज मलगोबा<sup>२</sup> के  
सुस्वादु रस-घन वाली

१. गीतमो = गोदावरी नदी ।

२. मलगोबा = स्थादित्त ग्राम ।

लाहं कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। हिन्दू-मुसलमानों में वैयनस्य पैदा करने के लिए ही अंग्रेजों ने बंग-भग का यह कुचक्र रचा था। उसमें बंगाल में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुई। 'बन्दे मातरम्' राष्ट्रीय नारा बन गया। बंगालियों ने हिंसात्मक उपायों द्वारा अंग्रेजों के प्रति अपना रोष प्रकट किया। बंगाल से जो हवा चली वह समुद्र-तट से होती हुई ग्रान्थ देश के उत्तर सरकारों तक पहुँच गई। इसी सिल-सिले में स्वदेशी का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उसी अवसर पर भूमूली-पटम में आर्याय कलाशाला (राष्ट्रीय कालेज) की स्थापना हुई। ग्रान्थ के लिए यह घटना विशेष महत्त्व रखती है। पाश्चात्यों की प्रत्येक बात को श्रेष्ठ और अपनी प्राचीन परम्पराओं को निकृष्ट मानने वाले शिक्षित समाज की विचार-धारा में कुछ परिवर्तन हुआ। इस राष्ट्रीय मस्था ने यह सिद्ध किया कि अपनी प्राचीन सस्कृति की रक्षा करते हुए काल-सरणी के अनुसार उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करते जाना ही अच्छा है। चित्र-रत्ना की पुरानी प्रणाली बदल गई। रत्न भी बदले, विचार भी बदले। तेलुगु ग्रान्थ के अन्दर नवीन चित्र-शैली को प्रोत्साहित करने का श्रेय इसी कलाशाला को प्राप्त है।

गोलकोडा के मुलतानों में से अकेले इशाहीम कुनुवसाह और उसके एक ओहदेदार अमीनखान के सिवा किसी मुखलिम शासक ने तेलुगु भाषा की कोई सेवा नहीं की। आमऊजाही शासकों ने तेलुगु का आदर तो किया ही नहीं, उल्टे उसकी उन्नति में अनेक शिथिल गतें। अंग्रेजों ने ऐसा नहीं किया। देश के भीतर विगरे पड़े ताड़-पत्र-ग्रन्थों को एकत्र करके मद्रास में हस्तलिखित ग्रन्थ पुष्पको का एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित किया और इन प्रकार टिमटिमाकर बुझने-बुझने की हो रहे मूल्यवान् ग्रन्थों की रक्षा की। अनेक अंग्रेजों ने हमारी भाषाएँ सीखी। उनमें ब्रोन प्रधान हैं। कुनुवसाही तथा आमऊजाही के तमाम मुलतानों को तराजू के एक पत्र में रखें और अकेले शीत को दूमरे में बिठा लें तो शीत का पनड़ा हो भारी रहेगा। उन्होंने ताड़-पत्र-ग्रन्थों को एकत्र किया,



वेनना के पदों को पसन्द करके उनका अप्रैवी ने अनुवाद किया तथा तेनुगु के दो शब्द-कोश तैयार किए। उनमें से एक व्यावहारिक शब्द-कोश है, जो आज भी बड़ा उपयोगी सिद्ध हो रहा है। मंकेवी नामक एक और अप्रैवी ने पुराने शास्त्रों के रिवाजों को इकट्ठा किया। कास्टवेल ने 'शिवि नाया शास्त्र' के नाम से दक्षिणी भाषाओं का व्याकरण लिखा। सांख्यिक दृष्टि से देखने पर तेनुगु भाषा पर अप्रैवी का पूरा प्रभाव पड़ा। तेनुगु का चौनुखा बिकान होने लगा। अप्रैवी ने भाषा के साथ प्राचीन शिल्पों की भी रक्षा की है। जबकि मुननमानों ने उनका ध्वंस किया था, अप्रैवी ने उनका उद्धार किया। हन्नों के नडहरों की, अनरावती के म्नों की, प्राचीन मन्दिरों तथा किलों की नरम्मत करवाई। कहीं कुछ निगान निगने पर मुदाई करके गिरिजावस्था में पड़े हुए शिल्पाणों को बाहर निकाला और दस प्रकार हजारों पूर्वजों की कला-सम्पत्ति की रक्षा की। अप्रैवी इनके ने जब यह सब हो रहा था, तब निज्मान के हैदराबाद में भी ऐसे काम आगे बढ़ने लगे थे। बरगन के नडहरों, रामप्पमन्दिर, निक्कननरी, पानगन आदि शिल्पावगणों की रक्षा होने लगी।

१८५७ के बाद उत्तर सरकारों में ही अधिक उन्नति हुई। रायल-सीमा उनसे बहुत पीछे था। किन्तु हैदराबाद का तेलगारा रायलसीमा में भी गया-गुजरा था। हैदराबाद का सामन ही तेनगारे की भवति का कारण था।

ग्राम्य ज्ञानि के भी ती वषों के इतिहास का यहाँ सुक्षिप्त रूप ही बनाया गया है। निम्नमे योग्य बातें और भी बहुत सारी हैं। योग्य विद्वानों की दृष्टि से सामाजिक इतिहास का हमारा यह अभाव दूर हो जायगा।

परिपूर्ण-भूत-पुष्पावु-भंगि-उद्देग गीतमी<sup>१</sup> के मन्नीर ममन वात्तो,  
आलमपुर के नन्दनाराम-विभ्राजि कलाधिराज मलगोवा<sup>२</sup> के

मुस्वाडु रस-धन वात्तो

१. गीतमी = गोदावरी नदी।

२. मलगोवा = स्यादिए ग्राम।

भाग्यी-कुमारिका-सभायुक्त परिपूत तुल्लभद्रा पयस्विनी के मधु-  
 तुल्य पयस् वाली,  
 खंडसार-जाति-खर्जूर-द्राक्ष-गोक्षीर आदि के रसरंजन मधुरस  
 वाली,  
 बल्लकी-मुधानिष्यदि-ह्लाद, रागिनी-दिव्य सम्मोह-राग वाली  
 माता  
 मधु के मनहरण प्रवाह-तुल्य वाग्धार हमारी तेलुगु ओशाली  
 माता !

